भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में

देवगढ़ की जैनकला :
एक सांस्कृतिक अध्ययन

लेखक :

डॉ. भागचन्द्र जैन

एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यशास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

प्राध्यापक तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह, म. प्र.

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक ३७६
सम्पादक एवं नियोजक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश

Lokodaya Series : Title No. 376
DEVGARH KI JAINKALA :
EK SANSKRITIK ADHYAYAN
(*Thesis*)
DR. BHAGCHADRA JAIN
First Edition 1974
Price : 35/00

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७ कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१
प्रथम संस्करण : १९७४
मूल्य : ३५/००
मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२,२१,००५

भूमिका

सन् १९५४ ई. में मैं प्रथम बार देवगढ़ गया था और तभी लगा था कि यहाँ की जैनकला और स्थापत्य भी इतना विपुल, विविध और कलात्मक है कि इसका अध्ययन भारतीय कला और सांस्कृतिक इतिहास के लिए अनिवार्य है। सन् १९५८ में सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागीय अध्ययन दल (एजुकेशनल टूर) में अपने गुरुजनों के साथ पुनः देवगढ़ गया तो मेरी यह धारणा और अधिक पुष्ट हुई। तब इसके अध्ययन की बात चली। इस दिशा में आंशिक प्रयत्न तो हुए किन्तु विशेषतः जैनकला और स्थापत्य अछूता ही रहा। इसी लिए सागर विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी के निर्देशन में यह 'देवगढ़ की जैनकला का सांस्कृतिक अध्ययन' सन् १९६२ में आरम्भ किया।

यातायात के साधनों से रहित, डाकुओं से आतंकित और वन्य पशुओं से आक्रान्त देवगढ़ तथा समीपवर्ती अन्य कला-केन्द्रों के सर्वेक्षण और अध्ययन के लिए बार-बार वहाँ जाने और महीनों रहने आदि में जो अनुभूतियाँ हुईं उनसे कई बार तो लगा कि यह अध्ययन बीच में ही बन्द करना पड़ेगा। एक-दो बार तो ऐसे संकट की स्थिति से गुज़रना पड़ा कि आज उसकी कल्पना करके भी रोम खड़े हो जाते हैं।

तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन के लिए मैंने दूधई, चाँदपुर, जहाजपुर, सेरोन, अहार, पपौरा, क्षेत्रपाल—ललितपुर, बजरंगगढ़ (गुना), बड़गाँव, बिलहरी, बहुरीबन्द, तिगवाँ, रूपनाथ, भेड़ाघाट, सारनाथ, खजुराहो, साँची, उदयगिरि, बेसनगर, विदिशा, आदि प्राचीन कला-केन्द्रों तथा दिल्ली, लखनऊ, वाराणसी, सारनाथ, मथुरा, विदिशा, साँची, देवगढ़, सागर, रामवन एवं खजुराहो के पुरातत्त्व संग्रहालयों का भी अवलोकन-अनुशीलन किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मैंने देवगढ़ में उपलब्ध सम्पूर्ण जैन सामग्री का भारतीय कला, स्थापत्य और संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है तथा पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों एवं अनुश्रुतियों के सन्दर्भ में समीक्षात्मक पद्धति से परीक्षण भी किया है।

विषय-वस्तु के अनुसार प्रबन्ध को नौ अध्यायों एवं पाँच परिशिष्टों में विभक्त किया गया है। विषय-सूची इस प्रकार बनायी गयी है जिससे समूची सामग्री का बोध हो जाये।

देवगढ़ की जैनकला का यह अध्ययन भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व, स्थापत्य, शिल्पकला एवं सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में एक सर्वथा अछूता प्रयत्न तो है ही, इससे कला, स्थापत्य और संस्कृति विषयक अनेक नवीन मान्यताओं पर नया प्रकाश भी पड़ता है। जैनधर्म में देवपूजा का मूलतः अभाव, मूर्तिपूजा की पूर्णरूपेण प्रतीकात्मकता, मन्दिर की कल्पना में मेरु का आदर्श, भट्टारक संस्था का उद्भव और विकास, भट्टारकों की भौतिक-वादोन्मुख अध्यात्मवादी रीति-नीति, पद्मावती की अशास्त्रीय मूर्तियों की पहचान आदि कतिपय ऐसे तथ्य हैं जिनपर इस प्रबन्ध में कदाचित् सर्वप्रथम मौलिक मान्यताएँ प्रस्तुत की गयी हैं। अपने इस अध्ययन में मैंने पूर्व विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विवरणों और मान्यताओं को तथ्यों के आधार पर जाँचा-परखा है और कहीं-कहीं उन्हें त्रुटिपूर्ण भी पाया है। पुरातात्त्विक, साहित्यिक तथा अनुश्रुतियों के आधार पर कतिपय नवीन स्थापनाएँ की हैं।

देवगढ़ वास्तव में भारत का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र है। यह सिद्धक्षेत्र न होकर भी सम्मेद शिखर, ऊर्जयन्त (गिरनार) और शत्रुंजय (पालीताना)-जैसे उत्कृष्ट मन्दिर-नगरों की कोटि में आता है। यहाँ लगभग सोलह सौ वर्ष से

कला और संस्कृति का विकास होता रहा है। प्रस्तुत प्रबन्ध इस महत्त्वपूर्ण कला-केन्द्र के सर्वांगीण अध्ययन का एक विनम्र प्रयत्न है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निर्देशन के लिए सागर विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष और टैगोर प्रोफ़ेसर श्रद्धेय पं. कृष्णदत्त वाजपेयी का हृदय से आभारी हूँ, जिनके सुयोग्य मार्गदर्शन, सतत प्रेरणा और सुलभ-सहायता के अभाव में इस शोधकार्य का पूर्ण होना सम्भव नहीं था। उन्होंने और उनके परिवार ने भी जिस आत्मीयता के साथ मेरे शोधकार्य में अमूल्य सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए मैं उनका अनुग्रह और आभार मानता हूँ। यह मेरा परम सौभाग्य है कि उन-जैसे ख्यातिप्राप्त पुराविद् और इतिहासज्ञ के निर्देशन में मुझे शोधकार्य का अवसर प्राप्त हुआ।

सम्मान्य भाई पं. गोपीलाल अमर एवं डॉ. गोकुलचन्द्र जैन से मुझे निरन्तर बहुमूल्य सहयोग और सुझाव प्राप्त हुए हैं, जिसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

देवगढ़-जैसे समृद्ध और महत्त्वपूर्ण कला-केन्द्र का सर्वांगीण अध्ययन सामान्य रूप से किसी एक व्यक्ति के वश का कार्य नहीं था, वह तो अनेक विद्वानों, महानुभावों और तीर्थसेवियों के सहयोग से ही सम्भव हुआ है। इस सन्दर्भ में सर्वश्री स्व. परमानन्द बरया, स्व. डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, स्व. डॉ. कामताप्रसाद जैन, डॉ. एच. डी. सांकलिया, डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, श्री मधुसूदन ढाकी, डॉ. रामजी उपाध्याय, प्रो. श्रीधर मिश्र, डॉ. वीरेन्द्रकुमार जैन, प्रो. जयकुमार जलज, पं. परमानन्द शास्त्री, पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, श्री नीरज जैन, प्रो. एच. सी. पाराशर, मा. राजधर जैन, प्रो. ब्रह्मदत्त तिवारी, प्रो. प्रेमचन्द्र जैन, श्रीमती सरोज सांधेलीय, श्रीविशनचन्द्र ओवरसियर, मास्टर हरिश्चन्द्र जैन आदि सज्जनों का सहयोग भी स्मरणीय है। लेखक इन सभी का आभारी है।

देवगढ़ मैनेजिंग दिगम्बर जैन कमेटी के तत्कालीन मन्त्री श्री शिखरचन्द्र सिंघई ने अनेक प्रकार की सुविधाएँ और सूचनाएँ प्रदान कीं तथा विदिशा के फ़ोटोग्राफ़र श्री हरिश्चन्द्र जैन ने मेरी आवश्यकतानुसार अनेक बार देवगढ़ पहुँचकर चित्र तैयार किये। सागर विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग के आर्टिस्ट और फ़ोटोग्राफ़रों का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

इटारसी महाविद्यालय के मेरे प्रिय छात्र श्री सदनलाल यादव का पाण्डुलिपि तैयार करने में सहयोग और टंकित प्रतियों के संशोधन में श्री सन्मतकुमार जैन (शोधछात्र, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) आदि का सहयोग भी सधन्यवाद स्वीकार करता हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री संकलित करने में मैंने सागर विश्वविद्यालय, गणेश जैन महाविद्यालय सागर, गौराबाई जैन मन्दिर सागर, पार्श्वनाथ जैन मन्दिर इटारसी, जैन मन्दिर रीठी, महात्मा गान्धी स्मारक महाविद्यालय, इटारसी, शासकीय महाविद्यालय सीहोर, नेशनल लायब्रेरी कलकत्ता तथा इण्डिया ऑफ़िस लायब्रेरी लन्दन आदि के पुस्तकालयों का प्रत्यक्ष-परोक्ष उपयोग किया है। अतः उक्त सभी पुस्तकालयों के अध्यक्षों के प्रति विनम्र भाव व्यक्त करता हूँ।

महात्मा गान्धी स्मारक महाविद्यालय इटारसी के भूतपूर्व प्राचार्यों—सर्वश्री शिवविहारी त्रिवेदी एवं डॉ. रामखिलावन तिवारी ने इस कठिन कार्य में मुझे जो सहयोग और बहुविध सुविधाएँ प्रदान की हैं, उनका विस्मरण करना कृतघ्नता होगी। इसी सन्दर्भ में शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सीहोर के प्राचार्य डॉ. के. एल. श्रीवास्तव (तत्कालीन अधिष्ठाता, कला संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय) की सहज आत्मीयता भी उल्लेखनीय है।

जून १९६९ ई. में सागर (म. प्र.) में आयोजित 'स्नातक-शिविर' में शोध-प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण के लिए एक विशेष दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने में बड़ा बल मिला।

सागर विश्वविद्यालय द्वारा १९७० ई. में पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत इस प्रबन्ध के प्रकाशनार्थ भेजे जा चुकने के बाद देवगढ़ की जिन-प्रतिमाओं पर जरमन विद्वान् डॉ. क्लॉज ब्रून की एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसकी उपयोगिता अपनी है। इससे प्रस्तुत प्रबन्ध की तुलना नहीं की जा सकती, तथापि उसे सूक्ष्मता से देखा गया और जहाँ कहीं कोई विशेष तथ्य हमारे मत से भिन्न किन्तु उल्लेखनीय लगा, उसका यथोचित समावेश इस प्रबन्ध में कर लिया गया है। यह संकेत अप्रासंगिक न होगा कि डॉ. ब्रून ने देवगढ़ की जिन-प्रतिमाओं, सभी नहीं, का अध्ययन एक ऐसी शैली

में किया है जो बहुत प्रचलित नहीं है, साथ ही अनेक स्थानों पर उनके निष्कर्ष यथाशास्त्र और निर्विवाद भी नहीं बन सके हैं। पर इन सबका सन्दर्भ हमने अपने प्रबन्ध में न देना ही ठीक समझा। इतना अवश्य है कि इस प्रबन्ध के लिखे जाते समय तक डॉ. ब्रून के जो लेख देवगढ़ आदि पर प्रकाशित हुए उनका यथास्थान सन्दर्भ दिया गया है।

भारतीय ज्ञानपीठ-जैसी प्रतिष्ठित संस्था से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। इस संस्था के संस्थापक मान्य साहु शान्तिप्रसाद जैन और अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन की दृष्टि इस ओर गयी और उन्होंने इसका प्रकाशन स्वीकार किया। वास्तव में साहु-दम्पती ने अन्य क्षेत्रों की भाँति पुरातत्त्व के क्षेत्र में भी स्थायी महत्त्व के कार्य किये हैं। अनेक स्थानों पर संग्रहालयों का निर्माण, प्राचीन मन्दिरों का विधिवत् जीर्णोद्धार और उनके लिए सम्पर्क-मार्ग आदि का निर्माण आदि जैसे कार्यों के अतिरिक्त, इस उपेक्षित विषय पर शोध-कार्य को प्रोत्साहन और उसके प्रकाशन में इस दम्पती का सक्रिय सहयोग ऐसा है जिसका उल्लेख भारतीय संस्कृति के इतिहास में अवश्य होगा। भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन की तत्परता और प्रेरणा से ही यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित हो रहा है। इस सबके लिए मान्य साहु-दम्पति और श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन के प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

यदि विद्वानों की दृष्टि में इस प्रबन्ध की सामग्री भारतीय कला, स्थापत्य और सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में उपयोगी और महत्त्वपूर्ण समझी गयी तो अपने प्रयत्नों को सार्थक समझूँगा।

महावीर जयन्ती
२४ अप्रैल १९७५

—भागचन्द्र जैन

संक्षिप्तियाँ

अध्यात्म प.	: अध्यात्म पदावली	जै. शि. सं. प्र.	: जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग (माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थ-माला)
अने.	: अनेकान्त	जै. शि. सं. द्वि.	: जैन शिलालेख संग्रह द्वितीय भाग (माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला)
आ.	: आकृति	जै. शि. सं. तृ.	: जैन शिलालेख संग्रह तृतीय भाग (माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला)
आ., आरा	: आरा से प्रकाशित प्रशस्ति संग्रह	जै. शि. सं. च.	: जैन शिलालेख संग्रह चतुर्थ भाग, माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
ए. एस. आइ.	: आर्केओलौजिकल सर्वे ऑव इण्डिया	जै. न्या.	: जैन न्याय
ए. एस. आइ. आर.	: आर्केओलौजिकल सर्वे ऑव इण्डिया रिपोर्ट	जै. सा. इ.	: जैन साहित्य और इतिहास
एपी. इं.	: एपीग्राफ़िया इण्डिका	जै. सा. इ. वि. प्र.	: जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश
ए. पी. आर.	: एनुअल प्रोग्रेसर रिपोर्ट	टि. सं.	: टिप्पणी संख्या
एड. हि. इं.	: एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया	त. सू.	: तत्त्वार्थसूत्र
ए. हिस्ट्री. ऑव. फा. ऑव. इ. सी.	: ए हिस्ट्री ऑव फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन	तृ.	: तृतीय
कि.	: किरण	दे.	: देखिए
क्र.	: क्रमांक	प.	: पद्य
गाइड टु लखनऊ म्युजियम	: ए शॉर्ट गाइड बुक टु दी आर्केओलौजिकल सेक्शन ऑव दी प्राविंसियल म्युजियम लखनऊ	पा. टि.	: पाद टिप्पणी
जे. ए. एस. बी.	: जर्नल ऑव एसिआटिक सोसाइटी ऑव बंगाल	पृ.	: पृष्ठ
जै. दा. सा. सिं.	: जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन	प्र., प्रका.	: प्रकाशक
जै. द्वि.	: जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, द्वितीय भाग (वीर सेवा मन्दिर)	प्रक.	: प्रकरण
जै. प्र.	: जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, (वीर सेवा मन्दिर)	प्र. भा. इ.	: प्राचीन भारत का इतिहास
जै. ध.	: जैनधर्म	प्र. प्रस्ता.	: प्रस्तावना
		परि.	: परिशिष्ट
		प्रा. सा. इ.	: प्राकृत साहित्य का इतिहास

फ.	: फलक
बी.	: बीकानेर जैन लेख संग्रह (अगरचन्द्र भंवरलाल नाहटा)
बृ. जै. शब्दा.	: बृहत् जैन शब्दार्णव
भ.	: भट्टारक सम्प्रदाय (विद्याधर जोहरापुरकर)
भू.	: भूमिका
भा. द.	: भारतीय दर्शन
भा. बृ. इ.	: भारत का बृहत् इतिहास
भा. सं. जै. यो.	: भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान
मं.	: मन्दिर
म. पु.	: महापुराण
मा. ए. इ.	: मानुमेण्टल ऐण्टीक्यूटीज ऐण्ड इन्सक्रिप्सन्स इन दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेस ऐण्ड अवध
व.	: वर्ष
रा.	: राजस्थान के जैनशास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची, चतुर्थ भाग
रा. जै. सं.	: राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
ले.	: लेखक
श्लो.	: श्लोक
शो.	: शोधांक (जैन-सन्देश)
शा.	: शास्त्री
षट्खं.	: षट्खंडागम
स. सा.	: समयसार
स.	: सर्ग
सम्पा.	: सम्पादक
सं. सा. इ.	: संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
सं.	: संख्या
हि.	: हिस्ट्री ऑव जैन मोनाकिज्म फ्रॉम इंस्क्रिप्सन्स एण्ड लिटरेचर (एस. बी. देव)
हि. क.	: हिस्ट्री ऑव कन्नौज

●

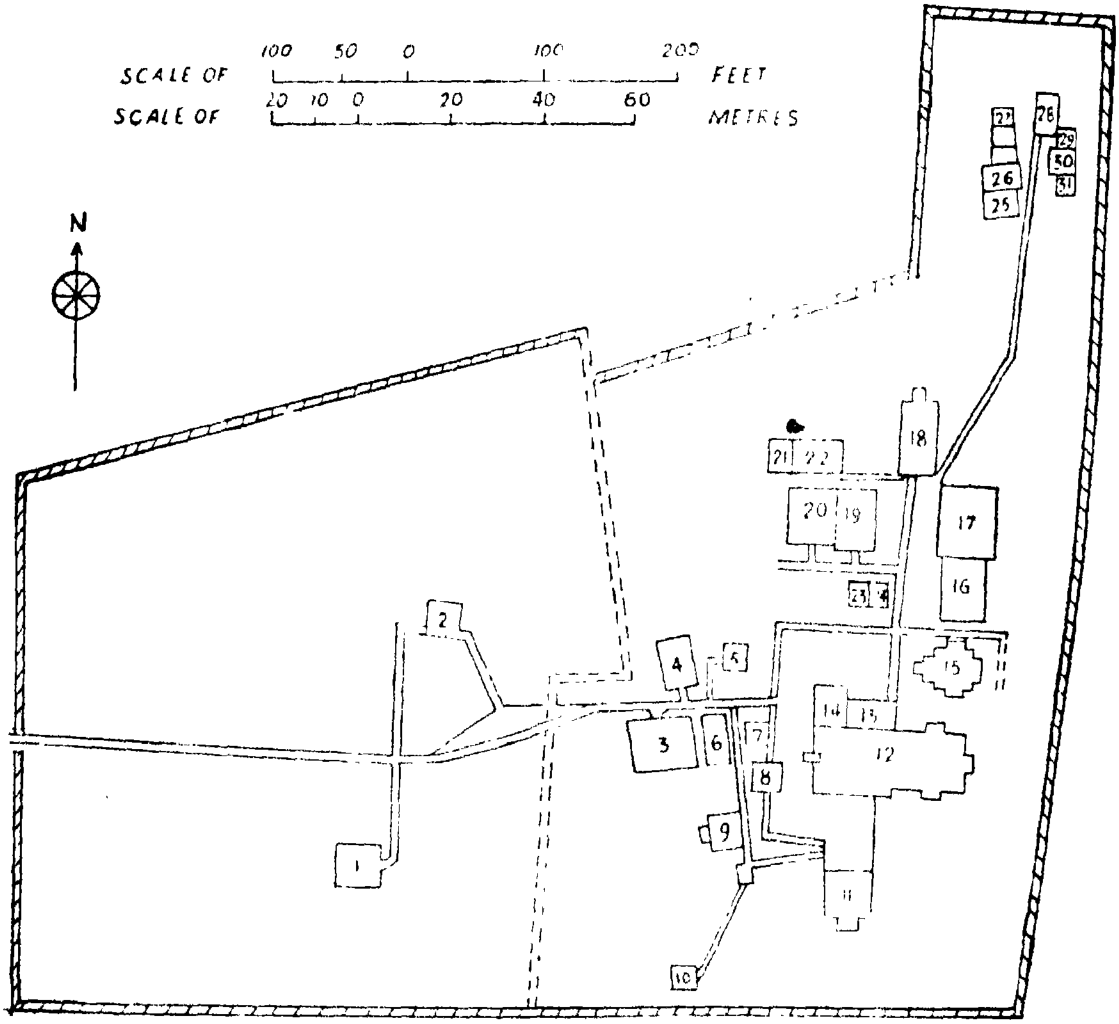
विषयानुक्रमणी

देवगढ़ की जैनकला :
एक सांस्कृतिक अध्ययन

देवगढ़-दुर्ग के दिगम्बर जैन मन्दिर

विन्यास रूपरेखा

जैन मन्दिर प्राचोर



पृष्ठभूमि

विषय प्रवेश

(अ) कला का सांस्कृतिक महत्त्व

भारत अध्यात्म-प्रधान देश है। यहाँ का दर्शन, भाषा, साहित्य, ललित कलाएँ, लोक-जीवन सभी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हैं। भारत में सभ्यता के आदिकाल से धार्मिक भावनाएँ किसी न किसी रूप में विद्यमान रही हैं। धार्मिक भावनाओं को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर केवल पूजा का स्थान और मूर्तियाँ केवल पूजनीय वस्तु ही नहीं हैं, ये ऐतिहासिक अन्वेषण में सहयोगी भी हैं। कदाचित् इसी कारण मन्दिरों और मूर्तियों को 'संस्कृति के अवशेष' के रूप में स्वीकार किया जाता है।

परम्परा और इतिवृत्त इस तथ्य के प्रबल पोषक हैं कि जैन-धर्म भारत के विविध भागों में बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित रहा है, अनेक कला-केन्द्र आज भी इसके प्रमाण हैं। ऐसे स्थानों पर प्राचीन संस्कृति और कला के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। उत्तर प्रदेश के ललितपुर ज़िले में स्थित देवगढ़ एक ऐसा ही कला-केन्द्र है।

(ब) देवगढ़ : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

देवगढ़ की प्रसिद्धि महत्त्वपूर्ण राजनीतिक केन्द्र के रूप में न रही हो, परन्तु उसका इतिहास प्राचीन है। वहाँ प्रागितिहास काल के कुछ औज़ार मिले हैं।[1] वर्तमान गिरि-दुर्ग के दक्षिण में, राजघाटी[2] में एक आदिम-युगीन गुफा[3] है, जिसमें कुछ चित्र हैं।[4] इन चित्रों को तत्कालीन मानव ने अवकाश के क्षणों में बनाया होगा। मौर्यकाल में भी वहाँ कुछ निर्माण कार्य हुआ प्रतीत होता है जो गुप्तकाल में आगे बढ़ा और देवगढ़ तभी से मूर्ति-निर्माण का केन्द्र बन गया।[5] यहाँ इस काल के[6] और इसके बाद के[7] भी कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उत्तर गुप्तकाल में भी यहाँ यह क्रम चलता रहा।

---

१. देखिए—इण्डियन आर्केऑलॉजी ; ए रिव्यू, १९५९-६० ई., पृ. ४६ और आगे। २. गिरिदुर्ग से, दक्षिण में एक लम्बे सोपान-मार्ग द्वारा बेतवा के जल तक पहुँचते समय 'राजघाटी' मिलती है। इस घाटी में पहाड़ी के किनारे पर की शिलाओं पर अनेक गुफाएँ व देवकुलिकाएँ हैं। ३. एक विशालाकार शिला में काटकर बनायी गयी इस प्राचीन गुफा का अन्तर्भाग ५ फु.-१० इं. लम्बा और ३ फु.-३ इं. चौड़ा है। विस्तृत विवरण के लिए देखिए आगे टिप्पणी संख्या ४। ४. गुफा के अन्तर्भाग में सिन्दूरी और काले रंग से कुछ चित्र बने हुए हैं। बायें ओर एक चलते हुए हाथी पर अंकुशधारी महावत चित्रित है। उसके ऊपर एक ३ इं.×५ इं. का चतुर्भुज लहरियादार रेखाओं के साथ चित्रित है, जिसके मध्य में दो रेखाकृतियाँ और हैं। उसके दायों ओर ३ इं.×२॥ इं. का एक टेढ़ा-मेढ़ा चतुर्भुज है, जिसके बीच की रेखाएँ समझ में नहीं आतीं। उसके भी बाजू में किसी पक्षी, कदाचित मुर्ग का रेखाचित्र है। उससे लगा हुआ एक ६ इं.×३ इं. का लहरियादार रेखाओं से बना चतुर्भुज भी है। सामने की दीवाल पर कुछ अस्पष्ट चित्र हैं, जिनके ऊपर गहरे सिन्दूरी रंग में १ फु.×१ फु. ४ इं. की एक वक्र चतुष्कोण रेखाकृति है। लगभग ऐसी ही तीन रेखाकृतियाँ दायीं दीवाल पर भी हैं। ५. देवगढ़ में इस काल के अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। ६. (अ) नाहरघाटी में उत्कीर्ण अभिलेख, दे.—ए. कनिंघम : ए. एस. आइ., जिल्द १०, पृ. १०२। (ब) मं. सं. १२ के महामण्डप के एक अठपहलू स्तम्भ पर गुप्तकालीन लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख, दे.-सर जॉन मार्शल : ए. एस. आइ., ए. आर., १९१४-१५ ई.; खंड एक, पृ. २७। (स) डॉ. डी. बी. स्पूनर : ए. एस. आइ., ए. आर. १९१७-१८ ई. खण्ड एक, (कलकत्ता, १९२० ई.), पृ. १२। ७. दशावतार मन्दिर के अहाते में प्राप्त ६ फु.-९ इं. ऊँचे तथा १ फु.-८॥ इं. चतुष्कोण स्तम्भ (संख्या एक) पर उत्कीर्ण अभिलेख। (क) वाई. आर. गुप्ते : ए. प्रो. रि., हि. बु. मा., मा. स. (लाहौर, १९१५ ई.), पृ. ५। (ख) दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., हि. बु. मा., मा. स., (लाहौर, १९१८ ई.), पृ. १२। (ग) पं. माधवस्वरूप वत्स ; मेम्वायर ऑफ दी ए. एस. आइ., (संख्या ७०), (दिल्ली, १९५२ ई.) पृ. ३ तथा ४८।

चन्देल-युग में इसका राजनीतिक महत्त्व बढ़ा और कदाचित् उसी समय यहाँ गिरि-दुर्ग का निर्माण हुआ। तब से मुग़लकाल के पूर्व तक यहाँ राजनीतिक हलचल तो रही ही, मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण भी निरन्तर होता रहा। १३वीं शती में यह स्थान मुसलमानों के अधिकार में आ गया। इस काल में यहाँ का राजनीतिक महत्त्व कम हो गया, किन्तु धार्मिक महत्त्व पूर्ववत् बना रहा। सन् १८११ ई. में यह स्थान महाराजा सिन्धिया के अधिकार में आ गया था, परन्तु कुछ समय बाद उन्होंने इसे चन्देरी के बदले में अँगरेज़-सरकार को दे दिया।

देवगढ़ के धर्म—सहिष्णु वातावरण में ब्राह्मण तथा जैन संस्कृतियाँ साथ-साथ पल्लवित-पुष्पित होती रहीं। मन्दिरों की भित्तियों, द्वारों आदि पर उत्कीर्ण मूर्तियों, अभिलेखों आदि से युग-युगीन संस्कृति की अच्छी झाँकी मिलती है। खजुराहो, कोणार्क और भुवनेश्वर आदि की भाँति यहाँ का वातावरण वासना-प्रधान कभी नहीं रहा। तीर्थंकरों तथा अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियों की अधिकता उसके धर्म-प्रधान होने के ज्वलन्त प्रमाण हैं। शिकार आदि के दृश्यों या उल्लेखों के अभाव से यहाँ के अहिंसामय वातावरण का अनुमान होता है।

संक्षेप में, देवगढ़ राजनीतिक की अपेक्षा धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व के लिए अधिक उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से उसे साँची और भरहुत आदि की कोटि में रखा जाये तो उचित ही होगा।

(स) देवगढ़ की कला के अध्ययन के प्रयत्न

यह विचित्र लगता है कि इस महत्त्वपूर्ण कलाकेन्द्र का उल्लेख साहित्य में नगण्य रहा और अन्य स्रोत भी इस विषय में मौन हैं। देवगढ़ में उपलब्ध अभिलेख ही इसके विषय में कुछ प्रकाश डालते हैं। फिर भी विद्वानों का ध्यान इधर इसकी कला और संस्कृति के अध्ययन की ओर गया। देवगढ़ के अध्ययन के लिए विभिन्न स्तरों पर जो प्रयत्न हुए, उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) शासकीय प्रयत्न

१. अलेक्जेण्डर कनिंघम—देवगढ़ के पुरातात्त्विक महत्त्व पर सर्वप्रथम श्री अलेक्जेन्डर कनिंघम का ध्यान गया। उन्होंने भारत सरकार की ओर से १८७४-७५ और १८७६-७७ ई. में यहाँ का सर्वेक्षण किया। इसकी रिपोर्ट में[1] उन्होंने दशावतार, शान्तिनाथ तथा कुछ अन्य मन्दिरों का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कराया। डाकुओं, जंगली जानवरों, जंगल की सघनता के बावजूद उन्होंने यहाँ का जो प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया, वह आज भी उपयोगी है।

२. डॉ. ए. फ़ुहरर—उनके पश्चात् डॉ. ए. फ़ुहरर ने १८९१ में यहाँ का विवरण[2] प्रकाशित कराया। इन्होंने श्री कनिंघम के कार्य को आगे बढ़ाया।

३. श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी—१८९९ ई. में श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी ने अपनी एक पुस्तक[3] में देवगढ़ के स्मारकों का अच्छा परिचय दिया।

४-५. इम्पीरियल तथा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर—सन् १९०८ में 'इम्पीरियल गजेटियर[4] ऑफ़ इण्डिया' और १९०९ ई. में 'झाँसी डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' प्रकाशित हुए, जिनमें देवगढ़ का संक्षिप्त विवरण है।

६. सर जॉन मार्शल—भारत के पुरातात्त्विक सर्वेक्षण की १९१४–१५ की वार्षिक रिपोर्ट के प्रथम भाग में सर जॉन मार्शल ने इसका कुछ पंक्तियों में उल्लेख किया[5]। सन् १९१५ की 'वार्षिक प्रगति की रिपोर्ट' में यहाँ के सात शिलालेखों का विवरण प्रकाशित हुआ।[6]

७. श्री एच हरग्रीव्ज़—१९१६ ई. की 'वार्षिक प्रगति की रिपोर्ट' में भी श्री एच. हरग्रीव्ज़ ने १३ शिलालेखोंका सटिप्पण विवरण प्रकाशित किया।[7]

---

१. दे.—ए. एस. आइ. आर., टूर्स इन बुन्देलखण्ड एण्ड मालवा इन १८७४-७५ खण्ड १८७६-७७ ई., जिल्द १०, (कलकत्ता, १८८० ई.), पृ. १००-११०। २. दे.—ए. एस. आइ. आर., दी मानुमेन्टल एण्टिक्विटीज़ एण्ड इन्सक्रिप्शन्स इन दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज़ एण्ड अवध, (इलाहाबाद, १८९१ ई.), पृ. ११९-१२१। ३. रिपोर्ट आन दी एण्टिक्विटीज़ इन दी डिस्ट्रिक्ट ऑफ ललितपुर, जिल्द पहली। ४. दे.—जिल्द ग्यारहवीं, पृ. २४१। ५. कलकत्ता से १९१९ ई. में प्रकाशित, दे.—पृ. २७। ६. दे.—परिशिष्ट 'इ' पृ. ८-९। ७. दे.—पृ. ५ तथा परिशिष्ट 'ए'।

८. भारतीय पुरातत्त्व विभाग तथा रायबहादुर दयाराम साहनी—इसके पश्चात् एक नवम्बर, १९१७ ई. को भारत सरकार के पुरातत्त्व-विभाग ने इस क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया[1] और रायबहादुर दयाराम साहनी को वहाँ सर्वेक्षण के लिए भेजा। दिनांक २२।११।१९१७ ई. से १७। १२। १९१७ ई. तक उन्होंने सर्वेक्षण करके स्मारकों, मूर्तियों और सैकड़ों अभिलेखों का महत्त्वपूर्ण विवरण तैयार किया।[2] इन्होंने यहाँ के स्मारकों के जीर्णोद्धार के लिए प्रान्तीय और केन्द्रीय शासनों से कुछ राशि स्वीकृत करायी, परन्तु जंगल की सफ़ाई और स्मारकों के प्रारम्भिक जीर्णोद्धार के अतिरिक्त अधिक कुछ न हो सका, क्योंकि जैसा कि सर जॉन मार्शल ने लिखा है "इस ज़िले में अकाल पड़ जाने से कार्य को उस समय तक के लिए स्थगित कर देना पड़ा, जबतक कोई अनुकूल स्थिति न आये।"[3]

९. डॉ. बी. स्पूनर—इस बीच श्री डी. बी. स्पूनर ने भी १९१७-१८ की वार्षिक रिपोर्ट के प्रथम भाग में इसकी चर्चा की।[4]

(२) सामाजिक प्रयत्न

१. श्री विश्वम्भरदास गार्गीय—१९२२ ई. में ललितपुर के एक प्रधानाध्यापक श्री विश्वम्भरदास गार्गीय ने श्री साहनी की उक्त रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया[5]।

२. ब्र. शीतलप्रसाद—१९२३ ई. में ब्र. शीतलप्रसाद ने अपनी पुस्तक 'संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक'[6] में भी देवगढ़ का विवरण दिया।

३. श्री परमानन्द बरया—ललितपुर के एक तत्कालीन कर्मठ युवक स्व. श्री परमानन्द बरया ने देवगढ़ के जीर्णोद्धार आदि में गहरी दिलचस्पी लेना प्रारम्भ किया। उन्होंने शासन और समाज के सहयोग से इस क्षेत्र की दीर्घ काल तक जो सेवा की, वह तबतक नहीं भुलायी जा सकती जबतक देवगढ़ का अस्तित्व है।

४. भा. दि. जैन तीर्थ रक्षा समिति—श्री बरया के सतत प्रयत्न के फलस्वरूप सन् १९१८ ई. में श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ रक्षा समिति ने इस क्षेत्र का प्रबन्ध अपने निर्देशन में ले लिया।

५. श्री देवगढ़ मैनेजिंग दि. जैन कमेटी—सन् १९३० में जाखलौन, ललितपुर आदि के जैनों ने एक समिति गठित[7] करके इस क्षेत्र का प्रबन्ध उक्त समिति से अपने हाथ में लिया। इस संस्था ने जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह था भारत सरकार के पुरातत्त्व-विभाग से दि. ४।३।१९३५ को जैन[8] स्मारकों के तथा वन विभाग से दि. ११।६। १९३८ को जैन स्मारकों के आसपास की भूमि[9] की प्राप्ति।

६-७. श्री नाथूराम सिंघई, पं. जुगलकिशोर मुख्तार—सन् १९२९ में श्री नाथूराम सिंघई ने एक लेख[10] इस क्षेत्र के सम्बन्ध में लिखा, जिसपर श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्वपूर्ण सम्पादकीय टिप्पणी भी थी।[11]

---

१. शासन ने अपने नोटिफ़िकेशन क. १५८-एम.-३६७-४७-१११ दिनांक १० सितम्बर, १९१७ द्वारा देवगढ़ क़िले के जैन मन्दिरों को सन् १९०४ के 'एंश्येन्ट मानुमेण्ट्स प्रिजर्वेशन ऐक्ट सात' के अनुसार संरक्षित घोषित किया और नोटिफ़िकेशन क. ११६२—एम.-३६७-४७-१११, दिनांक १ नवम्बर, १९१७ द्वारा अपने उक्त आदेश की सम्पुष्टि की। देखिए—दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., १९२० (लाहौर, १९२१ ई.), परिशिष्ट 'फ' पृ. १४। २. वे.—ए. प्रो. रि., हि. बु. मा., ना. स., द्वितीय खण्ड, १९१८, (लाहौर, १९१८), पृ. ५-१०। ३. सर जॉन मार्शल : आर्केओलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट १९१९-२० (कलकत्ता, १९२२ ई.), पृ. ६। ४. डॉ. डी. बी. स्पूनर : आ. स. इ., ए. रि. १९१७-१८ प्रथम भाग (कलकत्ता, १९२२), पृ. ७ और ३२। ५. यह विवरण 'देवगढ़ के जैन मन्दिर' शीर्षक से २८ पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। ६. प्रकाशक—हीरालाल जैन, एम. ए., जैन होस्टल इलाहाबाद, १९२३ ई., देवगढ़ के विवरण के लिए दे.—पृ. ४६-५३। ७. इस समिति का नाम 'श्री देवगढ़ मैनेजिंग दिगम्बर जैन कमेटी' रखा गया और इसका पंजीयन, धारा २१, सन् १८६० के अन्तर्गत रजिस्ट्रार, ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनीज़, लखनऊ (उ. प्र.) द्वारा पंजीयन क्रमांक २६ द्वारा किया गया। ८. श्री देवगढ़ मैने. दि. जैन कमेटी के पास इकरारनामे की जो नक़ल है, उसपर पत्र संख्या आदि नहीं अंकित है, किन्तु दिनांक ४ मार्च १९३५ अंकित है। ९. देखिए—वन विभाग, नोटिफिकेशन क्र० मिसले, ७०१।१४-३१५ दिनांक २१ जून १९३८ इस नोटिफ़िकेशन के आधार पर दि. ४ अगस्त १९३८ को श्री देवगढ़ मैने. दि. जैन कमेटी को जैन मन्दिरों की सीमा हेतु लगभग ८.२० एकड़ भूमि वन विभाग द्वारा सौंपी गयी। १०. 'देवगढ़', अनेकान्त, वर्ष १, किरण २, (१९८६ वैक्रमाब्द), पृ. ९८-१००। ११. वही १०१-१०३।

८. पं. के. भुजबली शास्त्री—सन् १९४१ में पं. के. भुजबली शास्त्री ने इस क्षेत्र की अपनी यात्रा का सचित्र विवरण प्रकाशित कराया।[१]

३. आधुनिक-शोध-कार्य

भारत सरकार की ओर से पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी श्री माधव स्वरूप वत्स ने यहाँ कई माह रहकर 'दशावतार-मन्दिर' का शोधपूर्ण और सचित्र विवरण लिखा[२] जो १९५२ ई. में प्रकाशित हुआ। १९५८ ई. में श्रीमती माधुरी देसाई ने भी उक्त मन्दिर के सम्बन्ध में एक सचित्र पुस्तिका लिखी।[३] सर्व श्री डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन,[४] डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह,[५] डॉ. कामता प्रसाद जैन,[६] डॉ. हीरालाल जैन,[७] डॉ. क्लाज ब्रून[८] और पं. परमानन्द जैन शास्त्री[९] आदि ने विभिन्न ग्रन्थों और लेखों में देवगढ़ पर टिप्पणियाँ दीं। १९६२ ई. में प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी का एक शोधपूर्ण सचित्र निबन्ध प्रकाशित हुआ[१०] जिससे देवगढ़ की कला और संस्कृति को समझने में सहायता मिलती है। उनकी दो पुस्तकों 'युग-युगों में उत्तर प्रदेश' तथा 'उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास'[११] में भी देवगढ़ का विवरण है, इनके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी उन्होंने देवगढ़ पर उल्लेखनीय टिप्पणियाँ की हैं।[१२] देवगढ़ के सम्बन्ध में अबतक का अन्तिम प्रकाशन यहाँ की प्रबन्ध समिति द्वारा प्रकाशित एक सचित्र पुस्तिका है। इसके अतिरिक्त, ब्र. प्रेमसागर की 'देवगढ़ पूजन'[१३] श्री कल्याणकुमार 'शशि' का 'देवगढ़ काव्य'[१४] और श्री हरिप्रसाद 'हरि' की 'देवगढ़'[१५] नामक काव्यमय पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

इस प्रबन्ध में 'देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन' किया गया है। इसमें मध्य काल तक की कला का विशेष रूप से और उसके बाद की कला का सामान्य रूप से प्रतिपादन किया है। स्मारकों और उनकी स्थापत्यगत विशेषताओं, मूर्तियों और अभिलेखों का विवरण देने के पश्चात् उनके आधार पर देवगढ़ की जैन संस्कृति, समाज और धर्म पर प्रकाश डाला गया है।

स्थिति

देवगढ़ उत्तर प्रदेश में नवनिर्मित ललितपुर जिले की ललितपुर तहसील में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सीमा पर बेतवा के किनारे, २४° ३२ उत्तरी अक्षांश और ७८° १५ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई मार्ग के ललितपुर स्टेशन से यह दक्षिण-पश्चिम में ३३ किलोमीटर की एक पक्की सड़क से जुड़ा है। उसी रेलवे

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, किरण २, भाग ८, (आरा, १९४१), पृ. ६७ और आगे। २. मेम्वायर ऑफ़ दी आ. स. इ., संख्या ७०, (देहली, १९५२ ई.) ३. दी गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़, प्रका. भूलाभाई मेमोरियल इंस्टीट्यूट, बम्बई। ४. (अ) जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २२, किरण एक, (जून, १९५५ ई.), पृ. १२-२२ 'देवगढ़ और उसका कला वैभव।' (ब) वीर (अधिवेशन विशेषांक), वर्ष ३१, अंक १७-१८, (मई १९५६), पृ. ४१-४७ 'प्राचीन भारत का वैभव देवगढ़।' (स) भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, (काशी, १९६१ ई.), पृ. १४६-४७, १६०-६१, १७४-७५ देवगढ़ सम्बन्धी विवरण। ५. स्टडीज इन जैन आर्ट, (बनारस, १९५५ ई.), पृ. १५, २०, २१, २९, ६१, ९५ तथा ११४ पर देवगढ़ सम्बन्धी उल्लेख एवं चित्र फलक १५ आ. ३९, फ. १६ आ. ४३, फ. १७ आ. ४६, फ. १७ आ. ४७, और फ. २२ आ. ५६। ६. जैन तीर्थ और उनकी यात्रा, प्रका., मन्त्री, भा. दि. जैन परिषद् पब्लिशिंग हाउस, देहली, १९६२ ई. देवगढ़ का परिचय, पृ. १४५-५४। ७. (अ) प्रस्तावना : संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक, (इलाहाबाद, १९२३ ई.) (ब) भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, प्रका.-म. प्र. शासन साहित्य परिषद्, (भोपाल, १९६२ ई.) पृ. ३२७-२८, ३४७-४८, ३५३, ३५५, ३५७-५८ तथा ३६१ एवं चित्र पृ. ३९१-९३ और ३९६। ८. (क) देवगढ़ के जैन मन्दिर : वीर (अधिवेशन विशेषांक), (मई, १९५६ ई.), पृ० ५७-६१। (ख) लेक्चर रेड एट द मेला एट देवगढ़ (१९५६)। (ग) मध्यप्रदेश के जैन तीर्थ : देवगढ़, जैनयुग, मई १९५९ ई०। ९. (अ) मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ (ब्यावर, १९६५ ई.) में 'मध्य भारत का जैन पुरातत्त्व' (पृ० ६९८-७१२) शीर्षक निबन्ध में देवगढ़ का परिचय, पृ० ७०२-७०५। (ब) अनेकान्त, वर्ष १९ कि० १-२, (अप्रैल-जून, १९६६), पृ० ५८-६२ पर देवगढ़ का विवरण। १०. देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ; अनेकान्त, वर्ष १५ कि० १, (अप्रैल, १९६२ ई.) पृ. २७ और ३०। ११. यह पुस्तक सन् १९५४ ई. में इलाहाबाद से प्रकाशित हुई है। १२. शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं. प्रा. लि., आगरा से सन् १९५९ ई. में प्रकाशित। १८. (अ) 'उत्तर प्रदेश की ऐतिहासिक विभूति'—उ. प्र. शासन के शिक्षा विभाग द्वारा लखनऊ से १९५७ ई. में प्रकाशित हुआ है। (ब) उत्तर प्रदेश में पुरातत्त्वीय अनुसन्धान : शिक्षा, (अक्टूबर १९५५ ई.) में प्रकाशित। १३. प्रका. सिंघई नाथूराम जैन, व्यवस्थापक—श्री देवगढ़ जीर्णोद्धार कमेटी, ललितपुर, वीर संवत् २४५४। १४. प्रका०—उपर्युक्त, सन् १९३९। १५. प्रका.—दरबारी लाल जैन, ललितपुर, सन् १९५४ ई.।

के जाखलौन स्टेशन से इसकी दूरी १३ किलोमीटर है।

प्राचीन देवगढ़ विन्ध्याचल की पश्चिम श्रेणी पर गिरि-दुर्ग के मध्य स्थित था। आज वह उसकी पश्चिमी उपत्यका में बसा है। यहाँ की जनसंख्या लगभग ३०० है। एक आधुनिक दिगम्बर जैन मन्दिर, विशाल जैन धर्मशाला, साहू जैन संग्रहालय और शासकीय वन-विश्राम-गृह भी यहाँ है। ग्राम के उत्तर में प्रसिद्ध दशावतार मन्दिर तथा शासकीय संग्रहालय और पूर्व में पहाड़ी पर उसके दक्षिण-पश्चिमी कोने पर 'जैन स्मारक' हैं। इस पहाड़ी की अधित्यका को घेरे हुए एक विशाल प्राचीर है, जिसके पश्चिम में 'कुंजद्वार' और पूर्व में 'हाथी-दरवाज़ा' है। इसके मध्य एक और प्राचीर है, जिसे 'दूसरा कोट' कहते हैं, इसी के मध्य वर्तमान 'जैन स्मारक' है। 'दूसरे कोट' के मध्य में भी एक छोटा-सा प्राचीर था, जिसके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। इस प्राचीर के भी मध्य एक प्राचीरनुमा दीवार, दोनों ओर खण्डित मूर्तियाँ जड़कर बनायी गयी है। विशाल प्राचीर के दक्षिण-पश्चिम में 'वराह-मन्दिर' और दक्षिण में बेतवा के किनारे नाहर-घाटी और राजघाटी हैं।

नाम

देवगढ़ में, इतिहास के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण साधन लगभग ४०० अभिलेख हैं। इनमें से अधिकांश में तिथियाँ अंकित हैं। इनमें शिल्प-साधना, प्रशस्तियाँ और स्मारकों के निर्माण की सूचनाएँ तो हैं ही, उनसे नागरी लिपि के क्रमिक विकास का ज्ञान भी होता है।[1] इनसे देवगढ़ के विभिन्न नामों की सूचना भी मिलती है।

१. लुअच्छगिरि

इस स्थान का प्राचीन नाम 'लुअच्छगिरि' था। इस नाम का उल्लेख विक्रम संवत् ९१९ (८६२ ई.) के गुर्जर-प्रतिहार भोजदेव के शासनकालीन शिलालेख में है।[2] उस समय यह स्थान उसके शासन में था।[3] स्पष्ट है कि १०वीं शती ईसवी तक इस स्थान की प्रसिद्धि 'लुअच्छगिरि' नाम से थी।

२. कीर्तिगिरि

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में चन्देल शासक कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज ने इस स्थान पर एक नवीन दुर्ग का निर्माण कराया तथा शत्रुकुल का दलन करनेवाले अपने यशस्वी और प्रतापी स्वामी[4] के नाम पर इस स्थान का नाम 'कीर्तिगिरि' रखा।[5] इसीसे इस स्थान का नाम 'कीर्तिगिरि' प्रचलित हुआ।

---

१. दयाराम साहनी : एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ दी सुप्रिण्टेण्डेण्ट हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स नार्दर्न सर्किल, १९१८, भाग २ (लाहौर, १९१८ ई.), पृ. १०। २. दे.—मन्दिर संख्या १२ के महा-मण्डप के सामने अवस्थित अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्व के स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख—...महाराजधिराज परमेश्वर श्री भोज देव मही प्रवर्द्धमान-कल्याण विजय या राज्ये तत् प्रदत्त पञ्चमहाशब्दमहासामन्तश्री ,विष्णु राम पचिन्दराज्य मध्ये लुअच्छगिरि श्री शान्त्यायत (न) (स) निधे कमलदेवाचार्य शिष्येण श्री देवेन कारापितं इदं स्तम्भम्। सम्वत् ९१९ अस्वयुज शुक्ल पक्ष चतुर्दश्याम् वृहस्पति दिनेन उत्तराभाद्र पदा नक्षत्रे, इदं स्तम्भ समाप्तमिति व......अ गोगो केन शुक—भ्रातेन इदं स्तम्भ जटितमिति। शक कालाब्द सप्त सत्यानि चतुरासीत्याधिकानि ७८४। ३. (अ) दे.—दी एज ऑफ़ इम्पीरियल कन्नौज, (भारतीय विद्या भवन, जिल्द ४), (बम्बई, १९६४ ई.), पृ. ८३। (ब) डॉ. आर. एस. त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज, (दिल्ली, १९५९ ई.), पृ. २३८। ४. कीर्तिवर्मा की प्रतापी वृत्ति का विवरण उसके समकालीन कवि श्रीकृष्ण मिश्र ने निम्न प्रकार दिया है—

"नीताः क्षयं क्षितिभुजो नृपते र्विपक्षा, रक्षावती क्षितिरभूत्प्रथितै रमात्यैः।
साम्राज्यमस्य विहितं क्षितिपालमौलि-मालार्चितं भुवि पयोनिधि-मेखलायाम्॥"

दे.—श्रीकृष्णमिश्र : प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, (वाराणसी, १९५५), पृ. ६।

५. दे.-देवगढ़ दुर्ग के दक्षिण-पश्चिम में राजघाटी के किनारे कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज द्वारा संवत् ११५४ (ईसवी १०९७) में काव्यमय संस्कृत की ८ पंक्तियों में उत्कीर्ण अभिलेख—

१. ॐ। नमः शिवाय। चान्देल्लवंशकुमुदेन्दु विशालकीर्तिख्यातो बभूव नृपसंघनताङ्घ्रिपद्मः।

३. देवगढ़

अतः यह कहा जा सकता है कि इस स्थान का नाम 'देवगढ़' बारहवीं शताब्दी के अन्त या तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में किसी समय रखा गया ।

श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी ने 'देवगढ़' नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि "इस स्थान पर सन् ८५० से ९६९ तक देववंश का शासन रहा, और इसी वंश के नाम पर यह स्थान 'देवगढ़' कहलाया[१] ।"

किन्तु श्री मुखर्जी का उपर्युक्त मत इतिहास-सम्मत नहीं है । यह सर्वविदित तथ्य है कि श्री मुखर्जी द्वारा निर्दिष्ट समय (८५०-९६९ ई.) में देवगढ़ गुर्जर-प्रतिहारवंशी राजाओं के अधीन था ।[२] इसी वंश के शासक श्री भोज के समय के एक अभिलेख में इस स्थान का उल्लेख 'लुअच्छगिरि' नाम से हुआ है ।[३]

सम्भावनाएँ

सम्भावना की जाती है कि गुप्तवंशीय शासकों के उपरान्त और गुर्जर-प्रतिहार शासकों के पूर्व जिस वंश का शासन और अधिकार इस नगर पर रहा हो तथा जिसने पर्वत पर देवायतन बनवाये हों, उसका अपना वंश 'देववंश' हो । इस शासक ने अपने वंश की प्रसिद्धि हेतु इस स्थान को 'देवगढ़' नाम से प्रसिद्ध किया हो ।

दूसरी सम्भावना यह भी है कि विक्रम-संवत् ९१८ (८६२ ई.) के अभिलेख[४] में उस स्तम्भ के प्रतिष्ठापक आचार्य कमलदेव के शिष्य श्रीदेव हैं । कदाचित् वह देव-वंश के होंगे । उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था और उन्होंने इस स्थान पर भट्टारक-गद्दी की स्थापना की थी । अतः यह सम्भावना स्वाभाविक है कि आचार्य श्रीदेव के स्वयं के नाम के कारण अथवा उनके संघ के नाम के कारण उनके भक्तों और अनुयायियों ने इस स्थान को 'देवगढ़' नाम से प्रसिद्ध किया हो ।[५]

---

२. विद्याधरो नरपतिः कमला निवासो, जातस्ततो बिजयपालनृपो नृपेन्द्रः ॥ (१) तस्माद्द धर्मपरश्रीमा···

३. न् कीर्तिवर्म्म नृपोऽभवत् । यस्य कीर्तिसुधाशुभ्रे त्रैलोक्यं सौधतामगात् ॥ (२) अगदं नूतनं विष्णुमाविर्भूतमवाप्य-

४. ···यम् । (नृपाब्धितस्समाकृष्टा श्रोरस्थैर्यममार्जयत् (३) राजोडुमध्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य नूनं युधिष्ठिरयदा शिव राम च...

५. न्द्रः । एते प्रसन्नगुणरत्ननिधौ निविष्टा, यस्तद्गुणप्रकररत्नमये शरीरे ॥ (४) तदीयामात्य-मन्त्रीन्द्रो रमणीपूर्वविनिर्ग···

६. ता॰। वत्सराजेति विख्यातः श्रीमान् महीधरात्मजः ॥ (५) ख्यातो बभूव किल मन्त्रिपदैकमन्त्रे वाचस्पतिस्त···

७. दिह मन्त्रगुणैरुभास्याम् ॥ यो यं समस्तमपि मण्डलमाशु शत्रोराच्छिद्य कीर्तिगिरि-दुर्गमिदं व्यधत्त । (६)

८. श्रीवत्सराज घाट्टोऽयं नूनं तेनात्र कारितः । ब्रह्माण्डमुज्ज्वलं कीर्ति—मारोहयितु-मात्मनः । संवत् ११५४ चैत्रवदि २ बुधौ ।

१. रिपोर्ट आन दी एन्टिक्विटीज इन दी डिस्ट्रिक्ट ऑफ़ ललितपुर, भाग एक, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन 'वीर' विशेषांक (१९५६), पृ. ४२ से उद्धृत । २. दी एज ऑफ़ इम्पीरियल कन्नौज, (भारतीय विद्या भवन, जिल्द ४), (बम्बई, १९६४ ई.), पृ. ८३ । ३. दे.—मन्दिर संख्या १२ के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख, तथा पृ. ३५३,३५४-५५ पर विस्तृत विवेचन । ४. दे.—मन्दिर संख्या १२ के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख । परि. दो, अभि. क्र. एक । ५. ऋषियों के नामों पर नगरों के नामकरण की प्रथा प्राचीनकाल से अबतक प्रचलित है; प्राचीनकाल में ऋषि जाबालि के नाम पर जाबालिपुर (जबलपुर) और आधुनिक काल में आचार्य शान्ति सागर एवं आचार्य वीर सागर के संयुक्त नाम पर शान्तिवीर नगर, श्रीमहावीरजी, राजस्थान ।

'देव' शब्द देवता का वाची है।[1] 'गढ़' का अर्थ दुर्ग होता है[2]। यहाँ दुर्ग के अन्दर देवमूर्तियों की प्रचुरता होने के कारण कदाचित् इस स्थान का नाम 'देवगढ़' पड़ा हो।

किंवदन्तियाँ

'देवगढ़' नामकरण के सम्बन्ध में इस प्रान्त में प्रचलित किंवदन्तियाँ भी विचारणीय हैं। एक बहुप्रचलित किंवदन्ती निम्न प्रकार है—

प्राचीन काल में इस नगर में देवपत और खेवपत नाम के दो भाई निवास करते थे। सौभाग्य से उन्हें 'पारस-पत्थर' उपलब्ध था। इसके कारण वे अत्यन्त वैभव-सम्पन्न हो गये थे। अपनी अपार धन-राशि का उपयोग इन दोनों ने यहाँ भव्य जैन-देवालय बनवाने, नगर एवं दुर्ग के सौन्दर्य बढ़ाने में किया। तत्कालीन राजा इन भाइयों से उक्त पारस-पत्थर प्राप्त करना चाहता था, किन्तु देवपत ने उसके हाथ में जाने के पूर्व ही यह 'पारस-पत्थर' बेतवा नदी के अथाह जल में प्रवाहित कर दिया। परम्परा से देवगढ़ के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि इस स्थान के निर्माता उक्त 'देवपत' के कारण ही यह स्थान 'देवगढ़' कहलाता है।

एक दूसरी किंवदन्ती के अनुसार इस स्थान की रचना देवों द्वारा की गयी है तथा उनकी सूक्ष्म-कला की स्मृति के रूप में इसे 'देवगढ़' कहा जाता है। इस सन्दर्भ में हम मथुरा के उत्खनन में प्राप्त ईसा की द्वितीय शताब्दी के अभिलेख से तुलना करना चाहेंगे। मथुरा के उक्त अभिलेख में वहाँ के जैन स्तूप को 'देव-निर्मित' कहा गया है[3]। कदाचित् कला की अत्यन्त भव्यता और सूक्ष्मता के कारण उस स्तूप को 'देव-निर्मित' कहा गया हो[4]। देवगढ़ के सम्बन्ध में प्रचलित इस किंवदन्ती का आधार भी कला की भव्यता सूक्ष्मता और प्रचुरता प्रतीत होती है।

शोधकर्ता का मत

यद्यपि यह स्थान किसी तीर्थंकर की कल्याणक-भूमि अथवा किसी शलाका-पुरुष से सम्बद्ध नहीं है तथापि यहाँ अनेक साधुओं और साध्वियों ने घोर तपश्चरण करके आत्म-साक्षात्कार किया, जिसके प्रमाण हैं—उनकी अनेक समाधियाँ, मूर्तियाँ, चरणपादुकाएँ और अभिलेख तथा वे मन्दिर जिन्हें उनके आकार-प्रकार के कारण साधुओं का निवास माना जाना चाहिए (दे. चित्र सं. २,१०,१२-१४,२९)। इसीलिए मेरा विश्वास है कि यहाँ उपलब्ध सहस्रों देव-प्रतिमाओं और देवायतनों के कारण ही यह स्थान 'देवगढ़' नाम से विख्यात हुआ है।[5]

इतिहास

१. प्रागितिहास काल से मौर्ययुग तक

यहाँ प्रागितिहास-काल के उपकरण तो मिले ही हैं, तत्कालीन[6] आदिम मानव द्वारा बनाये गये चित्र भी

---

१. (अ) अमरसिंह : अमरकोष, (वाराणसी, १९५७), काण्ड १, वर्ग १, पद्य ७-९। (ब) धनञ्जय : नाममाला, अमरकीर्ति विरचित भाष्योपेता, पं. शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित, (काशी, १९५० ई.) श्लो. ५६। (स) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा तथा तारिणीश झा सम्पादित, (इलाहाबाद, १९५७ ई.), पृ. ५३०। (ड) नालन्दा विशाल शब्दसागर : नवलजी सम्पादित, (देहली, विक्रमाब्द २००७) पृ. ६१३। २. (अ) अमरसिंह : अमरकोष, २-८-१७। (ब) धनञ्जय : नाममाला, श्लो. १३। (स) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. ५२३। (ई) नालन्दा विशाल शब्दसागर, पृ. ३०५। ३.(अ) जिनप्रभसूरि : विविध तीर्थकल्प, पृ. १७ और ८५। (ब) वी. स्मिथ : जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज फ्राम मथुरा, (इलाहबाद, १९०१ ई), सम्पूर्ण। (स) प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : मथुरा का देवनिर्मित बौद्धस्तूप : श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ, खण्ड १ (१९४८-४९ ई.), पृ. १८८-९१। (ड) नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी : मथुरा की मूर्तिकला, (मथुरा, १९६५ ई.) पृ. १ तथा १८३-८७। (इ) डॉ. हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, (भोपाल, १९६२ ई), पृ. ३०३। (ई) डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल : मथुरापुरीकल्प, चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, (आरा, १९५४ ई.), पृ. ३९७-४०२। (उ) प्रो. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' : भारतीय संस्कृति में जैनतीर्थों का योगदान, (अलीगंज, १९६१ ई.), पृ. १६ तथा १८। ४ प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : कंकाली टीला (मथुरा) का जैनकला का अनुशीलन, गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ, (सागर, १९६७ ई.), पृ. ६०८। ५, मेरी इस मान्यता की पुष्टि पं. के. भुजबली शास्त्री के विचारों से भी होती है। दे.—जैन सिद्धान्त भास्कर : किरण २ भाग ८,' (आरा, १९४१ ई.), पृ. ६७ और आगे प्रकाशित 'मेरी देवगढ़ यात्रा' निबन्ध। ६. द्रष्टव्य—इसी अध्याय की टिप्पणी सं. १।

विद्यमान हैं।[1] यह 'चेदि' जनपद के दशार्ण नामक भाग के अन्तर्गत आता था[2]। चेदिराज शिशुपाल यहाँ का शासक था[3]। निषधराज नल की पट्टराज्ञी दमयन्ती का नैहर भी यहीं बताया जाता है। ई. पू. ७वीं शती में जब मगध-साम्राज्य की नींव पड़ी, तब देवगढ़ चेदि जनपद में ही था। नन्द वंश के अधिकार में प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत था[4]। इस समय तक देवगढ़ का न तो राजनीतिक महत्त्व था और न सांस्कृतिक। यहाँ मौर्य शासन के अस्तित्व[5] में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके समीप गुजर्रा (ज़िला दतिया) नामक स्थान पर अशोक का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है[6]। और यहाँ एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है, जिसकी शैली और लिपि[7] अशोक के शिला-प्रज्ञापनों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

२. शुंग-सातवाहन काल

मौर्यों के पतन के बाद शुंगों के शासन काल में उत्तर भारत का अधिकांश पुष्यमित्र तथा उसके वंशजों के अधिकार में रहा।[8] फिर कुषाणों का अधिकार उत्तर भारत पर हुआ।[9] उन्होंने अपना केन्द्र मथुरा को बनाया,[10] जो देवगढ़ से लगभग १५० मील उत्तर में है। उस समय इन दोनों स्थानों का व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध भी प्रारम्भ हो गया था जो, दूसरी-तीसरी शती ई. में, इस क्षेत्र के नागों के अधिकार में आ जाने पर[11] काफ़ी बढ़ गया। इस समय विदिशा से मथुरा जानेवाले राजमार्ग पर देवगढ़ को महत्त्वपूर्ण विश्रामस्थान माना जाता था। विदिशा से एक दूसरा मार्ग देवगढ़ होता हुआ काशी की ओर जाता था।[12] नागों के प्रमुख ४ राजनीतिक केन्द्र विदिशा, कान्तिपुरी, पद्मावती और मथुरा थे।[13] कान्तिपुरी देवगढ़ के सबसे अधिक निकट है। अतः सम्भव है कि देवगढ़ वहीं के शासकों के अधिकार में रहा हो। सातवाहन-साम्राज्य के अन्तर्गत चेदि जनपद का कुछ भाग था।[14]

३. गुप्तयुग

गुप्तवंश का अधिकार प्रायः आदि से अन्त तक देवगढ़ पर रहा।[15] समुद्रगुप्त से स्कन्दगुप्त तक के सभी सम्राटों का ध्यान पाटलिपुत्र पर कम रहा।[16] क्योंकि वह राजनीतिक रूप से सुरक्षित था, और मालवा पर अधिक रहा[17]

---

१. दे.—इसी अध्याय की टिप्पणी संख्या चार। २. (अ) डॉ. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, (वाराणसी, १९६२ ई.), पृ. ७० तथा ७८। (ब) डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, (इलाहाबाद, १९६५ ई.), पृ. २४६। (स) गोरेलाल तिवारी : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, (इलाहाबाद, संवत् १९९०), पृ. ४। (ड) डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. एच. सी. रायचौधरी आदि : एन एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, (लन्दन, १९६० ई.), पृ. ५६। ३. (अ) महाकवि माघ : शिशुपालवध महाकाव्य, स. दो, पृ. १५-१७। (ब) डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : वही, पृ. २६६। (स) डॉ. राजबली पाण्डेय, वही। (ड) गोरेलाल तिवारी : वही, पृ. ४, ५ और ३१। ४. (अ) डॉ. राजबली पाण्डेय : वही, पृ. ११०। (ब) डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : वही, पृ. ३५३। (स) डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. रायचौधरी आदि : वही, पृ. ६३। (ड) डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, (दिल्ली, १९५५ ई.), पृ. ८५। (इ) डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, (काशी, १९६१ ई.), पृ. ७२। ५. (अ) डॉ. राजबली पाण्डेय : वही, पृ. १३४। (ब) डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : वही, पृ. ४११। (स) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : वही, पृ. १०२-१०४। (ड) गोरेलाल तिवारी : वही, पृ. १०-११। ६. (अ) डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत, (दिल्ली, १९६४ ई.) पृ. ६२। (ब) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : म. प्र. का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन : सागर विश्वविद्यालय पुरातत्त्व-पत्रिका, (१९६७ ई.), पृ. ८०। ७. दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., १९१७-१८ पृ. १०। ८. (क) डॉ. राजबली पाण्डेय वही, पृ. १७२-७३ और १८५। (ख) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : वही, पृ. ११४। (ग) गोरेलाल तिवारी : वही, पृ. ११। ९. (क) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २०१ तथा २२०। (ख) डॉ. रा. कु. मु. : वही, पृ. ८६। (ग) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. १७३। (घ) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : वही, पृ. १२१-२२। (ङ) गो. ला. तिवारी : वही, पृ. १७। १०. (क) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २१०-११ तथा २१४। (ख) डॉ. रा. कु. मु. : वही, पृ. ८५-८७। (ग) डॉ. र. शं. त्रिपाठी, वही, पृ. १७८-७९। (घ) डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार आदि : भारत का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, (प्राचीन भारत), (कलकत्ता, १९६४ ई., पृ. २३१। ११. (क) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २२१। (ख) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : एड. हि. । इं., पृ. १२२। १२. पं. माधवस्वरूप वत्स : मेम्वायर्स ऑफ द ए. एस. आइ. संख्या ७०। (द गुप्त टेम्पल एट देवगढ़), पृ. १। १३. (क) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २२१। (ख) डॉ र. शं. त्रिपाठी : वही पृ. १७९। (ग) डॉ. रा. कु. मु : वही, पृ. ९३। १४. (क) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. १८४-८५। (ख) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. १४८-४९। (ग) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : एड. हि. इं., पृ. ११४। १५. (क) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, प. २३८। (ख) डॉ. मजूमदार आदि : एड. हि. इं., पृ. १४७-१५१। (ग) गो. ला. तिवारी : वही, प. १९-२०। १६. डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, प. २२५। १७. (अ) डॉ. रा. कु. मु. : वही, पृ. ९७, ९९ और १०४। (ब) डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार आदि : भा. बृ. इ., पृ. १५९, १६१।

क्योंकि वे उसे पार करके समुद्री किनारों पर अपना व्यापारिक विस्तार करना चाहते थे।[1] इसीलिए उन्होंने इस प्रदेश के आटविक राजाओं को अपना सामन्त बनाया,[2] जिनमें चेदि, दशार्ण के शासक भी थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति[3] में जिन नाग राजाओं के नाम आये हैं, उनमें नागसेन और गणपति नाग के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्हें समुद्रगुप्त ने बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया था।[4] समुद्रगुप्त ने चेदि के पूर्वी भाग की भाँति पश्चिमी भाग में भी अपने सामन्त बनाये थे।[5] यहाँ के एक शिलालेख में गुप्त-कालीन ब्राह्मी[6] का स्वरूप पाया जाता है। इस काल में यहाँ अनेक मन्दिरों और सैकड़ों मूर्तियों का निर्माण भी हुआ।[7]

४. वर्धन साम्राज्य से आयुधवंश तक

गुप्तकाल के पश्चात् लगभग १०० वर्ष तक यहाँ कदाचित् गुप्तों के किसी स्थानीय राजवंश का शासन रहा। वर्धन सम्राट् हर्ष के साम्राज्य में चेदि का एक बड़ा भाग शामिल था।[8] उसकी मृत्यु के पश्चात् यशोवर्मा ने इस प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया था।[9] ८४० ई. के आसपास काश्मीर के मुक्तापीड ललितादित्य ने यशोवर्मा को पराजित करके इस प्रदेश पर अपना शासन स्थापित कर लिया।[10] परन्तु शीघ्र ही उसका शासन यहाँ से समाप्त हो गया और कदाचित् आयुध-वंश ने अपनी सत्ता वहाँ स्थापित की, पर वह भी अधिक समय तक स्थिर न रह सकी।[11]

५. गुर्जर-प्रतिहार-शासन

यहाँ विक्रम संवत् ९१९ का एक अभिलेख[12] प्राप्त हुआ है,[13] जिसके अनुसार यहाँ भोजदेव के महासामन्त विष्णुदेव पचिन्द का शासन था। श्री कनिंघम के अनुसार[14] यह भोजदेव वही है, जिसका उल्लेख ग्वालियर[15] और पेहोवा[16] (जिला करनाली, पंजाब) के अभिलेखों तथा राजतरंगिणी[17] में मिलता है। उनके अनुसार बरह[18] के ताम्रपत्र में अभिलिखित वंशावली वाला भोजदेव भी यही है। जिसका शासन समूचे उत्तर-भारत पर विस्तृत था।[19]

धीरे-धीरे खजुराहो के चन्देले, ग्वालियर के कच्छपघात, धारा के परमार, मध्यभारत के कलचुरि और गुजरात के सोलंकी आदि स्वतन्त्र हो गये, और गुर्जर-प्रतिहारों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।[20]

---

१. (अ) डॉ. रा. कु. मु. : वही, पृ. ९७, १०४, ११२। (ब) डॉ. र. च. मजूमदार आदि : भा. बृ. इ., पृ. १५९। २. (अ) डॉ. रा. ब. पाण्डेय, : वही, पृ. २२५-२६। (ब) डॉ. रा. कु. मु.: वही, पृ. ९६। (स) डॉ. र. च. मजूमदार आदि : भा. बृ. इ., पृ. १५८। ३. प्रयाग प्रशस्ति के लिए दे.—जे. एफ़. फ़्लीट ' कार्पस इन्सिक्रप्सनम् इण्डिकेरम्, जिल्द तीन, गुप्त अभिलेख संख्या एक—१७। ४. (अ) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २२५। (ब) डॉ. रा. कु. मु. वही, पृ. ९६। (स) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : एड. हि. इं., पृ. १४६। (ड) डॉ. र. च. मजूमदार आदि : भा. बृ. इ., पृ. १५७। (इ) गो. ला. तिवारी : वही, पृ. १४। ५. इनके विस्तृत विवरण के लिए दे.—(अ) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २२६। (ब) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. १८३-८६। ६. ए. कनिंघम : ए. एस. आइ., जिल्द १०, पृ. १०२। ७. यहाँ इस काल में निर्मित मन्दिरों तथा मूर्तियों के परिचय हेतु दे.—इस प्रबन्ध के अध्याय तृतीय और चतुर्थ। ८. (अ) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २७१, २७३। (ब) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. २२५। (स) डॉ. रा. कु. मु. : वही, पृ. १२२। (ड) डॉ. मजूमदार आदि : भा. बृ. इ., पृ. १६८, १७१-७२। (इ) गो. ला. तिवारी : वही, पृ. २५-२६। ९. (अ) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २९६। (ब) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. २३७ तथा २५८। (स) डॉ. आर. एस. त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज (दिल्ली, १९५९ ई.) पृ. २०४-२०५। (ड) डॉ. मजूमदार आदि : भा. बृ. इ., पृ. १७६। १०. (अ) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २९६। (ब) डॉ. आर. एस. त्रिपाठी : हि. क., पृ. २३७। (स) डॉ. मजूमदार आदि : भा. बृ. इ., पृ. १७६। (ड) डॉ. मजूमदार आदि : एड. हि. इं., पृ. १६३। (इ) डॉ. रा. कु. मुकर्जी : वही, पृ. १२९। ११. डॉ. रा. कु. मुकर्जी : वही, पृ. १३०। १२. (अ) डॉ. रा. ब. पाण्डेय : वही, पृ. २९७-९८। (ब) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : प्रा. भा. इ., पृ. २४०-४१। (स) डॉ. आर. एस. त्रिपाठी : हि. क., पृ. २३७। (ड) डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. रायचौधरी आदि : एड. हि. इं., पृ. १९९। (इ) डॉ. मजूमदार आदि : भा. बृ. इ., पृ. १८३। (ई) गो. ला. तिवारी : बु. इ., पृ. ३३, और ४९। १३. मं. सं. १२ के अर्धमण्डप में दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण। १४ अभिलेख पाठ के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक एक तथा एपीग्राफिया इण्डिका, भाग ४, पृ. ३०९ एवं भाग ५ पृ. ४। १५. दे.—ए. एस. आइ., जिल्द १०, पृ. १०१। १५. (अ) ग्वालियर अभिलेख (सं. ९३३) के लिए दे.—एपीग्राफिया इण्डिका, भाग १८, पृ. ९९-११४। (ब) एनुअल रिपोर्ट, ए. एस. आइ., १९०३-४ ई., पृ. २७७-८५। १६. पेहोवा अभिलेख (८८२ ई.) के लिए दे.—एपीग्राफिया इण्डिका, भाग एक, पृ. १८४-९०। १७. इसकी रचना महाकवि कल्हणने १२वीं शती के पूर्वार्द्ध में की। इसके विस्तृत परिचय के लिए दे.—डॉ रामजी उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, (इलाहाबाद, २०१८ वि.), पृ. ८६-८८। १८. बरह के ताम्रपत्र (बरह कापर प्लेट) के लिए दे.—एपीग्राफिया इण्डिका, भाग १९, पृ. १५-१९। १९. ए. कनिंघम : ए. एस. आइ., जिल्द १०, पृ. १०२। २०. विस्तार के लिए दे.—डॉ. रा. ब. पाण्डेय : प्रा. भा., पृ. ३०५-३११।

६. चन्देल शासन

देवगढ़ पर चन्देलों का शासन दीर्घकाल तक रहा। यहाँ उस समय मूर्तियों, स्तम्भों तथा कुछ मन्दिरों के निर्माण के रूप में धार्मिक प्रवृत्तियाँ ही तीव्रतर नहीं हुईं बल्कि गिरि-दुर्ग के निर्माण के रूप में राजनीतिक गतिविधि भी तीव्र हो उठी। यहाँ कीर्तिवर्मन् का एक शिलालेख[1] भी प्राप्त हुआ है।[2]

७. मुग़ल, मराठा और अँगरेज़ी शासन

इसके पश्चात् देवगढ़ के इतिहास को जानने के साधन नगण्य हैं। इधर संवत् १४८१-(१४२४ ई.) का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है,[3] जिसमें माण्डु (मालवा) के सुल्तान होशंगगौरी (१४०५-३२ ई.) का उल्लेख है। देवगढ़ पर चन्देलों के कुछ समय पश्चात् क्रमशः मुग़लों, मराठों और अँगरेज़ों का अधिकार रहा।

८. वर्तमान रूप

देवगढ़ अब जिस रूप में है उसका श्रेय मुख्यतः तीन व्यक्तियों को है। पहले स्व. श्री परमानन्द वरमा हैं, जो क़रीब ४० वर्षों से अपना तन, मन और धन अर्पित करके इस क्षेत्र की सुरक्षा और सुव्यवस्था करते रहे। दूसरे श्री राम-दयाल पुजारी हैं जो आज भी क्षेत्र की सुचारु व्यवस्था में दत्तचित्त हैं। तीसरे श्री शिखरचन्द्र सिंघई हैं जिनके मन्त्रित्व काल में यह क्षेत्र अनवरत प्रगति करता रहा।

●

---

१. यहाँ की राजघाटी में उत्कीर्ण। अभिलेख पाठ के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक दो। २. यह अभिलेख एपीग्राफिया इण्डिका, भाग, ६, पृ. ७६ एवं कनिंघम के ए. एस. आर., जिल्द १८, पृ. २३७-३९ पर प्रकाशित है। ३. मं. सं. ६ (सहस्रकूट जिनालय) के भीतर पूर्वी द्वार के ऊपर जड़ा हुआ।

स्मारक

प्रास्ताविक

प्रस्तुत अध्याय में देवगढ़ के सभी स्मारकों का जिनमें मन्दिर, लघु-मन्दिर और मानस्तम्भ भी सम्मिलित हैं, सूक्ष्म सर्वेक्षण दिया गया है। स्मारकों की पैमाइश के अन्तर्गत उनके प्रायः सभी अंगों और उपांगों की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि की पैमाइश भी की गयी है अतः सम्पूर्ण स्मारक का मानचित्र दृष्टि में उभर आता है। जिन स्मारकों की विन्यास-रेखा में अनेक कोण आदि की पेचीदगी है उनका मानचित्र भी प्रस्तुत कर दिया है। जो स्मारक ध्वस्त हो चले हैं उनकी मौलिकता का अनुमान, बिखरे हुए अवशेषों, श्री कनिंघम आदि के विवरणों, चित्रों और शैलीगत विशेषताओं के आधार पर किया है।

पैमाइश के पश्चात् स्मारक के उद्देश्य, विन्यास-रेखा, दिशा, स्थिति, विभाग और मण्डप आदि मुख्य अंगों तथा स्तम्भ आदि उपांगों का विस्तृत सर्वेक्षण किया है। उनकी विशेषताओं, कलागत गुणावगुणों और शास्त्रीय विधानों आदि की चर्चा आगे के अध्यायों में की गयी है।

सर्वप्रथम मन्दिरों का सर्वेक्षण किया गया है। उनके क्रमांक, सुविधा की दृष्टि से वही स्वीकार किये हैं जो श्री साहनी द्वारा, उनके स्थितिक्रम से निर्धारित किये गये थे और जो कालान्तर में शिलाओं पर उत्कीर्ण कराये जाकर मन्दिरों से संलग्न कर दिये गये हैं। मन्दिरों के पश्चात् लघुमन्दिरों का और उनके पश्चात् मानस्तम्भों का सर्वेक्षण किया है। इनके क्रमांक सर्वप्रथम निर्धारित किये गये हैं। निर्धारण का आधार उनका स्थितिक्रम ही है।

मन्दिरों और लघु-मन्दिरों में स्थायी तथा अस्थायी रूप से स्थित मूर्तियों आदि की संख्या दी गयी है।

जैनेतर स्मारकों का परिचय मात्र दिया है, उनका स्थापत्य एवं कलागत विवेचन नहीं किया गया है।

मन्दिर संख्या १

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) ३३ फ़ी. ३ इं.

अधिष्ठान की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) ३१ फ़ी. ६ इं.

अधिष्ठान की ऊँचाई ३ फ़ी. १० इं.

मण्डप की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) २० फ़ी. १½ इं.

मण्डप की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) ७ फ़ी. ४ इं.

लम्बाई में एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ का अन्तर ५ फ़ी. १ इं.

चौड़ाई में एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ का अन्तर ५ फ़ी. ६ इं.

स्तम्भ की कुरसी समचतुष्कोण १ फ़ी. १½ इं.

मण्डप की ऊँचाई (अधिष्ठान से) ९ फ़ी. ३ इं.

विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर[1] का उल्लेख श्री कनिंघम[2] और श्री साहनी[3] ने मन्दिर संख्या दो के रूप में किया है। उन्होंने मन्दिर संख्या एक के रूप में किसी मन्दिर का उल्लेख नहीं किया, यह एक समस्या है। वर्तमान मन्दिर संख्या एक के दक्षिण में ९ फ़ी. की दूरी पर लगभग ३५ फ़ी. ६ इं. × ४० फ़ी. का एक अधिष्ठान[4] रहा प्रतीत होता है, जो श्री कनिंघम के समय अच्छी हालत में रहा होगा। इसे उन्होंने माना तो मन्दिर संख्या एक होगा परन्तु कुछ विशेष न होने से उसका उल्लेख न किया होगा। इस भग्न अधिष्ठान के ऊपर दो स्तम्भ और एक तथाकथित मानस्तम्भ स्थित हैं, परन्तु ये सभी स्पष्ट ही बाद में स्थापित किये गये हैं।

यह पूर्वाभिमुख मन्दिर जो कभी २० स्तम्भों पर आधारित रहा होगा,[5] अब चार-चार स्तम्भों की दो पंक्तियों पर (चित्र सं. एक) आधारित है। स्तम्भों पर एक सादा मण्डप है, जिसका पुनर्निर्माण, श्री परमानन्द बरया के अनुसार और जैसा कि स्थिति के अध्ययन से स्पष्ट है दो-तीन दशाब्दियों पूर्व हुआ था। मध्य के चार स्तम्भ इस मन्दिर के मौलिक अंश कहे जा सकते हैं, जबकि शेष चार या तो किसी अन्य मन्दिर के हैं या इसी मन्दिर के—किसी अन्य स्थान के। स्तम्भों की प्रथम पंक्ति के मध्य भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा इसी तथा अन्य मन्दिरों की मूर्तियाँ अव्यवस्थित रूप में जड़ दी गयी हैं, जिनमें से अनेक उल्लेखनीय हैं।

मन्दिर संख्या २

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) २४ फ़ी. ७ इं.
अधिष्ठान की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) २३ फ़ी. २ इं.
अधिष्ठान की ऊँचाई—समतल
मण्डप की चौड़ाई ७ फ़ी.
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ८ फ़ी.
गुमटी का अधिष्ठान समचतुष्कोण ८ फ़ी. ४ इं.
अधिष्ठान से गुमटी के आधार की ऊँचाई ७ फ़ी. १० इं.
गुमटी की (उसके आधार से) ऊँचाई ७ फ़ी. ६ इं.
गुमटी की परिधि—१७ फ़ी.

विवरण

श्री कनिंघम ने इस मन्दिर[6] का उल्लेख नहीं किया, कदाचित् जंगल से आच्छादित होने से उनकी दृष्टि इसकी ओर नहीं गयी। सादी बनावट और गर्भगृह आदि के अभाव से हम इसे गुप्त-युग का मान सकते हैं। यह चार-चार स्तम्भों की चार पंक्तियों पर आधारित था परन्तु पूर्व के चारों स्तम्भ आज अदृश्य हैं जिनमें से दो की चौकी आज भी विद्यमान है। इन चारों स्तम्भों पर मण्डप रहा होगा, जिसकी सामग्री का उपयोग मन्दिर संख्या तीन के पूर्वी भाग में कर लिया गया है। बाहरी स्तम्भों का अन्तर शिलाखण्डों द्वारा बन्द है, अतः मन्दिर के मध्य में केवल दो स्तम्भ ही रह गये हैं, शेष १० दीवार का अंग बन गये हैं।

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर के पश्चिम में भी एक द्वार है, जिसे एक पत्थर की जाली से बन्द कर दिया गया है। इस द्वार की उपयोगिता आज कुछ भी नहीं दीखती परन्तु अनुमान है कि मन्दिर से लगा हुआ इसका कोई मण्डप और रहा होगा, जिसके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं।

---

१. दे.—चित्र संख्या एक। २. ए. कनिंघम : आर्केओलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया रिपोर्ट्स, (कलकत्ता, १८८०), जि. १०, पृ. १०४।
३. दयाराम साहनी : एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ़ दी सुप्रिण्टेण्डेण्ट, हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स, नार्दर्न सर्किल, (लाहौर, १९१८), पृ. ९।
४. दे.—रेखाचित्र सं. ३७। ५. ए. कनिंघम : आ. स. इ. रि., जिल्द १०, पृ. १०४। ६. दे. चित्र सं. दो।

मन्दिर में स्थायी रूप से मूर्तियों को स्थापित करने के लिए कोई वेदी नहीं है, इस कारण तथा पूर्व और पश्चिम की ओर के दो बरामदों या मण्डपों की सम्भावना से प्रतीत होता है कि यह भवन प्रारम्भ में मन्दिर के रूप में नहीं, बल्कि साधुओं या भट्टारकों आदि के निवास के रूप में उपयोग में लाया जाता होगा। इस समय इसमें जो मूर्तियाँ स्थापित हैं उनकी संख्या १० है।

मन्दिर संख्या ३

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) ४० फ़ी. ८ इं.

अधिष्ठान की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) ३७ फ़ी. ९ इं.

अधिष्ठान की ऊँचाई—१ फ़ी. ६ इं.

मण्डप की चौड़ाई ७ फ़ी. ४ इं.

मण्डप के आगे के खुले चबूतरे की चौड़ाई ५ फ़ी. १ इं.

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ९ फ़ी. २ इंच

इस मन्दिर की पश्चिमी दीवाल में दक्षिण में २ फ़ी. ९ इं. की दूरी पर अधिष्ठान से ३ फ़ी. ८ इं. की ऊँचाई पर ४ फ़ी. ४ इं. लम्बा और ५ इं. चौड़ा गवाक्ष जीर्णोद्धार के समय समाविष्ट कर दिया गया है।

दक्षिणी दीवाल में २ फ़ी. २ इं.×१ फी. ८ इं. का एक जालीदार गवाक्ष अधिष्ठान से ४ फ़ी. ६ इं. की ऊँचाई पर और पूर्व से ८ फ़ी. की दूरी पर जीर्णोद्धार के समय समाविष्ट कर दिया गया है।

विवरण

यह उत्तरमुख मन्दिर[1] आठ-आठ स्तम्भों (पूर्व-पश्चिम) की तीन और सात स्तम्भों की दो पंक्तियों पर आधारित है। प्रथम (पूर्व की ओर की) और द्वितीय स्तम्भ-पंक्ति पर खुला मण्डप और द्वितीय से पाँचवीं तक स्तम्भ-पंक्ति पर मन्दिर आधारित है। बाहरी स्तम्भों के मध्य का अन्तर १ फ़ी. १० इंच चौड़ी भित्ति से बन्द है, जिसमें २० स्तम्भ भित्तियों में चिने हुए भीतर की ओर दिखाई पड़ते हैं।

इस मन्दिर में पूर्व की ओर दो द्वार हैं। प्रथम द्वार दूसरी स्तम्भ पंक्ति (पश्चिम से पूर्व) के द्वितीय और तृतीय स्तम्भ के मध्य और द्वितीय द्वार उसी पंक्ति के छठवें और सातवें स्तम्भ के मध्य में अवस्थित है। यह सम्पूर्ण मन्दिर चौथे और पाँचवें स्तम्भ के मध्य (उत्तर-दक्षिण) ८ इंच चौड़ी एक भित्ति द्वारा दो भागों में विभाजित था, परन्तु अब उसके पश्चाद्वर्ती दो स्तम्भों के मध्य की भित्ति को तोड़कर एक विभाग से दूसरे विभाग को सम्बन्धित कर दिया गया है।

पश्चाद्वर्ती भित्ति से संयुक्त २ फ़ी. २ इं. चौड़ी एक वेदी है। यह वेदी मन्दिर के पूर्वार्द्ध में १ फ़ी. ऊँची और उत्तरार्द्ध में ७ इं. ऊँची है। इस वेदी के साथ पश्चाद्वर्ती भित्ति और छत का जीर्णोद्धार किया गया है। इस मन्दिर के उत्तरार्द्ध की छत सपाट थी जैसी कि वह आज भी है, परन्तु पूर्वार्द्ध पर दूसरी मंज़िल भी थी। अत्यन्त ध्वस्त हो जाने से दूसरी मंज़िल की सामग्री को स्थानान्तरित कर अब छत को सपाट कर दिया गया है।

वर्तमान में इस मन्दिर में मौलिक और स्थायी रूप से समाविष्ट कोई मूर्ति नहीं है। पूर्वार्द्ध में अस्थायी रूप से भी कोई मूर्ति नहीं है, जबकि उत्तरार्द्ध में २६ शिलाफलक विद्यमान हैं और उनपर विभिन्न मूर्तियाँ अंकित हैं।

मन्दिर संख्या ४

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) २८ फ़ी. ६ इं.

अधिष्ठान की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) २४ फ़ी. ८ इं.

---

१. दे.—चित्र सं. तीन।

अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. ६ इंच
मण्डप की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) ७ फ़ी. ३ इं.
मण्डप की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) ४ फ़ी. ११ इं.

मण्डप के बायें १ फ़ी. ६ इं. का और दायें २ फ़ी. १० इंच का अन्तर देकर १ फ़ी. ९ इंच चौड़ी और २ फ़ी. २ इं. ऊँची देवकुलिकाएँ हैं, जिनमें पद्मासन तीर्थंकर अंकित हैं।

पश्चिमी दीवाल पर दक्षिण से १३ फ़ी. ४ इं. की दूरी पर ३ फ़ी. १ इं. की ऊँचाई पर १ फ़ी. ९ इं. चौड़ी और ३ फ़ी. १० इं. ऊँची देवकुलिका में जीर्णोद्धार के समय अम्बिका की एक सुन्दर मूर्ति समाविष्ट कर दी गयी है।

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई १० फ़ी. ३ इं.
छत से गुमटी के अधिष्ठान की ऊँचाई १० इं.
गुमटी का अधिष्ठान समचतुष्कोण ६ फ़ी.
गुमटी की परिधि १७ फ़ी.
गुमटी की (उसके अधिष्ठान से) ऊँचाई ५ फ़ी. १० इं.

गुमटी के उत्तर-पूर्व के स्तम्भ में ऊपर चारों ओर इकहरी देवकुलिकाओं में और शेष में दुहरी (एक के ऊपर एक) देवकुलिकाओं में पद्मासन या कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों, साधुओं और अम्बिका की प्रतिमाएँ और चरण अंकित हैं।

पश्चिमोत्तर स्तम्भ के पश्चिम की ओर एक अस्पष्ट लेख उत्कीर्ण है।

विवरण

मन्दिर संख्या तीन के सामने १८ स्तम्भों पर आधारित इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर[1] का कम से कम दो बार जीर्णोद्धार हुआ है, प्रथम बार बारहवीं शती में, जिसका संकेत प्रवेश द्वार के दायें पक्ष में उत्कीर्ण एक लेख में मिलता है और दूसरी बार लगभग १९१७-१८ में।[2] आगे को निकले हुए दो स्तम्भ मण्डप का निर्माण करते हैं, जिसके ऊपर चार स्तम्भों पर आधारित एक सादी गुमटी है। मण्डप के बाहर निकले हुए दोनों स्तम्भ असमान हैं। दायाँ स्तम्भ एक अतिरिक्त चौकी पर स्थित है। इस स्तम्भ की स्वयं की चौकी चतुष्कोण है और उसके चारों ओर विभिन्न देवियों का अंकन है। इसके ऊपर वह अष्टकोण हो जाता है। कोनों के चारों पहलुओं पर कीर्तिमुखों से झूमती हुई १ फ़ी. ३ इं. लम्बी साँकलों से घण्टियाँ लटक रही हैं। खजुराहो के घण्टई मन्दिर के स्तम्भों से इनका काफ़ी साम्य है। ऐसा साम्य यहाँ के और भी मन्दिरों में दिखाई पड़ता है। इस स्तम्भ के चतुष्कोण शीर्ष के चारों ओर तीर्थंकरों और उपाध्यायों की पद्मासन मूर्तियाँ अंकित हैं। दायाँ स्तम्भ एक सादी चतुष्कोण चौकी पर स्थित है उसकी स्वतः की कोई चौकी नहीं है। इसके चतुष्कोण शीर्ष के चारों ओर उपाध्याय और तीर्थंकरों का विविध आसनों में अंकन हुआ है।

प्रवेश-द्वार का अलंकरण भव्य है। मन्दिर के १८ स्तम्भों में से दो स्तम्भ मण्डप के अन्तर्गत हैं, १२ को दीवाल में चिन दिया गया है, जिन्हें भीतर से देखा जा सकता है और शेष चार मन्दिर के बीचोंबीच स्थित हैं। ये चारों स्तम्भ एक अतिरिक्त चतुष्कोण चौकी पर स्थित हैं। उनकी स्वयं की चौकी और शीर्ष चतुष्कोण और मध्य भाग अष्टकोण हैं। इनका साधारण अलंकरण इन्हें दीवार में चिने हुए १२ साधारण चतुष्कोण स्तम्भों से पृथक् करता है।

दीवारों में भीतर की ओर विभिन्न मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं।

---

१. वे.—चित्र सं. चार। २. 'मं. सं. ४ के दक्षिण-पश्चिमी कोने से एक विशाल वृक्ष का हटाया जाना विशेष रूप से कठिन कार्य था क्योंकि उसकी जड़ों ने भवन को पहले ही शोचनीय हानि पहुँचा दी थी और आगामी कुछ ही वर्षों में वे उसे निःसन्देह रूप से ध्वस्त कर सकती थीं।'—दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., भाग २, (लाहौर, १९१८), पृ. ९।

मन्दिर संख्या ५ (सहस्त्रकूट चैत्यालय)

माप

प्रथम अधिष्ठान समचतुष्कोण १८ फ़ी. २ इंच
प्रथम अधिष्ठान की ऊँचाई २ फ़ी. ६ इंच
द्वितीय अधिष्ठान समचतुष्कोण ११ फ़ी. ७½ इंच।
द्वितीय अधिष्ठान की ऊँचाई (प्रथम अधिष्ठान से) २ फ़ी. १ इंच
प्रथम अधिष्ठान से शिखर के अधिष्ठान की ऊँचाई १२ फ़ी. ४½ इंच
शिखर के अधिष्ठान से शिखर की प्रथम-मेखला ४ फ़ी. ३ इंच
शिखर के अधिष्ठान से शिखर की अनुमानित ऊँचाई १३ फ़ी.

विवरण

इस मन्दिर[१] का नाम 'सहस्त्रकूट चैत्यालय[२]' पूर्णतः सार्थक है। 'कूट' का अर्थ है—पर्वत-शिखर[३], एक सहस्त्र चैत्यों (प्रतिमाओं) का आलय (स्थान) जहाँ हो उसे 'सहस्त्रकूट चैत्यालय' नाम देना उचित ही है। वि. सं. १५०३ में भी इसे सहस्त्रकूट चैत्यालय ही कहा जाता था जैसा कि इसके पूर्वी द्वार के भीतर की ओर ऊपर जड़े हुए एक शिलालेख की आठवीं पंक्ति से ज्ञात होता है। श्री कनिंघम ने किसी स्थानीय व्यक्ति के कहने से इसे 'लखपुतली का मन्दिर' कहा है[४]। यों यह नाम लाखों (अधिकता के लिए रूढ़) पुतलियों (प्रतिमाओं) का मन्दिर होने से सार्थक भी प्रतीत होता है।

यह मन्दिर पूर्वाभिमुख है, जैसा कि इसके शिखर की पहली मेखला में एक पुरुष और एक स्त्री के अंकन से स्पष्ट है। आजकल इसके पूर्वी द्वार को नहीं, प्रत्युत पश्चिमी द्वार को खुला रखा जाता है। दोनों द्वारों पर अन्यन्त उच्च कोटि का अलंकरण है।[५] उत्तर और दक्षिण में द्वार की आकृति का कटाव है और उसमें एक-एक अत्यन्त सुन्दर कपाट की बनावट में शिलाफलक संयोजित किया गया है[६]। इस प्रकार कलाकार ने इन दोनों दिशाओं में भी एक-एक अच्छे-खासे बन्द दरवाज़े का आभास उत्पन्न कर दिया है।

अपने आधार से ४ फ़ी. ३ इंच ऊँची मेखला पर्यन्त शिखर ९०° के कोण से ऊपर उठता है। और फिर गोलाकार होता हुआ आमलक तक जाता है तथा लगभग एक फ़ुट के दण्ड में समाप्त हो जाता है।

भीतर की ओर ७ फ़ी. २ इंच के समचतुष्कोण इस मन्दिर में ४ फी. का समचतुष्कोण और ८ फ़ी. १० इंच ऊँचा एक स्तम्भ स्थित है जिसपर १००८ तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

मन्दिर संख्या ६

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) ३५ फी. ८ इंच
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) २४ फी. ५ इंच
अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. ६ इंच
मन्दिर की लम्बाई (पूरब-पश्चिम) १३ फ़ी. ४ इंच
मन्दिर की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) ८ फ़ी. ७½ इंच
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ९ फ़ी. ३ इंच

---

१. दे.—चित्र सं. पाँच। २. सहस्त्रकूट के लिए दे.—चित्र सं. आठ। ३. कूट—पर्वत शृ ग. दे.—(अ) तारानाथ भट्टाचार्य: वाचस्पत्यम्, तृतीय भाग, (वाराणसी, १९६२), पृष्ठ २१६२। (ब) 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृंगम्'। अमरसिंह : अमरकोष—(काण्ड २, वर्ग ३, श्लोक ४) (वाराणसी, १९५७) पृ. १२१। (स) चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा : संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, इलाहाबाद १९५७) प. ३४३। ४. कनिंघम : ए. एस. आइ. आर., जिल्द १०, प. १०४। ५. दे.—चित्र सं. छह और सात। ६. दे.—चित्र सं. पाँच।

छत से शिखर के अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. ४½ इंच

छत से शिखर की ऊँचाई ६ फ़ी.

शिखर अठपहलू

चार स्तम्भों पर आधारित मण्डपवाले पूर्वाभिमुख इस लघु मन्दिर[1] में एक के अतिरिक्त शेष पाँच तीर्थंकर मूर्तियाँ दीवार में चिनी हुई हैं।

इस मन्दिर में अनेक मूर्तियाँ कलागत वैशिष्ट्य के कारण उल्लेखनीय हैं।

मन्दिर संख्या ७

माप

प्रथम अधिष्ठान समचतुष्कोण १२ फ़ी. ४½ इंच

द्वितीय अधिष्ठान समचतुष्कोण ८ फ़ी. १½ इंच

प्रथम अधिष्ठान की ऊँचाई २ फ़ी. ९ इंच

द्वितीय अधिष्ठान की ऊँचाई (प्रथम अधिष्ठान से) ९ इंच

चरणपादुका की वेदी की ऊँचाई ३ इंच

चरणपादुका का शिलापट्ट समचतुष्कोण २ फ़ी. ५ इंच

इस चरणपादुका के शिलापट्ट की दायीं ओर एक ४ फ़ी. १ इंच × ११ इंच × ७ इंच के शिलापट्ट पर २४ तीर्थंकरों के चरण-चिह्न १२ पंक्तियों में उत्कीर्ण हैं। यह शिलापट्ट सरोवर के निकटवर्ती ध्वंसावशेषों में से लाकर यहाँ स्थापित किया गया है।

प्रथम अधिष्ठान से शिखर के अधिष्ठान की ऊँचाई १० फ़ी. ३ इंच

शिखर के अधिष्ठान से शिखर की ऊँचाई ६ फ़ी. ९ इंच

शिखर की परिधि १६ फ़ी.

विवरण

यह पूर्वाभिमुख मन्दिर[2] चारों ओर से खुला है और चार स्तम्भों पर आधारित है। इसमें प्रवेश करने के लिए सोपान-मार्ग पूर्व में न होकर उत्तर और दक्षिण में हैं। इसकी छत का अन्तर्भाग अलंकृत है,[3] जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इसमें चरण पादुकाओं के दो शिलाफलक[4] विद्यमान हैं।

मन्दिर संख्या ८

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) २१ फ़ी. ११ इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) २० फ़ी.

अधिष्ठान की ऊंचाई ५ इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ८ फ़ी. ६ इंच

मन्दिर की लम्बाई १७ फ़ी. ११ इंच और चौड़ाई ९ फ़ी. १ इंच

विवरण

आठ स्तम्भों पर आधारित लम्बाकार मण्डप और तीन द्वारों वाला यह पूर्वाभिमुख मन्दिर[5] किसी भी लक्षण से

---

१. दे. चित्र संख्या नौ। २. दे.—चित्र सं. १०। ३. अलंकरण के लिए दे.—चित्र सं. ११। ४. दे.—चित्र सं० १२। ५. दे०—चित्र सं. १३।

मन्दिर सिद्ध नहीं होता । अनुमान है कि इसमें साधु या कोई अन्य व्यक्ति निवास करते होंगे । अवश्य ही, प्रथम द्वार (बायें) की चौखट के ऊपरी भाग में एक पद्मासन तीर्थंकर की मूर्ति अंकित है । परन्तु इस मन्दिर के अन्य द्वारों की भाँति इसका भी यह हिस्सा कभी जीर्णोद्धार के सन्दर्भ में बदल गया होगा । इसमें वर्तमान में ३० शिलापट्ट अस्थायी रूप से रखे हुए हैं । जिनपर विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं ।

मन्दिर संख्या ९

माप

अधिष्ठान की ऊँचाई ८ इंच
मण्डप की लम्बाई (उ.-द.) २२ फ़ी. ११ इंच
मण्डप की चौड़ाई (पू.-प.) २० फ़ी. २ इंच
इसके पश्चात् आकार कम होकर
गर्भगृह की लम्बाई (उ.-द.) १९ फ़ी. १० इंच
गर्भगृह की चौड़ाई (पू.-प.) ८ फ़ी.
यह माप रह जाता है ।

विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर के अग्रभाग (पूर्व) में एक चबूतरा है, जिसपर कदाचित् पहले अतिरिक्त मण्डप रहा होगा, जैसा कि इसपर बायीं ओर विद्यमान अर्धखण्डित दीवाल तथा उष्णीष रखने के शेष शीर्षों से अनुमान होता है । इस चबूतरे की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) ११ फ़ी. ९ इंच है और अधिष्ठान से छत की ऊँचाई १० फ़ी. ३ इंच है । छत सपाट है ।

मन्दिर का प्रवेश-द्वार सुचारुता से अलंकृत है । गंगा-यमुना तथा अन्य देवी-देवताओं का अंकन बहुत सुन्दरता से हुआ है । इस लघु मन्दिर के गर्भगृह में ६ इंच ऊँची, १ फ़ी. १० इंच चौड़ी तथा ७ फ़ी. ८ इंच लम्बी एक वेदी है, जिसपर बारह शिलाफलकों पर उत्कीर्ण विभिन्न मूर्तियाँ अस्थायी रूप से विद्यमान हैं

मन्दिर संख्या १०

माप

अधिष्ठान समचतुष्कोण १२ फ़ी. २½ इंच
अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. २ इंच
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ८ फ़ी. १० इंच
शिखर के अधिष्ठान से शिखर की ऊँचाई ४ फ़ी. ८ इंच

विवरण

यह मन्दिर[1] चार अठपहल स्तम्भों पर आधारित साधारण-से गुमटीदार मण्डप के रूप में है । इसके पश्चिमी स्तम्भों पर भीतर की ओर बने दोनों खाँचों से अनुमान होता है कि यह इस ओर से बन्द रहा होगा । श्री बरयाजी ने इसका पर्याप्त जीर्णोद्धार कराया, परन्तु इसके मौलिक आकार पर पूर्ण ध्यान दिया ।

इसके मध्य में (उत्तर से दक्षिण) एक पंक्ति में तीन चतुष्कोण स्तम्भ स्थित हैं[2] । इनमें से प्रत्येक की गुमटी खण्डित है[3] । जीर्णोद्धार के समय ये अस्त-व्यस्त स्थिति में थे, उन्हें उखाड़कर व्यवस्थित रूप से स्थापित करते समय दो

---

१. दे. चित्र सं० १४ । २. वही । ३. वही ।

के नीचे दो चतुष्कोण ताम्रपत्र भी प्राप्त हुए थे। यद्यपि वे जीर्ण-शीर्ण हो गये थे, परन्तु उनपर के कुछ बीजाक्षर थे। कुछ से संवत् ११०० का आभास होता था। श्री बरयाजी के अनुसार उन्होंने इन दोनों ताम्रपत्रों को जीर्णोद्धार के समय ही पुनः उन्हीं स्तम्भों के नीचे स्थापित कर दिया।

इन तीनों स्तम्भों के चारों ओर देवकुलिकाओं में तीर्थंकर, साधु, साध्वी और उदासीन श्रावकों की मूर्तियाँ अंकित हैं और कई अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

मन्दिर संख्या ११

माप

मन्दिर की लम्बाई (उ.-द.) ४० फी. ४ इंच
मन्दिर की चौड़ाई (पू.-प.) ३० फ़ी.
अधिष्ठान समतल एवं मन्दिराकार
अधिष्ठान से पहले खण्ड की ऊँचाई ८ फ़ी. १ इंच
पहले खण्ड की छत से दूसरे खण्ड की छत की ऊँचाई ९ फ़ी. ३ इंच
ऊपर की गुमटी की ऊँचाई ३ फ़ी. ९ इंच
ऊपर की गुमटी की परिधि ५ फ़ी. १ इंच

विवरण

यह[1] उत्तराभिमुख मन्दिर[2] पंचायतन शैली का पूर्वरूप प्रतीत होता है। मण्डप, महामण्डप और गर्भगृह इसे निरन्धारप्रासाद[3] सिद्ध करते हैं। इसके बहिर्भाग पर सादी पंक्तियाँ हैं।

यह उल्लेखनीय है कि देवगढ़ के मन्दिरों में दुमंजिले दो अपवादों में से यह दूसरा है। मं. सं. ३ (पूर्वी भाग) अब इकमंजिला ही कर दिया गया है, परन्तु यह अपने पूर्वरूप में ही विद्यमान है।

आठ स्तम्भों पर आधारित इसके लम्बे मण्डप को अर्धमण्डप की अपेक्षा मण्डप ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। प्रवेश-द्वार सुन्दरता से अलंकृत है। महामण्डप में, भित्तियों में चिने हुए १२ स्तम्भों के अतिरिक्त चार मध्यवर्ती स्तम्भ हैं। गर्भगृह में तीन तीर्थंकर मूर्तियाँ स्थापित हैं, जिनमें से एक दूसरे खण्ड से लाकर रखी गयी है।

उत्तर-पूर्व के कोने में दूसरे खण्ड के लिए सोपान-मार्ग है[4], जिसका जीर्णोद्धार १९३८ ई. में जिनेन्द्र-गजरथ-प्रतिष्ठा महोत्सव के समय कराया गया था।

दूसरे खण्ड पर महामण्डप का द्वार विशेष रूप से अलंकृत है और उसपर अंकित मदनिकाएँ तथा अन्य मूर्तियाँ खजुराहो-कला का स्मरण दिलाती हैं। महामण्डप में २५ शिलाफलकों में से १८ पर कायोत्सर्ग और ७ पर पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। गर्भगृह का प्रवेश-द्वार सुचारुता से अलंकृत है। उसमें वेदी पर पाँच तीर्थंकर मूर्तियाँ स्थापित हैं, जिनमें से एक नवीन सफ़ेद संगमरमर की है।

दूसरे खण्ड की छत पर (गर्भगृह के ऊपर) एक लघु शिखराकार पाषाणखण्ड जीर्णोद्धार के समय स्थापित कर दिया गया है।

मन्दिर संख्या १२

माप

अर्धमण्डप की लम्बाई (उ.-द.) १२ फ़ी. ८ इंच
अर्धमण्डप की चौड़ाई (पू.-प.) ११ फ़ी. ९ इंच

---

१. दे. चित्र सं. १५। २. दे. इस मन्दिर की विन्यास रूपरेखा चित्र क्र. ३८। ३. ऐसा प्रासाद जिसमें प्रदक्षिणा पथ नहीं होता।
४. दे.—इस मन्दिर की विन्यास रूपरेखा चित्र क्र. ३८।

अर्ध मण्डप की छत की ऊँचाई १३ फ़ी. ८ इंच
अर्धमण्डप और महामण्डप के बीच के
चबूतरे की लम्बाई (उ.-द.) ४२ फ़ी. ९ इंच
चौड़ाई (पू.-प.) १६ फ़ी. ४ इंच[1]
ऊँचाई ३ फ़ी. ५ इंच
महामण्डप का अधिष्ठान समचतुष्कोण ४२ फ़ी. ९ इंच[2]
महामण्डप के अधिष्ठान की ऊँचाई २ फ़ी. १० इंच
अन्तराल और महामण्डप के बीच का अन्तर ६ इंच
अन्तराल की लम्बाई (उ. द.) १० फ़ी.
अन्तराल की चौड़ाई (पू.-प.) ७ फ़ी. २ इंच
अन्तराल के बायें ओर की मढ़िया की लम्बाई (उ.-द.) ९ फ़ी. ९ इंच
,, ,, चौड़ाई (पू.-प.) ७ फ़ी. २ इंच
,, अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. ७ इंच
अन्तराल के दायीं ओर की मढ़िया की लम्बाई (उ.-द. १० फी. ६ इंच
,, ,, चौड़ाई (पू.-प.) ७ फ़ी. २ इंच
,, अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. ९ इंच
प्रदक्षिणा पथ के अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) ४० फ़ी. ५ इंच
,, ,, चौड़ाई (उ.-द.) ३५ फी.[3]
प्रदक्षिणा पथ की चौड़ाई (भीतर की ओर) ४ फी. ३ इंच
प्रदक्षिणा पथ के अधिष्ठान की ऊँचाई २ फ़ी. ९ इंच
सतह से महामण्डप के छत की ऊँचाई १५ फ़ी. ४ इंच
सतह से प्रदक्षिणा पथ के छत की ऊँचाई १७ फ़ी.
छत से अंग शिखर की ऊँचाई २२ फ़ी.
छत से सम्पूर्ण शिखर की अनुमानित ऊँचाई ४५ फ़ी.

विवरण

इस अत्यन्त भव्य पश्चिमाभिमुख मन्दिर[4] के आकार-प्रकार में अनेक सम्भावनाएँ छिपी हैं। वर्तमान में यह पंचायत शैली[5] का सन्धार-प्रासाद[6] है। हम सर्वप्रथम अर्धमण्डप[7] में प्रवेश करते है। उसमें से छह सीढ़ियों द्वारा एक चौड़े चबूतरे पर आते हैं। तब छह-छह स्तम्भों की छह पंक्तियों पर आधारित[8] एक भव्य महामण्डप में प्रवेश करते हैं, जिसके बायें मं. सं. १३ और मं. सं. १४ की दक्षिणी दीवारें स्थित हैं। इन दीवारों और महामण्डप[9] के बीच लगभग ३ फ़ी. का जो अन्तर था उसमें महामण्डप के फ़र्श से १ फ़ी. ६ इंच ऊँची और ४२ फ़ी. लम्बी वेदी बना दी गयी है और उसपर २० शिलापट्ट स्थापित किये गये हैं। जिनमें से दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। महामण्डप से अन्तराल में पहुँचा जाता है जिसके दायें-बायें एक-एक मढ़िया विद्यमान हैं। बायीं ओर की मढ़िया

---

१. श्री कनिंघम ने इसे १६ फ़ी. ७ इंच नापा था। दे.—ए. एस. आइ. आर., जिल्द १०, पृ. १०१। (ब) श्री फुहरर ने इसे १६ फी. ६ इंच ही नापा। दे.—मा. ए. इं., पृ. १२०। २. श्री कनिंघम और फुहरर—दोनों ने ही इसे ४२ फी. ३ इंच समचतुष्कोण नापा था। दे.—क्रमशः (अ) ए. एस. आइ. आर., जि. १०, पृ. १००। (ब) मा. ए. इं., पृ. १२०। ३. श्री कनिंघम और श्री फुहरर ने इसका माप ३६ फी. २ इंच + ३४ फी. ३ इंच प्रस्तुत किया है। दे. (अ) कनिंघम : वही, पृ. १००। (ब) फुहरर : वही, पृ. १२०। ४. दे.—चित्र, सं. १६ से २५ तक। ५. पंचायतन शैली के दो रूप प्रचलित थे. प्रथम रूप में वे मन्दिर आते हैं जिनमें मण्डप, महामण्डप, अन्तराल, गर्भगृह और प्रदक्षिणापथ ये पाँच अंग (आयतन) होते हैं, द्वितीय रूप में वे मन्दिर आते हैं जिनके चारों कोनों पर एक-एक मन्दिर (१+४=५) और होते हैं। ६. ऐसा प्रासाद जिसमें प्रदक्षिण-पथ होता है। ७. दे.—चित्र सं. १६। ८. दे.—महामण्डप की विन्यास रूपरेखा चित्र क. ६ तथा चित्र सं. १७। ९. दे.—चित्र सं. १७।

में विंशतिभुजी चक्रेश्वरी (चि. सं. ९९) और दायीं और की में पद्मावती (चित्र सं. १०६) यक्षी की मूर्तियाँ थीं, जिन्हें अब वहाँ से धर्मशाला में स्थानान्तरित कर दिया गया है। प्रदक्षिणा पथ में ५४ शिलाफलक स्थापित हैं, जिनमें से छह पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों की विशालाकार मूर्तियाँ अंकित हैं। इनमें से १५ अभिलिखित हैं। अन्तराल से चार सीढ़ियों द्वारा उतरकर गर्भगृह में पहुँचा जाता है। इसमें एक विशालाकार कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्ति (चित्र सं. ५१) है, जो यहाँ की मौलिक मूर्ति है। इसके अतिरिक्त प्रवेश-द्वार से सटी हुई दायें-बायें दो तथा विशालाकार मूर्ति के दोनों ओर एक-एक चँवरधारी की और उनके भी पश्चात् एक-एक अम्बिका की मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

यह यहाँ का ऐतिहासिक और भव्य मन्दिर है। इसके महामण्डप में अठारह लिपियों और भाषाओंवाला 'ज्ञानशिला' नामक सुप्रसिद्ध अभिलेख प्राप्त हुआ है[1]। इसी के अर्धमण्डप के एक स्तम्भ पर गुर्जर-प्रतिहारवंशी राजा भोज का समय और राज्यसीमा निर्धारित करनेवाला अभिलेख उत्कीर्ण है[2]। इसके प्रवेशद्वार[3] और शिखर[4] अत्यन्त कलापूर्ण तथा भव्य है। इसके प्रदक्षिणा पथ की बहिर्भित्तियों पर जैन शासन देवियों की सुन्दर और महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ (दे.—चित्र १०१,१०२) अंकित हैं।

मन्दिर संख्या १३

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) ३५ फ़ी.
अधिष्ठान की चौड़ाई (उ. द.) १८ फी.
अधिष्ठान—समतल
मण्डप की लम्बाई (पू.-प.) २५ फ़ी. ६ इंच
मण्डप की चौड़ाई (उ.-द.) ८ फ़ी. ५ इंच
गर्भगृह की लम्बाई (उ.-द.) ८ फ़ी. ५ इंच
गर्भगृह की चौड़ाई (पू.-प.) ६ फ़ी. २ इंच
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई १० फ़ी.

विवरण

इस मन्दिर का मण्डप उत्तराभिमुख है, जबकि इसका गर्भगृह पूर्वमुख। इसके मण्डप में विद्यमान २० शिलापट्टों पर विभिन्न तीर्थंकरों की कायोत्सर्गासन और पद्मासन मूर्तियाँ अंकित है। गर्भगृह में चार वेदियों पर विद्यमान सात शिलापट्टों पर तीर्थंकरों की आठ मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इस मन्दिर की अनेक मूर्तियाँ कला और सज्जा की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

मन्दिर संख्या १४

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) २६ फ़ी.
अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) २५ फ़ी. ६½ इंच
अधिष्ठान की ऊँचाई ८ इंच
अधिष्ठान से मण्डप के अधिष्ठान की ऊँचाई ९½ इंच
अधिष्ठान से मण्डप की छत की ऊँचाई ८ फ़ी. ५ इंच
अधिष्ठानसे गर्भगृह की छत की ऊँचाई १० फ़ी. १ इंच।

---

१. दे.—चित्र सं. ४६। २. अभिलेख के लिए दे.। परिशिष्ट दो, अभिलेख क. एक। ३. दे.—चित्र सं. १८। ४. दे.—चित्र सं. २४ और २५।

विवरण

आठ चतुष्कोण स्तम्भों पर आधारित मण्डप में से इस मन्दिर के गर्भगृह में प्रवेश करते ही सहसा यह विश्वास नहीं होता कि यह भवन मूलरूप में मन्दिर रहा होगा। प्रथम तो इसमें बहुत अधिक परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया है, दूसरे इसमें एक मन्दिर की अपेक्षा निवासस्थान के लक्षण अधिक प्रतीत होते हैं। वर्तमान में गर्भगृह को ५ फ़ी. १० इंच ऊँचे शिलाफलकों की दीवार खड़ी कर दो कक्षों में विभाजित कर दिया गया है और प्रत्येक कक्ष में ३ फ़ी. ५ इंच ऊँचे और १ फ़ी. ९½ इंच चौड़े एक-एक द्वार समाविष्ट हैं। दायें कक्ष में छह शिलापट्टों पर छह कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा बायें कक्ष में सात शिलापट्टों पर विभिन्न तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। दायें कक्ष की तीन और बायें कक्ष की एक मूर्ति अभिलिखित हैं।

मन्दिर संख्या १५

माप

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) ३६ फ़ी. २ इंच
मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) ३१ फ़ी. १ इंच
अधिष्ठान (मन्दिराकार) की ऊँचाई ३ फ़ी. ३ इंच
छत से गुमटी के अधिष्ठान की ऊँचाई २ फ़ी. ८ इंच
गुमटी का अधिष्ठान समचतुष्कोण ८ फ़ी. १० इंच
छत से शिखर के आधार की ऊँचाई १३ फ़ी. १ इंच
शिखर के आधार से शिखर की ऊँचाई ९ फ़ी.
शिखर की परिधि २१ फ़ी. ८ इंच

विवरण

इस पश्चिमाभिमुख मन्दिर[1] के आठ स्तम्भों पर आधारित अर्धमण्डप में पाँच शिलापट्ट विद्यमान हैं, जिनमें से चार अपनी वेदियों पर अवस्थित हैं। उनमें से दो पर पद्मासन और तीन पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं तथा एक पर एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है। प्रवेश-द्वार की चौखट सुचारुता से अलंकृत है।

महामण्डप चार-चार स्तम्भों की चार पंक्तियों पर आधारित है। उसमें १८ शिलापट्ट रखे हैं जिनमें से छह लघुवेदियों पर हैं और दो पर एक-एक पंक्ति के लेख उत्कीर्ण हैं। बाहरी ओर के १२ स्तम्भ दीवार में चिने हुए हैं और शेष चार मध्य में स्थित हैं जो अत्यन्त अलंकृत हैं।

महामण्डप की चारों दिशाओं में एक-एक गर्भगृह की स्थिति[2] से स्पष्ट है कि यह मन्दिर पंचायतन शैली का है। पश्चिमी गर्भगृह अर्धमण्डप का भी कार्य करता है और उसके दायें और बायें एक-एक वेदी है। उत्तरी गर्भगृह में बाहर की ओर एक विशाल पद्मासन और उसके दोनों ओर एक-एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ स्थापित हैं। भीतर की ओर अनेक मूर्तिखण्ड रखे हैं। पूर्वी गर्भगृह में बाहर की ओर द्वार पर गंगा-यमुना एवं भीतर एक विशाल पद्मासन उसके दोनों ओर एक-एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ स्थित हैं। इस गर्भगृह के भीतरी ओर जो बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ (चित्र सं. ५४) की पद्मासन[3] मूर्ति स्थित है वह प्राचीन कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इस मूर्ति के बायीं ओर पार्श्वनाथ की एक पद्मासन मूर्ति भी अवस्थित है। दक्षिणी गर्भगृह की बाहरी ओर दो कायोत्सर्गासन मूर्तियाँ हैं, जिनके मध्य अब एक लौह-द्वार है। अनुमान है कि इस द्वार के स्थान पर कोई मूर्ति रही होगी जो या तो नष्ट हो गयी या स्थानान्तरित कर दी गयी है। इस गर्भगृह के भीतर अनेक मूर्ति-खण्ड भरे पड़े हैं।

---

१. दे. चित्र सं. २६। २. इस मन्दिर की समग्र स्थिति की जानकारी के लिए देखिए—विन्यास रूपरेखा चित्र क्र. ४०।
३. यह मूर्ति नेमिनाथ की ही है. महावीर की नहीं, विस्तार के लिए दे.-पृ. १५८-५६।

मन्दिर संख्या १६

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) ४९ फ़ी. ४ इं.
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) २९ फ़ी. १० इं.
अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी.
अधिष्ठान से अर्धमण्डप की छत की ऊँचाई १० फ़ी. २ इं.
अधिष्ठान से महामण्डप की छत की ऊँचाई ११ फ़ी.
महामण्डप की छत से गुमटी के छत की ऊँचाई–७ फ़ी.
गुमटी की छत से शिखर की ऊँचाई ८ फ़ी. ८ इं.
गुमटी की परिधि–१६ फ़ी. ५ इं.

विवरण

चार अलंकृत स्तम्भों पर आधारित मण्डप और छह-छह स्तम्भों की तीन पंक्तियों पर आधारित एक लम्बे महामण्डप से युक्त यह पश्चिमाभिमुख मन्दिर[1] अपने मूल रूप में नहीं रह सका है। ऊँची साधारण-सी गुमटीवाला इसका मण्डप देवगढ़ के स्थापत्य में विशेष कहा जा सकता है। द्वार का तोरण अलंकृत है। महामण्डप के बाहरी १४ स्तम्भों को दीवार में चिन दिया गया है, अतः इसके मध्य केवल चार स्तम्भ ही बच रहे है। महामण्डप में २५ विशालाकार शिलापट्टों में से आठ पर पद्मासन तथा १६ पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों की तथा एक पर अम्बिका की मूर्तियाँ अंकित हैं।

मन्दिर संख्या १७

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) ४४ फ़ी. ८ इं.
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) ४२ फ़ी. २ इंच
अधिष्ठान की ऊँचाई–२ फ़ी. ५ इं.
मण्डप (पू.-प.) ८ फ़ी.
महामण्डप की लम्बाई (पू.-प.) ३४ फी.
महामण्डप की चौड़ाई (उ.-द.) २४ फ़ी. ६ इं.
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई–१० फी. ११ इं.
छत पर विद्यमान गुमटी के अधिष्ठान की ऊँचाई १० इंच
छत से गुमटी के छत की ऊँचाई ८ फ़ी. ९ इंच
गुमटी के आधार की ऊँचाई १ फ़ी. १ इं.
गुमटी के छत से शिखर की ऊँचाई ७ फ़ी. ६ इं.
शिखर की परिधि १४ फ़ी. १० इं.

विवरण

इस पश्चिमाभिमुख मन्दिर के मण्डप में सामने के चार स्तम्भों के अतिरिक्त अन्य चार स्तम्भ दीवाल में चिने हुए हैं। मण्डप में तीन शिलापट्टों पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। प्रवेश-द्वार सामान्य रूप से अलंकृत है, उसका सिरदल (उष्णीष) बदला हुआ प्रतीत होता है, जब कि शेष अंश अपने मूल रूप में हैं। इसका सामान्य जीर्णोद्धार

१. दे.—चित्र सं. २७।

हुआ है। इसके महामण्डप में मध्यवर्ती चार स्तम्भ अपनी मूलस्थिति में प्रतीत होते हैं। शेष १२ स्तम्भ दीवारों में चिने हुए देखे जा सकते हैं। इस महामण्डप में विद्यमान ३१ शिलापट्टों में से २२ पर कायोत्सर्गासन और शेष पर पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियां अंकित हैं।

मन्दिर संख्या १८

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) ६७ फ़ी. ६ इं.
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) २६ फ़ी. ९ इं.
अधिष्ठान की ऊँचाई ४ फ़ी.
मण्डप के आगे के छायाहीन चबूतरे की लम्बाई (पू.-प.) २६ फ़ी. ९ इंच
मण्डप के आगे के छायाहीन चबूतरे की चौड़ाई (उ.-द.) २५ फ़ी. ६ इं.
मण्डप के चबूतरे के अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. १० इं.
चबूतरे के छत की ऊँचाई १२ फ़ी. ६ इं.
छत से शिखर के आधार की ऊँचाई ९ इं.
शिखर के आधार से शिखर की ऊँचाई १२ फ़ी. ६ इं.
आधार से ९०° के कोण तक ४ फ़ी. १० इं. और इसके पश्चात् शिखर अठपहलू हो जाता है।

विवरण

यह दक्षिणाभिमुख मन्दिर[१] अपनी निर्माण-शैली में खजुराहो के स्मारकों-जैसा प्रतीत होता है। इसकी अधिकांश पृष्ठभूमि अपने मौलिक रूप में है। इसके सामने के चबूतरे पर खजुराहो के 'घण्टई-मन्दिर'-जैसे दो स्तम्भ खड़े हैं। इसके बाद के मण्डप में सामने के चार स्तम्भों के अतिरिक्त शेष चार स्तम्भ दीवार में चिने हुए देखे जा सकते हैं। मण्डप में विद्यमान सात शिलापट्टों में से तीन पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं।

महामण्डप का प्रवेश-द्वार अत्यन्त सुन्दरता से अलंकृत है और उसपर अंकित मदनिकाएँ, युग्म, धार्मिक, सामाजिक एवं संगीत प्रधान दृश्य खजुराहो-कला का स्मरण दिलाते हैं। महामण्डप के मध्यवर्ती चार स्तम्भों के अतिरिक्त शेष १२ स्तम्भ दीवारों में चिने हुए दीख पड़ते हैं। इसमें विद्यमान १९ शिलापट्टों में से ग्यारह पर पद्मासन और आठ पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियां उत्कीर्ण हैं!

इस मन्दिर[२] के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार का सिरदल बहुत नीचा है। प्रतीत होता है कि चौखट का ऊपरी भाग बदला तो है ही, स्थानापन्न प्रस्तर खण्ड छोटा भी है। द्वारपक्षों पर गंगा-यमुना का मनोरम अंकन है। गर्भगृह में पाँच शिलापट्ट जड़े हुए हैं। गर्भगृह में अवस्थित ७ फ़ी. ७ इं. × २ फ़ी. २$\frac{१}{२}$ इंच की विशालाकार कायोत्सर्गासन मूर्ति इस मन्दिर के दोनों प्रवेश-द्वारों में से अन्दर नहीं आ सकती। अतः अनुमान है कि पहले मूर्ति स्थापित करके बाद में गर्भगृह का निर्माण किया गया और द्वार फोड़कर उसे मूल-मन्दिर से सम्बन्धित कर दिया गया होगा।

मन्दिर संख्या १९

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) ४० फ़ी.
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) २८ फ़ी.
अधिष्ठान की ऊँचाई ८ इं.

---

१. दे.—चित्र सं. २८। २. दे.—इस मन्दिर की विन्यास रूपरेखा चित्र क्र. ४१।

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई १० फ़ी. २ इं.

छत से गुमटी के अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. ५ इं.

छत से गुमटी के छत की ऊँचाई ११ फ़ी. १० इं.

गुमटी की छत से गुमटी की शिखर की ऊँचाई ७ फ़ी. ३ इं.

शिखर की परिधि १६ फ़ी. ९ इं.

विवरण

इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर के मण्डप में सामने के चार स्तम्भों के अतिरिक्त शेष चार स्तम्भ दीवार में चिने हुए हैं। प्रवेश-द्वार गंगा-यमुना, नाग-नागी, तीर्थंकर मूर्तियों तथा बाहुबली और भरत चक्रवर्ती की मूर्तियों से सुसज्जित है। इस मन्दिर के मध्यवर्ती चार स्तम्भों के अतिरिक्त शेष १२ स्तम्भ दीवारों में चिने हुए देखे जा सकते हैं। इसमें १२ शिलापट्ट विद्यमान हैं। इनमें से सात के अत्यन्त सुन्दर सिर किन्हीं मूर्तिभंजकों द्वारा १९५९ ई. में काट लिये गये हैं।

मन्दिर संख्या २०

माप

अधिष्ठान मन्दिराकार ३ इं. ऊँचा

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) २५ फ़ी. ८ इं.

मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) २३ फ़ी. ८ इं.

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई १० फ़ी.

विवरण

इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर का प्रवेश-द्वार गंगा-यमुना और तीर्थंकर मूर्ति आदि के अंकन से अलंकृत है। इसके मण्डप के मध्यवर्ती चार १२ पहलू स्तम्भों के अतिरिक्त शेष १२ स्तम्भ दीवारों में चिने हुए देखे जा सकते हैं। इस मण्डप में २७ शिलापट्टों पर १४ कायोत्सर्गासन और १३ पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। इसके गर्भगृह के द्वार पर साधारण अलंकरण है। गर्भगृह में पांच शिलापट्टों पर (तीन पद्मासन और दो कायोत्सर्गासन) मूर्तियों का अंकन है। भगवान् महावीर की पद्मासन मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है।

मन्दिर संख्या २१

माप

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) ३४ फ़ी. १० इं

मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) १० फ़ी. ११ इं.

मन्दिर का अधिष्ठान समतल

इस मन्दिर में पूर्व और पश्चिम में एक-एक कक्ष और उनके मध्य में एक मण्डप है। मण्डप की लम्बाई १८ फ़ी. ६ इं. है तथा पूर्व और पश्चिम के कक्षों की लम्बाई ८ फ़ी. २ इंच है।

विवरण

यह समतल मन्दिर[1] प्राचीन-स्मारक के स्थान पर एक नवीन कृति है। इसमें पूर्व और पश्चिम में एक-दूसरे के सामने द्वारवाले दो कक्ष हैं। इनके मध्य में एक मण्डप है, जिसके मध्यवर्ती दो स्तम्भों के अतिरिक्त शेष छह स्तम्भ

---

१. दे.—चित्र सं. २१।

भित्तियों में चिने हुए हैं। मण्डप में एक स्तम्भ-खण्ड रखा है, जिसपर छह पंक्तियों का एक अभिलेख है। इसके अतिरिक्त एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर की खण्डित मूर्ति भी मण्डप में स्थित है।

पश्चिम का पूर्वाभिमुख कक्ष

इसमें विद्यमान आठ शिलापट्टों में से एक पर पद्मासन और सात पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। इनमें से तीन पर अभिलेख हैं। १९५९ ई. में इस कक्ष की एक अत्यन्त भव्य मूर्ति का सिर मूर्तिभंजकों द्वारा काट लिया गया है।

पूर्व का पश्चिमाभिमुख कक्ष

इसमें आठ शिलापट्ट विद्यमान हैं। इस कक्ष की चार अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों के सिर मूर्तिभंजकों द्वारा १९५९ ई. में काटकर ले जाये गये हैं। सिरविहीन होकर भी मूर्तियाँ बहुत प्रभावक हैं!

मन्दिर संख्या २२

माप

मन्दिर की लम्बाई (उ.-द.) ६ फ़ी. ९ इं.
मन्दिर की चौड़ाई (पू.-प.) ५ फ़ी. २ इं.
अधिष्ठान (मन्दिराकार) की ऊँचाई ५ इं.
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ७ फ़ी. ८ इं.
छत से शिखर के आधार की ऊँचाई १० इं.
छत से शिखर की ऊँचाई ६ फ़ी. ४ इं.
शिखर की परिधि १४ फ़ी. ४ इं.

विवरण

इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर[1] का मण्डप दो स्तम्भों और प्रवेश-द्वार के उष्णीष पर आधारित है। प्रवेश-द्वार साधारण अलंकृत है, सिरदल पर एक पंक्ति का अभिलेख उत्कीर्ण है। दीवारों के बहिर्भाग पर तीनों ओर अलंकृत शिखराकृतियों का अंकन है। इसके गर्भगृह में विद्यमान तीन शिलापट्टों पर तीन पद्मासन तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं।

मन्दिर संख्या २३

माप

मन्दिर की लम्बाई (उ.-द.) १४ फ़ी. १० इं.
मन्दिर की चौड़ाई (पू.-प.) ८ फ़ी.
मन्दिर के सामने बढ़ा हुआ अधिष्ठान ६ फ़ी. १० इं.
सतह से अधिष्ठान की ऊँचाई २ फ़ी. ८ इं.
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ६ फ़ी. ३ इं.
छत से गुमटी के आधार की ऊँचाई १० इं.
छत से गुमटी की ऊँचाई ५ फ़ी. ३ इं
गुमटी-चतुष्कोण

---

१. दे. – चित्र सं. ३०।

विवरण

यह मन्दिर अपने आकार-प्रकार से सहस्रकूट चैत्यालय का आभास देता है। गर्भगृह के सामने अतिरिक्त अधिष्ठान कदाचित् मण्डप का अवशेष है। प्रवेश-द्वार अत्यन्त भव्यता से अलंकृत है। उसके सिरदल पर २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष पार्श्व का स्पष्ट अंकन है। गर्भगृह में १ फ़ी. ६ इं. ऊँची, १ फ़ी. ७ इं. चौड़ी और ३ फ़ी. १० इं. लम्बी बेदी पर एक भी मूल मूर्ति स्थापित नहीं है। गर्भगृह में अवस्थित पाँच शिलापट्टों में से तीन पर कायोत्सर्गासन और एक पर पद्मासन तीर्थंकर तथा एक पर अम्बिका यक्षी अंकित है।

मन्दिर संख्या २४

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) १५ फ़ी. २ इं.
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) ९ फ़ी. ३ इं.
अधिष्ठान की ऊँचाई २ फ़ी ५ इं.
अधिष्ठान से मण्डप की छत की ऊँचाई ७ फ़ी. ७ इं.
अधिष्ठान से गर्भगृह की छत की ऊँचाई ७ फ़ी. ११ इं.
गर्भगृह की छत से गुमटी के आधार की ऊँचाई ९ इं.
गर्भगृह की छत से शिखर की ऊँचाई ७ फ़ी. ११ इं.
गुमटी अठपहलू।

विवरण

यह दक्षिणाभिमुख मन्दिर अधिष्ठान और उसके ऊपर लगभग दो फ़ुट की ऊँचाई तक ही मूलरूप में अवशिष्ट है। जीर्णोद्धार के समय इसे इसके मूलरूप के अनुरूप ही निर्मित कराया गया है। सर्वप्रथम हम इसके एक साधारण मण्डप में से अलंकृत प्रवेश द्वार तक पहुँचते हैं, जिसपर गंगा-यमुना तथा अन्य अलंकरणों के साथ तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन हुआ है। द्वार के सिरदल पर एक पंक्ति का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। गर्भगृह में पाँच शिलाफलक भित्तियों में चिने हुए हैं। इनमें से दो अभिलिखित हैं। विद्यमान शिलापट्टों में से तीन पर पद्मासन और एक पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा एक पर धरणेन्द्र पद्मावती (यक्ष-यक्षी) का अंकन है।

मन्दिर संख्या २५

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) २५ फ़ी. १० इं.
अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) १५ फ़ी. १० इं.
अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. १ इं.
अधिष्ठान से मण्डप की छत की ऊँचाई ७ फ़ी. ७ इं.
अधिष्ठान से गर्भगृह की छत की ऊँचाई ८ फ़ी. ६ इं.
गर्भगृह की छत से शिखर की ऊँचाई ५ फ़ी. ५ इं.
शिखर में १४ मेखलाएँ (चतुष्कोण)

विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर का मण्डप चार स्तम्भों पर आधारित है, सामने के दो स्तम्भों के अतिरिक्त शेष दो स्तम्भ भित्तियों में चिने हुए हैं। प्रवेश-द्वार साधारण है। उसके सिरदल के मध्य में कायोत्सर्गासन पार्श्वनाथ का अंकन

है। इस मूर्ति के बायें एक पंक्ति का अभिलेख भी उत्कीर्ण है।

गर्भगृह में पाँच शिलापट्ट अवस्थित हैं, जिनमें से दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है। एक मूर्ति अभिलिखित भी है।

मन्दिर संख्या २६

माप

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) २९ फ़ी. १० इं.
मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) १८ फ़ी. ९ इं.
अधिष्ठान मन्दिराकार समतल
अधिष्ठान (सतह) से मण्डप की छत की ऊँचाई ९ फ़ी. ९ इं.
अधिष्ठान से गर्भगृह की छत की ऊँचाई ८ फ़ी. ५ इं.

विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर[1] का मण्डप आठ स्तम्भों पर आधारित है। सामने के मध्यवर्ती दो स्तम्भों के अतिरिक्त शेष छह भित्तियों से सटे हुए हैं। मण्डप के दायें और बायें ३ फ़ी. ७ इं. ऊँचे, ८ फ़ी. ४ इं. लम्बे तथा २ फ़ी. १० इं. चौड़े चबूतरे हैं। मण्डप में पाँच शिलापट्ट विद्यमान हैं, जिनमें से एक पर मात्र भामण्डल शेष है, सम्भवतः उसपर की मूर्ति काट ली गयी है। प्रवेश-द्वार सामान्य अलंकृत हैं, इसके सिरदल पर मध्य में पंच फणावलियुक्त कायोत्सर्ग सुपार्श्वनाथ का अंकन है। गर्भगृह के मध्यवर्ती दो के अतिरिक्त शेष सभी १० स्तम्भ भित्तियों में चिने हुए हैं। सभी स्तम्भ सादे और चतुष्कोण हैं। गर्भगृह में १३ प्रस्तर खण्ड विद्यमान हैं उनमें से सात पर अभिलेख हैं। यहाँ की कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों के सिर १९५९ ई. में मूर्तिभंजकों द्वारा काट लिये गये हैं, जिनमें से एक मूर्ति धरणेन्द्र-पद्मावती की भी है।

मन्दिर संख्या २७

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) २३ फ़ी.
अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) १३ फ़ी. ९ इं.
अधिष्ठान (समतल) से छत की ऊँचाई ६ फ़ी. ११ इं.
छत से शिखर की ऊँचाई ६ फ़ी. ७ इं.
शिखर का आधार (उत्तर-दक्षिण) ६ फ़ी. ८ इं.
शिखर का आधार (पूर्व-पश्चिम) ५ फ़ी. ९ इं.
शिखर मेखलाबद्ध—

विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर[1] का मण्डल स्तम्भों पर आधारित न होकर दीवारों से आवृत है। मण्डप के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का पद्मासन में और उनके दायें पार्श्वनाथ तथा बायें सुपार्श्वनाथ का कायोत्सर्गासन में अंकन हुआ है। इसके पार्श्व में दायीं ओर एक पंक्ति का अभिलेख भी उत्कीर्ण है। गर्भगृह के द्वार के ऊपर मध्य में कायोत्सर्गासन ऋषभनाथ अंकित हैं। गर्भगृह में अवस्थित दो शिलापट्टों में से एक पर चौबीसी का अंकन है।

---

१. दे.—चित्र सं. ३१।

मन्दिर संख्या २८

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) ३० फ़ी. ८ इं.
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) २१ फ़ी.
अधिष्ठान की ऊँचाई—समतल
मन्दिर की लम्बाई (उ.-द.) २५ फ़ी. ११ इं.
मन्दिर की चौड़ाई (पू.-प.) १६ फ़ी.
मण्डप की छत की ऊँचाई ९ फ़ी. ८ इं.
गर्भगृह की छत की ऊँचाई ११ फ़ी. ६ इं.
अंग-शिखर की ९०° के कोण तक ऊँचाई (गर्भगृह की छत से) ६ फ़ी. ८ इंच
उसके ऊपर बने त्रिकोण की अनुमानित ऊँचाई ५ फ़ी.
मुख्य शिखर की अनुमानित ऊँचाई (गर्भगृह की छत से) २५ फ़ी.

विवरण

पूर्णभद्र शैली[१] में निर्मित दक्षिणाभिमुख इस मन्दिर[२] का अर्धमण्डप वर्तमान में छायाहीन अवस्था में है[३]। उसके सामने के दो स्तम्भों के चिह्नों से और मण्डप की छत से इसकी छत के जुड़े होने के स्पष्ट प्रमाणों से निश्चित है कि इसपर छाया थी। मण्डप का प्रवेश-द्वार अलंकृत है[४]। मण्डप का आकार बहुत छोटा है और उसमें प्रवेश करते ही हम तुरन्त गर्भगृह के साधारण-से द्वार में पहुँचते हैं। गर्भगृह १ फ़ी. १० इंच गहरा है, जिसमें दो सीढ़ियों द्वारा उतरा जाता है। इसमें सात शिलापट्ट विद्यमान हैं जिनमें से दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है और तीन अभिलिखित हैं।

मुख्य शिखर अधिष्ठान से प्रारम्भ होता है और लगभग १६ फ़ी. तक कम और उसके ऊपर अधिकाधिक पतला होता जाता है। दक्षिण में (प्रवेश-द्वार के ऊपर) एक अंगशिखर (चित्र सं. ३२) है जिसपर सुन्दर अलंकरण एवं परिकर के मध्य तीर्थंकर मूर्तियाँ जड़ी हैं। इसकी एक देवकुलिका का तोरण और मुख्यमूर्ति टूटकर गिर गयी थी। जीर्णोद्धार के समय दूसरी मूर्ति तो वहाँ स्थापित कर दी गयी है, परन्तु तोरण आज भी अनुपस्थित है।

मन्दिर संख्या २९

माप

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) १२ फ़ी. ३ इंच
मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) १२ फ़ी.
अधिष्ठान समतल
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ७ फ़ी.

विवरण

सामान्य अलंकरण और सिरदल पर तीन तीर्थंकर मूर्तियों के अंकन से युक्त प्रवेश-द्वारवाले इस पश्चिमाभिमुख मन्दिर में एकमात्र लघु कक्ष है। इसकी वेदी पर छह शिलापट्ट स्थित हैं। इनमें से एक (संवत् १२०१ अभिलिखित) चौबीसी और दूसरा किसी विशाल मूर्ति के अलंकरण का अंश, महत्त्वपूर्ण हैं। चौबीसी के पृष्ठ भाग में, एक शिलापट्ट पर मात्र भामण्डल और सिंहासन शेष हैं। अनुमान है कि इसकी मूर्ति किसी मूर्तिभंजक द्वारा काट ली गयी है।

---

१. इसके लक्षण विस्तार के लिए दे. अपराजितपृच्छा, (बड़ौदा, १९५० ई.), १६४-१०। २. दे. चित्र सं. ३२। ३. इस मन्दिर के स्थिति-विस्तार आदि के लिए दे. विन्यास रूपरेखा चित्र क. ४२। ४. दे. चित्र सं. ३३।

मन्दिर संख्या ३०

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) २४ फ़ी. ४ इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) १५ फ़ी. १० इंच

अधिष्ठान—समतल

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई १० फ़ी. ३ इंच

विवरण

यह पश्चिमाभिमुख मन्दिर[1] आठ स्तम्भों पर आधारित है और उसका मण्डप ६ फ़ी. ९ इंच चौड़ा और ९ फ़ी. ५ इंच लम्बा है। इसका प्रवेश-द्वार सामान्य रूप से अलंकृत है और उसके सिरदल पर तीन तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है। इसके गर्भगृह में मध्यवर्ती दो स्तम्भों के अतिरिक्त शेष आठ स्तम्भ दीवारों में चिने हुए हैं। इसमें तीन वेदियाँ हैं पर मूल-मूर्ति एक भी नहीं है। गर्भगृह में १२ शिलापट्ट विद्यमान हैं। इनमें से तीन अभिलिखित हैं। श्री साहनी ने इस मन्दिर में ४ फ़ी. ५ इंच की एक कायोत्सर्गासन मूर्ति के सिंहासन पर एक अभिलेख की सूचना दी है[2]। वह लेख यहाँ सिंहासन पर स्थित एक मूर्तिविहीन सिंहासन पर अंकित है। इस मन्दिर में शय्या पर लेटी 'जिन-माता' का अंकन बहुत भव्य है।

मन्दिर संख्या ३१

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) १४ फ़ी.

अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) १२ फ़ी. ९ इंच

अधिष्ठान—समतल

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ९ फ़ी.

विवरण

इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर[3] का प्रवेश-द्वार[4] अपने उच्चकोटि के अलंकरण के लिए उल्लेखनीय है। दोनों पक्षों पर सबसे नीचे गंगा-यमुना और सिरदल पर दायें पुस्तक एवं वीणाधारिणी सरस्वती तथा मध्य में तीर्थंकर शान्तिनाथ का अंकन है, जबकि बायीं ओर की देवी खण्डित हो चुकी है। तीर्थंकर मूर्तियों के दोनों ओर अंकित देव-देवियों में नाग और नागी का अंकन देवगढ़ में विरल ही दृष्टिगत होता है। अलंकरण के अन्तर्गत (द्वारपक्षों पर) अनेक देवों को एक-एक ऊँचे मुड्ढे पर अर्धस्थित अवस्था में अंकित दिखाया गया है। गर्भगृह में वेदिका पर शंखचिह्न से अंकित एकमात्र शिलापट्ट स्थापित है, जिसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाम की एक विशालाकार पद्मासन मूर्ति उत्कीर्ण है।

(ब) लघु मन्दिर

लघु मन्दिर : संख्या १

: मन्दिर संख्या १२ के दक्षिण में पूर्व की ओर स्थित :

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) १२ फ़ी. ८ इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) ८ फ़ी. ६ इंच

---

१. दे. चित्र सं. ३४। २. एनु. प्रो. रि. १९१७-१८, पृ. २०। ३. दे.—चित्र सं. ३६। ४. दे.—चित्र सं. ३५।

अधिष्ठान–समतल
अधिष्ठान से मण्डप की छत की ऊँचाई ७ फ़ी. ५ इंच
अधिष्ठान से गर्भगृह की ऊँचाई ८ फ़ी.

विवरण

यह लघु, किन्तु कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण, उत्तरमुख मन्दिर अपने मूलरूप में पूर्णतः विद्यमान है। इसका चार स्तम्भों पर आधारित मण्डप साधारण और प्रवेश-द्वार भव्यता से अलंकृत है। प्रत्येक भित्ति के बहिर्भाग पर चार स्तम्भाकृतियाँ हैं, और उनके मध्य में एक-एक शिखरयुक्त देवकुलिका का अंकन है, जिनमें एक-एक पद्मासन तीर्थंकर का अंकन है। गर्भगृह में पाँच शिलापट्ट स्थित हैं, जिनमें दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं।

लघु मन्दिर : संख्या २

: मन्दिर संख्या १२ के दक्षिण में मध्य का (मण्डपविहीन) :

माप

अधिष्ठान मन्दिराकार समतल
मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) ५ फ़ी. १० इंच
मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) ५ फ़ी. ९ इंच
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ७ फ़ी. २ इंच

विवरण

यह उत्तरमुख मन्दिर भी अपने मूल-रूप में स्थित है। इसका प्रवेश-द्वार साधारण है। पार्श्व की भित्तियों पर पाँच-पाँच और पीछे की भित्ति पर चार अलंकृत स्तम्भाकृतियाँ विद्यमान हैं। इसके गर्भगृह में तीन शिलापट्ट विद्यमान हैं, उनमें से एक पर कायोत्सर्गासन और शेष पर पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

लघु मन्दिर : संख्या ३

: मन्दिर संख्या १२ के दक्षिण में पश्चिमी ओर स्थित मण्डप :

माप

अधिष्ठान (मण्डपाकार)
मण्डप की लम्बाई (पू.-प.) ८ फ़ी.
मण्डप की चौड़ाई (उ.-द.) ७ फ़ी. १ इंच
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ११ फ़ी. १ इंच

विवरण

यह तीन ओर से खुला हुआ आधुनिक मण्डपाकार मन्दिर[1] है, जिसका निर्माण एक विशालाकार (७ फ़ी. ३ इंच × २ फ़ी. २ इंच) तीर्थंकर मूर्ति को छाया देने के लिए किया गया है। इस मूर्ति के बायीं ओर का चँवरधारी सम्भवतः काटकर ले जाया गया है।

लघु मन्दिर : संख्या ४

: मन्दिर संख्या १३ के सामने स्थित :

---

१. दे.—चित्र सं. ४६।

माप

अधिष्ठान—समतल

मन्दिर सम-चतुष्कोण ५ फ़ी. ७ इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ७ फ़ी. ३ इंच

छत से शिखर की ऊँचाई ५ फ़ी. ६ इंच

शिखर की परिधि १५ फ़ी. ५ इंच

विवरण

दक्षिणाभिमुख यह एक गुमटीदार लघु मन्दिर हैं, जिसका जीर्णोद्धार बहुत बड़ी मात्रा में किया गया है। प्रवेश-द्वार साधारणतः अलंकृत है, द्वार-पक्षों पर नीचे गंगा-यमुना और सिरदल पर मध्य में एक पद्मासन तीर्थंकर अंकित हैं। पश्चिमी भित्ति पर चार स्तम्भाकृतियाँ हैं, और उनके मध्य में एक शिखरयुक्त मण्डपाकृति में एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं। उत्तरी और पूर्वी दीवार पर भी वही दृश्य अंकित है, परन्तु पूर्वी दीवार पर शिखरयुक्त मण्डपाकृति मध्य में न होकर तीसरे और चौथे स्तम्भों के मध्य में है। इसके गर्भगृह में एक ५ इंच ऊँची, २ फ़ी. ७ इंच लम्बी और १ फ़ी. ३ इंच चौड़ी वेदी है, जिसपर कायोत्सर्गासन पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित है। कदाचित् यह यहाँ की मूल-मूर्ति है। इसके अतिरिक्त यहाँ दो शिलापट्ट और अवस्थित हैं, जिनपर पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

लघु मन्दिर : संख्या ५

: मन्दिर संख्या १५ के पीछे स्थित बड़ी मढ़िया :

माप

अधिष्ठान मन्दिराकार

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) १२ फ़ी. ६ इं.

मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) ८ फ़ी.

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ७ फ़ी. ९ इं.

विवरण

यह पश्चिममुख मन्दिर अपने मूलरूप में ही स्थित प्रतीत होता है। इसके प्रवेश-द्वार के सिरदल के मध्य में एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर अंकित हैं। इसकी बहिर्भित्ति सपाट किन्तु योजनाबद्ध है। इससे इसकी प्राचीनता का बोध होता है। अनुमान है कि इसपर भी गुमटी रही होगी, जो अब नहीं है। इसकी पूर्वी भित्ति से उत्तर की ओर नव-निर्मित जैन चहारदीवारी जुड़ जाती है। इसके गर्भगृह में अभी तीन और निर्मित छोटी वेदियों पर छह शिलापट्ट स्थित हैं, जिनमें से तीन पर कायोत्सर्गासन और शेष पर पद्मासन मूर्तियाँ अंकित हैं।

लघु मन्दिर : संख्या ६

: मन्दिर संख्या १५ के पीछे स्थित छोटी मढ़िया :

माप

अधिष्ठान मन्दिराकार

मन्दिर समचतुष्कोण ५ फ़ी. २ इं.

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ६ फ़ी. ४ इं.

विवरण

यह पश्चिमाभिमुख लघु-मन्दिर अधिकांशतः अपने मूलरूप में सुरक्षित है। इसका प्रवेश द्वार साधारण अलंकृत है। सिरदल के मध्य में पद्मासन तीर्थंकर अंकित है। भित्तियों पर, स्तम्भाकृतियों और उनके मध्य के स्थानों पर सुन्दर पत्रावली का अलंकरण है। इसका एक-प्रस्तरीय छत उल्लेखनीय है। इसके गर्भगृह में तीनों ओर नव-निर्मित लघु बेदियों पर पाँच शिलापट्ट अधिष्ठित हैं, जिनमें से एक पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों का अंकन है।

लघु मन्दिर : संख्या ७

: मन्दिर संख्या १९ के सामने स्थित :

माप

अधिष्ठान मन्दिराकार १ फ़ी. ऊँचा

मन्दिर समचतुष्कोण ५ फ़ी. ९ इं.

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ६ फ़ी. ६ इं.

विवरण

यह उत्तराभिमुख लघु-मन्दिर अपने मूल-रूप में अवस्थित है। यद्यपि इसमें जीर्णोद्धार का पर्याप्त कार्य हुआ है। प्रवेश-द्वार साधारण अलंकृत है। बहिर्भित्तियों पर सामान्य-सज्जा के साथ चार-चार स्तम्भाकृतियाँ अंकित हैं। गर्भगृह में स्थित चार शिलाफलकों में से एक पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

लघु मन्दिर : संख्या ८

: मन्दिर संख्या २६ के उत्तर में स्थित :

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) २१ फ़ी. ७ इं.

अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) ८ फ़ी. ४ इं.

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ७ फ़ी.

विवरण

यह पूर्वाभिमुख मन्दिर किसी प्राचीन ध्वस्त स्मारक के स्थान पर जीर्णोद्धार के समय निर्मित आधुनिक भवन है। इसके साधारण अलंकृत प्रवेश-द्वार के सिरदल के मध्य में कायोत्सर्गासन तीर्थंकर अंकित हैं। इसके गर्भगृह में विद्यमान चार शिलापट्टों पर (चार कायोत्सर्गासन और एक पद्मासन) पाँच मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। एक मूर्ति पर अभिलेख भी है।

लघु मन्दिर : संख्या ९

: मन्दिर संख्या २७ के दक्षिण में स्थित :

माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) २१ फ़ी. ५ इं.

अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) १३ फ़ी. १० इं.

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई ६ फ़ी. १० इं.

विवरण

यह पूर्वाभिमुख मन्दिर दो कक्षों में विभाजित है, दोनों में प्रवेश हेतु स्वतन्त्र द्वार हैं। यह पूर्णतः खण्डित किसी

भवन पर निर्मित प्राचीन शैली का आधुनिक मन्दिर है। इसके बायें कक्ष में—अवस्थित दो शिलाफलकों पर दो पद्मासन और दो कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। तथा दायें कक्ष में—केवल एक शिलापट्ट विद्यमान है, इसपर दो कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं, और दो छोटे-छोटे अभिलेख अंकित हैं।

(स) स्तम्भ

मन्दिर संख्या १ के पीछे स्थित सादा स्तम्भ

स्तम्भ संख्या १

माप

ऊँचाई ५ फ़ी. ३ इं.

परिधि ३ फ़ी. १ इं.

विवरण

यह एक सादा स्तम्भ है। यह एक अनगढ़ पाषाण के अधिष्ठान पर स्थित है। इसके ऊपर चार देवकुलिकाओं में चार कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियों का सुन्दरता से अंकन है। दक्षिणी देवकुलिका में आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का चिह्न 'अर्ध चन्द्र' स्पष्ट रूप से अंकित है। इस स्तम्भ के पूर्वी भाग में १० इं. × १० इं. माप का ९ पंक्तियों का एक अभिलेख अंकित है जिसमें संवत् १४९३ में महीचन्द्र नामक किसी श्रावक के द्वारा की गयी मूर्ति-स्थापना का विवरण दिया गया है।

मन्दिर संख्या १ के पीछे उत्तर में स्थित तथाकथित मानस्तम्भ

स्तम्भ संख्या २

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई ९ इं.

चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई ९ फ़ी. ६ इं.

अठपहलू रूप

विवरण

चौकी पर स्थित इस स्तम्भ[1] के निचले भाग में (१०½ इंच ऊँची) चार देवकुलिकाओं में जैन-शासन देवियाँ और देव क्रमशः चार—अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती और धरणेन्द्र अंकित दिखाये गये हैं। इन देवकुलिकाओं के ऊपर (स्तम्भ के मध्य में) कीर्तिमुखों से चारों ओर घण्टियाँ झूल रही हैं। इसके ऊपर चारों ओर की देवकुलिकाओं में से तीन में पद्मासन तीर्थंकर-मूर्तियाँ और दक्षिण में उपाध्याय परमेष्ठी की मूर्ति उपदेश-मुद्रा में अंकित हैं। उपाध्याय की मूर्ति के आसन के निकट टूटदार मेज़ भी अंकित है, उनकी पीछी-कमण्डलु भी अंकित हैं। तथा उनके बायीं ओर एक करबद्ध भक्त आसीन दिखाया गया है। पश्चिमी देवकुलिका के तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ पंच-फणावलि सहित अंकित हैं, जबकि शेष दो तीर्थंकर मूर्तियाँ चिह्नविहीन हैं या उनके चिह्न नष्ट हो गये हैं।

मन्दिर संख्या १ के पीछे (मध्यवर्ती) मानस्तम्भ

स्तम्भ संख्या ३

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई १ फ़ी. ९ इं

चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई १४ फ़ी. ४ इं.

१. दे.—चित्र संख्या ४३ में स्तम्भ सं. दो।

विवरण

चौकी पर अवस्थित इस मानस्तम्भ[1] में नीचे के हिस्से में चारों ओर देवकुलिकाएँ हैं, जिनमें क्रमशः दक्षिण में नाग, पश्चिम में नागी, उत्तर में अपने वाहन सिंह सहित अम्बिका अपने दोनों बालकों तथा आम्रगुच्छक सहित अंकित हैं। और पूर्व में चक्रेश्वरी देवी अपने वाहन गरुड पर आरूढ़ दिखायी गयी है। इनकी मुद्राएँ अत्यन्त ऋजु और सज्जा बहुत सुन्दर है। इन देवकुलिकाओं के ऊपर स्तम्भ अठपहलू हो जाता है और वहाँ कीर्तिमुखों से अत्यन्त सुन्दर घण्टिकाएँ झूलती हुई दीख पड़ती हैं।

कीर्तिमुखों के ऊपर २ इं. उभरी हुई देवकुलिकाओं में हाथियों के पश्चात् क्रमशः पूर्व की ओर उपदेश मुद्रा में पीछी-कमण्डलु सहित छह साधुओं का अंकन है। दक्षिण की ओर पीछी और कमण्डलु सहित विनयावनत मुद्रा में छह आर्यिकाएँ अंकित हैं। पश्चिम में एक साधु के पश्चात् एक आर्यिका इस प्रकार की कुल छह आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। ये सभी अपने बग़ल में 'पीछी' तो दबाये हैं, किन्तु सभी के कमण्डलु अदृश्य हैं। उत्तर की ओर विशिष्ट अभिरुचि का प्रदर्शन हुआ है, (दायीं ओर से) सर्वप्रथम साधु हाथ जोड़े हुए दिखाये गये हैं। उसके पश्चात् आचार्य परमेष्ठी का अंकन उपदेश-मुद्रा में हुआ है, इसके पश्चात् क्रमशः एक श्राविका, एक श्रावक और पुनः एक श्राविका का अत्यन्त सुन्दरता से अंकन हुआ है। ये तीनों (श्रावक-श्राविकाएँ) हाथ जोड़े हुए हैं।

इसके ऊपर स्तम्भ गोलाकार हो जाता है, और लगभग २ फ़ी. के बाद एक अत्यन्त सुन्दर कटावदार आमलक की आकृति का पाषाण समाविष्ट है। इसके पश्चात् कीचकों के ऊपर चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में चार पद्मासन मूर्तियों का सुन्दरता से अंकन है। पूर्व और दक्षिण की देवकुलिकाओं में हरिणचिह्नांकित सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ को उत्कीर्ण किया गया है। पश्चिमी देवकुलिका में सप्तफणावलि सहित तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का अंकन है, जबकि उत्तरी देवकुलिका में उपदेश मुद्रा में आचार्य परमेष्ठी का अंकन उपासनारत शिष्यों-श्रावकों के साथ हुआ है। इन सभी की मुद्राएँ सुन्दर हैं।

इस सबके ऊपर अंग-शिखर के आकार की देवकुलिकाएँ हैं। यह मानस्तम्भ बहुत भव्य है।

मन्दिर संख्या १ के पीछे (दक्षिण में) स्थित तथाकथित मानस्तम्भ

स्तम्भ संख्या ४

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई १ फ़ी. १.० इं.
चौकी पर से स्तम्भ की ऊँचाई ९ फ़ी.
स्तम्भ की परिधि—४ फ़ी. ७½ इं.

विवरण

चौकी पर स्थित इस स्तम्भ[2] के अधोभाग की चतुर्दिक् देवकुलिकाओं में क्रमशः नाग, नागी, अम्बिका और महाकाली[3] नामक देवियों का अत्यन्त सुन्दर अंकन है। इनके ऊपर कीर्तिमुखों से चारों ओर घण्टिकाएँ लटक रही हैं। इसके ऊपर चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में से दक्षिण में उपाध्याय परमेष्ठी तथा शेष तीन ओर पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

---

१. दे.—चित्र सं. ४३ में स्तम्भ संख्या तीन। २. दे.—चित्र सं. ४३ में स्तम्भ सं. चार। ३. आठवीं विद्यादेवी। इस विद्यादेवी के लक्षण तथा विस्तृत विवरण के लिए दे.—चतुर्थ अध्याय की पाद टिप्पणी।

मन्दिर संख्या २, ३ तथा ४ का मध्यवर्ती स्तम्भ

स्तम्भ संख्या ५

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई १ फ़ी. ७ इं.

चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई ८ फ़ी. ८ इं.

स्तम्भ—अठपहलू

विवरण

यह स्तम्भ[1] किसी प्राचीन स्मारक का अवशेष है। वर्तमान में इसे मन्दिर संख्या दो, तीन तथा चार के मध्य में मानस्तम्भ के रूप में स्थापित किया गया है। इसके अधो-भाग में कीर्तिमुख उत्कीर्ण किये गये हैं तथा मध्य में कीर्तिमुखों से शृंखलायुक्त घण्टिकाएँ सुन्दरता से लटकती हुई दिखायी गयी हैं। इसके ऊपर चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में से उत्तर में आचार्य अपने एक हाथ में ताडपत्रीय ग्रन्थ लिये हुए तथा दूसरा उपदेश मुद्रा में किये हुए अंकित हैं। जीव रक्षा और शुद्धि के साधन पीछी और कमण्डलु भी उपस्थित दिखाये गये हैं। दक्षिण में—वृषभनाथ, पूर्व में—सप्तफणावलि सहित पार्श्वनाथ और पश्चिम में अजितनाथ का अंकन बहुत सुन्दर बन पड़ा है। सभी मूर्तियाँ पद्मासन में हैं और उनके नीचे एक-एक पंक्ति के अभिलेख हैं। इस स्तम्भ पर संवत् ११०८ अंकित है, यह इस स्तम्भ के निर्माण का समय प्रतीत होता है।

मन्दिर संख्या ५ के पश्चिम में बायीं ओर स्थित स्तम्भ

स्तम्भ संख्या ६

माप

सतह से स्तम्भ की ऊँचाई ४ फ़ी. ५ इं.

स्तम्भ समचतुष्कोण १ फ़ी.

विवरण

यह स्तम्भ[2] किसी समाधि-स्मारक का शेष अंश है। वर्तमान में यह मं. सं. ५ के पश्चिम में अधिष्ठान के बायीं ओर जमीन में गड़ा हुआ है।

इसमें चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में से तीन में पीछी और कमण्डलु धारण किये हुए मुनि कायोत्सर्गासन में दर्शाये गये हैं और एक में (दक्षिण की ओर) पीछी और कमण्डलु धारण किये आर्यिका का अंकन है।

यह स्तम्भ कला की दृष्टि से साधारण कोटि का है।

मन्दिर संख्या ६, ७ और ९ का मध्यवर्ती स्तम्भ

स्तम्भ संख्या ७

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई ८ इंच

चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई ४ फ़ी. ९ इंच

स्तम्भ चौकोर (२ फ़ी. ११ इंच)

---

१. दे.—चित्र सं. ४४। २. दे.—चित्र सं. पाँच में स्तम्भ।

विवरण

यह स्तम्भ भट्टारक-समाधि से सम्बन्धित प्रतीत होता है। इसके पूर्व और पश्चिम में एक-एक देवकुलिका है जिसमें गले में माला धारण किये हुए कायोत्सर्गासन एक-एक मूर्ति (सम्भवतः भट्टारकों को) उत्कीर्ण है। इस स्तम्भ के पूर्व में एक पंक्ति का और पश्चिम में तीन पंक्तियों का अभिलेख उत्कीर्ण है।

मन्दिर संख्या १२ के सामने (महामण्डप के सामने के) चबूतरे पर अवस्थित

मानस्तम्भ

स्तम्भ संख्या ८

माप

स्तम्भ की ऊँचाई १३ फ़ी. ८ इंच

स्तम्भ—अठपहलू

विवरण

इस विशाल स्तम्भ[1] के निचले भाग में चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में चतुर्भुजी चार देवियों का अत्यन्त सुन्दर अंकन है। पश्चिमी देवकुलिका की देवी वृषारूढा है, दक्षिणी देवकुलिका की देवी नरारूढा तथा पूर्वी और उत्तरी देवकुलिकाओं की देवियाँ क्रमशः मयूर और सिंह पर आसीन दिखायी गयी हैं।

स्तम्भ के मध्य में, कीर्तिमुखों से ४ फ़ी. १०½ इंच लम्बी और मध्य में ग्रन्थियुक्त तीन-तीन शृंखलाओं से बहुत सुन्दर घण्टियाँ लटक रही हैं। इसके ऊपर चारों ओर चार देवकुलिकाओं में एक-एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है। स्तम्भ के ऊपरी भाग पर एक कटावदार पाषाण है।

मन्दिर संख्या बारह के सामने (बायीं ओर) रखा हुआ स्तम्भ

स्तम्भ संख्या ९

माप

ऊँचाई ८ फ़ी. ७ इंच

१६ पहलू

विवरण

यह स्तम्भ किसी स्मारक के स्तम्भ का अवशिष्ट मध्यभाग मात्र है। इस पर किसी प्रकार का कोई अंकन या अलंकरण नहीं है।

मन्दिर संख्या बारह के महामण्डप में रखा हुआ स्तम्भ

स्तम्भ संख्या १०

माप

ऊँचाई ६ फ़ी. २ इंच

चौकोर

---

१. इस स्तम्भ के निचले भाग को चबूतरे में एक हौज के आकार का गड्ढा रखकर प्रदर्शित किया गया है। स्तम्भ का ऊपरी भाग चित्र सं. १७ में देखा जा सकता है।

विवरण

यह स्तम्भ अस्थायी रूप से मन्दिर संख्या १२ के महामण्डप में रखा हुआ है। इस पर क्रमशः दो तथा १० पंक्तियों के दो अभिलेख उत्कीर्ण हैं और इसके ऊपर देवकुलिका में एक तीर्थंकर मूर्ति का अंकन पद्मासन में है। यह स्तम्भ अत्यन्त साधारण है।

मन्दिर संख्या ११ के सामने तथा मन्दिर संख्या बारह के दक्षिण में स्थित मानस्तम्भ

स्तम्भ संख्या ११

माप

सतह से चौकियों की ऊँचाई २ फ़ी. ४ इंच

चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई १६ फ़ी. १ इंच

स्तम्भ १६ पहलू

विवरण

मेखलायुक्त तीन चौकियों पर अधिष्ठित यह प्राचीन स्तम्भ[1] जिनेन्द्र गजरथ प्रतिष्ठा महोत्सव के समय यहाँ मानस्तम्भ के रूप में स्थापित किया गया है।

स्तम्भ के निचले भाग में चार देवकुलिकाएँ हैं। उनमें उत्तर की ओर धरणेन्द्र-पद्मावती, पूर्व में गरुड़वाहिनी दशमुखी चक्रेश्वरी,[2] दक्षिण में द्वादशभुजी (सम्भवतः मयूरासीना) देवी[3] और पश्चिम में वृषभारूढ़ा अष्टभुजी देवी का अंकन है।

इसके पश्चात् ऊपर के लघुकोष्ठकों तक खजुराहो, जैसी भव्यता से पुष्प-पत्रों को उत्कीर्ण किया गया है। इन (पुष्प-पत्रों) के मध्य चारों ओर ३ फी. ९ इंच लम्बी अत्यन्त सुन्दर शृंखलाओं से घण्टियाँ लटक रही हैं। इसके पश्चात् चतुर्दिक् चार कोष्ठकों में से ऊपर की ओर के कोष्ठक के मध्य में आचार्य परमेष्ठी उपदेश-मुद्रा में पद्मासन में अंकित हैं तथा उनके दोनों ओर एक-एक साधु पीछी दबाये हुए दर्शाये गये हैं, किन्तु उनके कमण्डलु अदृश्य हैं, इनके दोनों ओर दो-दो भक्त अंजलिबद्ध विनयावनत दिखाये गये हैं, उनकी बढ़ी हुई दाढ़ी सहज ही दर्शक की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करती है। पूर्व की ओर संवत् १११६ के दो पंक्तियों के अभिलेख के ऊपर वहाँ सात आकृतियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। कदाचित् वहाँ 'आर्यिका' का उपदेश अंकित दिखाया गया है, उपदेशरत आर्यिका के दोनों ओर तीन-तीन श्राविकाएँ सुसज्जित वेशभूषा में उपदेश श्रवण कर रही हैं। वे अंजलि-मुद्रा में विनयावनत हैं, उनके आभूषण तथा वस्त्र स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। दक्षिण की ओर मध्य में एक 'आर्यिका' उपदेशरत हैं, उनकी पीछी और कमण्डलु-दोनों ही अंकित हैं, इनके दोनों पार्श्वों में क्रमशः एक-एक आर्यिका तत्पश्चात् दो-दो श्राविकाएँ अंजलि-मुद्रा में विनयावनत आसीन दिखायी गयी हैं। पश्चिम में भी सात आकृतियाँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं, मध्य में उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश मुद्रा में अंकित हैं। उनके दोनों पार्श्वों में एक-एक साधु और तत्पश्चात् विनयावनत अंजलिबद्ध दो-दो श्रावक बैठे दिखाये गये हैं।

इन लघु कोष्ठकों के ऊपर एक उभारदार पाषाण का आच्छादन देकर उपरिवर्ती देवकुलिकाओं में से दक्षिण की ओर सप्त फणावलि सहित पार्श्वनाथ कायोत्सर्गासन में अंकित हैं। शेष तीनों ओर एक-एक तीर्थंकर कायोत्सर्गासन में उत्कीर्ण हैं। देवकुलिकाओं की शिखराकृतियों के ऊर लघु आमलक और कलश हैं।

---

१ दे.—चित्र सं. ४५। २. दे.—चित्र सं. १११। ३. दे.—चित्र सं. ११२।

मन्दिर संख्या १२ के दक्षिणी ओर स्थित स्तम्भ

स्तम्भ संख्या १२

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई ९ फ़ी. ६ इंच
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई ९ फ़ी. १$\frac{1}{2}$ इंच
स्तम्भ चतुष्कोण

विवरण

इस स्तम्भ[1] के चारों ओर ग्यारह-ग्यारह पंक्तयों में चार-चार तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है। सभी मूर्तियाँ पद्मासन में उत्कीर्ण हैं।

उल्लेखनीय है कि यद्यपि यह स्तम्भ मं. सं. १४ के समक्ष स्थित स्तम्भ (सं. १३) के समान है किन्तु यह ऊपरी भाग से भिन्न है।

मन्दिर संख्या १४ के सामने बायीं ओर स्थित मानस्तम्भ

स्तम्भ संख्या १३

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई ९ इंच
चौकी सम चतुष्कोण ४ फ़ी. १० इंच
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई १० फ़ीट ४ इंच
स्तम्भ चतुष्कोण

विवरण

इस स्तम्भ[2] के निचले भाग में चारों ओर देवकुलिकाओं में कायोत्सर्गासन यक्षी-मूर्तियों का अंकन है। पश्चिमी ओर की यक्षी अम्बिका है। इन देवकुलिकाओं के ऊपर चारों ओर ग्यारह-ग्यारह पंक्तियों में चार-चार तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है।

११ × ४
= ४४ × ४
= १७६

इस मूर्ति-समूह के ऊपर छोटे-छोटे दो आमलक और उनके ऊपर कलश अवस्थित है।

मन्दिर संख्या १५ के सामने स्थित स्तम्भ

स्तम्भ संख्या १४

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई १० इंच
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई ५ फ़ी. ११ इंच

---

१. दे. चित्र सं. ४६। २. दे. चित्र सं. ४७।

विवरण

इस अत्यन्त सुन्दर स्तम्भ के प्रारम्भ में १८ मेखलाएँ हैं। यह किसी स्मारक का शेष अंश है, जिसे यहाँ लाकर स्थापित कर दिया गया है। कीर्तिमुखों के ऊपर पत्रावली तथा वल्लरियों का अंकन बहुत मनोरम है। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग में एक सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा विराजमान है, जिसमें चतुर्दिक् कार्योत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इस स्तम्भ का कटाव अत्यन्त बारीक है।

मन्दिर संख्या १८ के सामने के दो स्तम्भ

स्तम्भ संख्या १५ और १६

माप

चबूतरे के अधिष्ठान की ऊँचाई १ फ़ी. १० इंच

अधिष्ठान से स्तम्भों की ऊँचाई १२ फ़ी.

दोनों स्तम्भ १६ पहलू

विवरण

स्तम्भों के निम्न भाग में मंगल-घटों के ऊपर पत्र-पुष्पों का अलंकरण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। स्तम्भों के मध्यम भाग में शृंखलाओं के सहारे मनोहर घण्टियाँ लटक रही हैं। ये स्तम्भ खजुराहो के घण्टई-मन्दिर की याद दिलाते हैं। इनमें से दायें ओर के स्तम्भ पर संवत् ११२९ का एक लेख उत्कीर्ण है। यह इनकी स्थापना का समय होना चाहिए।

मध्यवर्ती शृंखलाओं के ऊपर उत्कीर्ण कीर्ति-मुखों के ऊपर के कोष्ठकों में से उत्तर की ओर आर्यिकाएँ अंकित हैं। इनके ऊपर की ओर उपदेश मुद्रा में ग्रन्थधारी आचार्य परमेष्ठी का अंकन अत्यन्त प्रभावोत्पादक है (दोनों स्तम्भों पर) उनके पादपीठ में पीछी और कमण्डलु भी दर्शाये गये हैं। उपदेश श्रवण करते हुए साधुओं और आर्यिकाओं का अंकन बायें ओर के स्तम्भ पर अत्यन्त आकर्षक है। दोनों स्तम्भों पर शेष तीनों ओर पद्मासन में तीर्थंकर मूर्तियों का नयनाभिराम अंकन है।

मन्दिर संख्या २० के सामने स्थित गोलाकार मानस्तम्भ

स्तम्भ संख्या १७

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई २ फ़ी. २ इंच

चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई ९ फ़ी. ९ इंच

स्तम्भ की परिधि ५ फ़ी. ३ इंच

विवरण

यह अत्यन्त भव्य और कलापूर्ण स्तम्भ[1] गुप्तयुगीन सूक्ष्म कला का स्मरण कराता है। इसमें एक सुसज्जित हर्म्य का दृश्य उत्कीर्ण है। कीर्तिमुखों और मालाओं का अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकन हुआ। चौकी से ५ फ़ी. २ इंच की ऊँचाई पर स्तम्भ पर चतुर्दिक् देवकुलिकाओं में—सर्वतोभद्र-मूर्तियाँ पद्मासन में उत्कीर्ण हैं। ये देवकुलिकाएँ ऊपर की ओर शिखर का रूप धारण करती हैं।

यहाँ उपलब्ध मानस्तम्भों में से एकत्र यही गोलाकार है। सम्पूर्ण अंकन अत्यन्त सूक्ष्म तथा रमणीय बन पड़ा है।

---

१. दे.—चित्र सं. ४८।

मन्दिर संख्या २६ व २७ के मध्य में स्थित स्तम्भ

स्तम्भ संख्या १८

माप

सतह से स्तम्भ की ऊँचाई ४ फ़ी. ९ इंच

स्तम्भ १६ पहलू।

विवरण

इस स्तम्भ के निचले हिस्से में उत्कीर्ण देव-कुलिकाओं में धरणेन्द्र-पद्मावती, अम्बिका आदि शासन-देव-देवियों का अंकन है। इसके ऊपर पद्मावती तथा वल्लरियों के कटाव के मध्य कीर्तिमुखों से १ फ़ी. ६ इंच लम्बी घण्टिकाएँ लटक रही हैं। कीर्तिमुखों के ऊपर चतुर्दिक् एक-एक तीर्थंकर (पद्मासन में) देवकुलिकाओं में उत्कीर्ण हैं।

मन्दिर संख्या २६, २८ व ३० के मध्य अवस्थित स्तम्भ

स्तम्भ संख्या १९

माप

सतह से चौकी की ऊँचाई १ फ़ी.

चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई ४ फ़ी. ८ इंच

स्तम्भ चतुष्कोण

विवरण

इस स्तम्भ[1] के निम्न भाग में देवकुलिकाओं में धरणेन्द्र-पद्मावती, अम्बिका आदि यक्ष-यक्षिणियाँ प्रदर्शित हैं। इसके पश्चात् चार-चार की पाँच पंक्तियों में प्रत्येक ओर तीर्थंकर मूर्तियाँ पद्मासन में उत्कीर्ण हैं और छठीं पंक्ति में चार कायोत्सर्गासन तीर्थंकर अंकित हैं।

$$\begin{array}{l} \underline{\;४ \times ५} \\ = २० \\ \underline{+ \;\;\; ४} \\ = २४ \end{array}$$

इस प्रकार प्रत्येक ओर चौबीसी का अंकन है। इस स्तम्भ का ऊपरी भाग खण्डित प्रतीत होता है।

(ड) प्रकीर्ण सामग्री

मन्दिरों, लघु-मन्दिरों, मानस्तम्भों आदि अचल और मूर्तियों आदि चल सामग्री के अतिरिक्त देवगढ़ में प्रकीर्ण सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। मन्दिरों के विभिन्न पाषाण-खण्ड और खण्डित मूर्तियाँ अधित्यका और उपत्यका पर सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। उनमें कुछ ऐसी सामग्री भी यदा-कदा दिख जाती है, जो कला और संस्कृति की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होती हैं।

अपने अनुसन्धान काल में, मुझे अधित्यका पर एक ऐसा स्थान मिला है, जहाँ बैठकर शिल्पकार मूर्तियाँ आदि गढ़ते थे। इस स्थान के निकट पत्थरों की एक खदान थी, जो अब बहकर आयी मिट्टी आदि से भर गयी है। वहाँ बहुत-सी अनगढ़ मूर्तियाँ मौजूद हैं, जो शिल्पकार द्वारा किसी कारणवश अर्ध-निर्मित स्थिति में ही छोड़ दी गयी होंगी।

---

१. मं. सं. २८ के चित्र (सं. ३२) में दायीं ओर देखा जा सकता है।

एक पत्थर की बावड़ी के निकट, तालाब के किनारे और ग्राम के आसपास भी महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्व सामग्री बिखरी पड़ी है।

देवगढ़ से अन्यत्र ले जायी गयी सामग्री में भी कुछ के महत्त्वपूर्ण होने की सम्भावना है।

द्वार

(अ) कुंजद्वार

पर्वत की परिधि को आवृत करनेवाले प्राचीन दुर्ग कोट का प्रमुख-द्वार 'कुंज-द्वार' कहलाता है। यह पर्वत शिखर के पश्चिम की ओर स्थित है। वर्तमान में यह जीर्ण-शीर्ण स्थिति में है। यह १९ फ़ी. ऊँचा और १० फ़ी.६ इं. चौड़ा है। इसके दोनों पार्श्वों में प्रस्तर-निर्मित दो चौकियाँ हैं, तथा दुर्ग में प्रवेश करने हेतु १ फ़ी. ९ इं. चौड़ी तीन सीढ़ियाँ निर्मित हैं।

इस द्वार के दोनों ओर १५ फ़ीट चौड़ा प्राचीन दुर्ग का प्रथम प्राचीर है। द्वार के सामने अन्दर की ओर ध्वस्त-स्थिति में विद्यमान कुछ दुमंजिले निवासगृह आज भी देखे जा सकते हैं। इन निवासगृहों के द्वार अपेक्षाकृत छोटे हैं। कुंज-द्वार तथा उससे संयुक्त निवासगृहों में पहुँचने हेतु सोपान-मार्ग की व्यवस्था है।

इस द्वार का तोरण अतिशय कलापूर्ण है। प्रतीत होता है कि मूल-तोरण के नष्ट होने पर मुग़लकाल में इसके तोरण का पुनर्निर्माण हुआ है।

मुख्य सड़क छोड़कर मन्दिरों तक पहुँचने के लिए इसी द्वार में से होकर जाना पड़ता है। अभी कुछ समय पूर्व क्षेत्र और शासन के सहयोग से मुख्य सड़क और मन्दिरों के बीच एक पक्का मार्ग निर्मित किया गया है। यह मार्ग इस द्वार में से न जाकर उसके दक्षिण में लगभग १०० गज़ की दूरी से गया है। इस मार्ग के निर्माण से जहाँ अनेक लाभ हुए हैं वहाँ एक हानि भी हुई है कि दुर्ग के अन्य द्वारों की भाँति यह द्वार भी उपेक्षित हो जायेगा।

(ब) हाथी दरवाज़ा

देवगढ़—दुर्ग की प्रथम प्राचीर में पूर्व की ओर एक विशाल द्वार है, जिसे 'हाथी-दरवाज़ा'[1] कहते हैं। अनुमान है कि इस द्वार से हाथियों का आवागमन दुर्ग में होता था। बेतवा का प्रवाह इसके पार्श्व भाग में होने से यह भी सम्भव है कि हाथी इस द्वार से पानी पीने बेतवा ले जाये जाते हों। अतः इसका नाम 'हाथी-दरवाज़ा' पड़ा हो।

इस विशाल द्वार के ऊपर मध्य में लगभग ३ फ़ी. ४ इं. ऊँचा और ३ फ़ी. चौड़ा एक गवाक्ष है। इस गवाक्ष की उपयोगिता का केवल अनुमान ही किया जा सकता है। कदाचित् उसमें कोई मूर्ति विद्यमान रही हो। वह मूर्ति या तो इस दुर्ग के निर्माता शासक की हो या उसके इष्ट-देव की। वर्तमान में मात्र गवाक्ष अवशिष्ट है।

इस द्वार में भीतर की ओर बायें पक्ष पर ८ फ़ी. की ऊँचाई पर १ फ़ी. ७ इं. लम्बा, १ फ़ी. ७ इं. चौड़ा और २ फ़ी. ४ इं. ऊँचा एक शिलापट्ट समाविष्ट है, जिसमें भीतर की ओर उपाध्याय परमेष्ठी का अंकन है, जिनके हाथ की पोथी का खण्डित अंश दर्शनीय है। उनके दोनों ओर एक-एक साधु अंजलिबद्ध कायोत्सर्गासन में उत्कीर्ण हैं, इन दोनों के हाथों में पीछी स्पष्ट देखी जा सकती है। उपाध्याय के ठीक ऊपर पद्मासन में एक तीर्थंकर और उनके भी दोनों ओर कायोत्सर्गासन में एक-एक तीर्थंकर—(सभी बहुत छोटी आकृति में)—प्रदर्शित हैं। तीर्थंकर का परिकर यहाँ अवश्य रहा होगा, जिसे बहुत ही महत्त्व का माना जाना चाहिए, क्योंकि वर्तमान स्थिति से यह कहा जा सकता है कि इस परिकर को किसी मूर्ति-भंजक ने सूक्ष्मता के साथ काट लिया है। इसके पार्श्व में पश्चिम की ही भाँति एक स्तम्भयुक्त देवकुलिका है, इसमें पद्मासन में एक तीर्थंकर मूर्ति दर्शनीय है। इसका मुख-मण्डल खण्डित होने पर भी ध्यान-मुद्रा के द्वारा शान्ति बिखेर रहा है। इसके कन्धों पर जटाएँ छिटकी हुई हैं। लम्बा श्रीवत्स इसका निर्माण काल १२वीं शती सूचित करता है। अष्ट प्रातिहार्य का अंकन अत्यन्त परिपूर्ण और स्पष्ट बन पड़ा है। देवकुलिका के स्तम्भों के ऊपरी भाग में दोनों ओर

---

१. सन् १९१७-१८ ई. में भी इसे 'हाथी-दरवाज़ा' कहा जाता था। दे.—डॉ. डी. बी. स्पूनर : ए. आर., ए. एस. आइ., १९१७-१८, भाग एक, (कलकत्ता, १९२० ई.), पृ. ७।

स्तम्भ-शीर्ष तथा नीचे चौकी पर दोनों ओर पद्मासन में एक-एक तीर्थंकर का अंकन है। सम्भावना है कि यह शिलापट्ट जीर्णोद्धार के समय कहीं से लाकर समाविष्ट कर दिया गया है। यदि ऐसा है तो यह किसी स्तम्भ या मानस्तम्भ का शीर्ष होना चाहिए और उस स्थिति में प्राचीर में चिने हुए इसके दो बाजुओं में भी इसी प्रकार की दो देवकुलिकाएँ और होना चाहिए।

'हाथी-दरवाज़े' के भीतर दायीं ओर (बायीं ओर की ही भाँति) सतह से ७ फ़ी. ८ इं. ऊँचाई पर १ फ़ी. ३ इं × १ फ़ी. ३ इं. × २ फ़ी. ४ इं का एक शिलापट्ट समाविष्ट है। इसमें सामने की ओर एक चतुष्कोण देवकुलिका में सप्तफणावलि सहित पार्श्वनाथ कायोत्सर्गासन में उत्कीर्ण हैं, उनकी पादपीठ के दोनों ओर दो-दो आकृतियाँ प्रदर्शित हैं, वे प्रायः खण्डित हैं। उनके ऊपर पद्मासन में एक तीर्थंकर मूर्ति अंकित है। इस मूर्ति के दोनों ओर चँवर-ढोरती हुई एक-एक आकृति उपस्थित दिखायी गयी है।

शिलापट्ट के भीतर की ओर की देवकुलिका में अंकित दृश्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें एक यक्ष-युगल का अंकन है, जिसके पृष्ठ भाग में एक कमलनाल या ऐसी ही किसी वस्तु पर स्थित चतुष्कोण आसन पर एक तीर्थंकर पद्मासन में अवस्थित हैं। यक्ष ललितासन (राजलीलासन) में स्थित है, उसके बायें हाथ में एक शिशु है जो उसके बायें पैर पर बैठा हुआ दिखाया गया है, दायें हाथ मे कोई फल या मातुलिंग है। उसकी मेखला का अंकन सूक्ष्म बन पड़ा है, यज्ञोपवीत स्पष्ट दीख रहा है, परन्तु उसके साथ ही दूसरी ओर आधी ऊँचाई पर ही लटकनेवाली दूसरी लड़ी उसके यज्ञोपवीत होने में सन्देह पैदा कर देती है। इसके कर्णकुण्डल और गलहार अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। केश-विन्यास जटा-जूट का आभास देता है।

ललितासन में अवस्थित यक्षी के पैरों में पैंजनी स्पष्ट देखी जा सकती है। इसके भी दायें हाथ में एक शिशु है जो दायें पैर पर बैठा है, यह शिशु अपने बायें हाथ से अपनी माँ के बायें स्तन को छू रहा है। यह शिशु यक्ष के हाथ में स्थित शिशु की अपेक्षा बड़ा है। यक्षी के दायें हाथ में भी मातुलिंग है। इसकी मेखला अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकित की गयी है, त्रिवली में से एक वली स्पष्ट देखी जा सकती है, नाभि की गहराई और कटि की क्षीणता भी उल्लेखनीय है। पयोधरों का उभार खजुराहो की कला का स्मरण दिलाती है। मोहनमाला और गले के अन्य आभूषण बहुत सुन्दरता से अंकित हुए हैं। कर्णाभरण भी सुन्दर बन पड़े हैं। मस्तक की जटाएँ अपनी विशेषता रखती हैं, जिन्हें ऊपर की ओर सम्हालकर दो कुण्डलियों में लपेटा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह अंकन समय की दृष्टि से १०वीं शती से पहले नहीं जा सकता।

तीर्थंकर की मूर्ति के दोनों ओर चार-चार बड़े पत्तों का अलंकरण है। आकार की दृष्टि से इन्हें सर्प के फण नहीं कहा जा सकता। ऊपर दो छत्र दिखाई देते हैं।

इस देवकुलिका के नीचे भी कोई एक या अधिक मानवाकृति रही है, जो वर्तमान में प्लास्टर से दबी होने से देखी नहीं जा सकती।

जैनेतर स्मारक

(अ) घाटियाँ

देवगढ़ दुर्ग में पर्वत के दक्षिण की ओर चट्टानें काटकर दो घाटियों का निर्माण हुआ है: (१) नाहरघाटी (पूर्व में), (२) राजघाटी (पश्चिम में)।

दोनों घाटियों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **नाहरघाटी**—देवगढ़ दुर्ग की दक्षिणी अधित्यका पर पूर्व की ओर बेतवा के प्रवाह तक पहुँचने के लिए एक सोपान मार्ग है। उसे 'नाहरघाटी' कहते हैं। यहाँ पर्वत को काटकर लगभग १०० सीढ़ियाँ बनायी गयी हैं। वर्षा का पानी इन्हीं पर से बहता है। अतः वे अनेकशः जीर्ण-शीर्ण हो गयी हैं। इस सोपान मार्ग के बाजू में चट्टानों पर अनेक उल्लेखनीय मूर्तियाँ तथा अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

यहाँ पर दश फ़ुट लम्बी और दो फ़ुट ऊँची एक देवकुलिका में सप्तमातृकाओं[1] की सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इनके प्रारम्भ में शिव तथा अन्त में गणेश का अंकन है। शिव के पश्चात् चतुर्मुख ब्राह्मी की मूर्ति पद्मासन में उत्कीर्ण है। वह अपने बायें हाथ में अक्षमाला लिये है। इसके उपरान्त सिंह पर आरूढ़ पार्वती अपनी गोद में गणेश को धारण किये हैं। तीसरी मातृका मूर्ति गरुडासनी वैष्णवी की है। चौथी मूर्ति कुबेर की पत्नी कौमारी की है, वह मनुष्य पर आरूढ़ है। पाँचवीं मूर्ति वाराही की है। छठवीं और सातवीं मूर्तियाँ क्रमशः गजासना इन्द्राणी तथा चामुण्डा की हैं।

इस देवकुलिका के ऊपरी बहिर्भाग में गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में सात पंक्तियों का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। उसकी भाषा विशुद्ध साहित्यिक संस्कृत है। इसमें गोमिलका के पौत्र तथा केशव के पुत्र स्वामी भट्ट के द्वारा सप्तमातृकाओं के निमित्त एक अविनश्वर मन्दिर के निर्माण का विवरण उत्कीर्ण किया गया है। इसमें उल्लिखित मन्दिर सप्तमातृकाओं की मूर्ति सहित यही देवकुलिका, जिसके ऊपर यह उत्कीर्ण है, होना चाहिए; अन्य कोई नहीं।

इसके अतिरिक्त इस घाटी की अन्य देव-कुलिकाओं में चतुर्भुज विष्णु, सूर्य, महिषासुरमर्दिनी तथा एकमुख शिव की मनोहर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

इस घाटी में दो अभिलेख और भी उत्कीर्ण हैं। पहले में चन्देरी के बुन्देला राजाओं का उल्लेख है। यह संवत् १७८९ में उत्कीर्ण कराया गया था। इसी समय का एक अभिलेख सिद्ध की गुफा में भी मिलता है। दूसरा अभिलेख दो पंक्तियों में है। वह बहुत अस्पष्ट हो गया है। प्रारम्भ के कुछ अक्षरों के अतिरिक्त कुछ भी पढ़ने में नहीं आता।

(२) राजघाटी—देवगढ़ दुर्ग की दक्षिणी अधित्यका पर पश्चिमी ओर भी (पूर्व की ही भाँति) बेतवा के प्रवाह तक पहुँचने के लिए एक सोपान मार्ग है। इसे राजघाटी कहते हैं। यहाँ की सीढ़ियाँ नाहरघाटी की अपेक्षा अधिक चौड़ी और अच्छी स्थिति में हैं।

इस घाटी में प्रागैतिहासिक चित्र, ऐतिहासिक महत्त्व के अभिलेख तथा अनेक मूर्तियाँ चट्टानों पर उत्कीर्ण हैं।

यहाँ पर्वत को काटकर तैयार की गयी एक महत्त्वपूर्ण गुफा है। इसके प्रवेश-द्वार की ऊँचाई चार फ़ुट साढ़े ग्यारह इंच, चौड़ाई निचले भाग में दो फ़ुट पाँच इंच तथा मध्य भाग से ऊपर तीन फ़ुट छह इंच है।

यह गुफा पाँच फ़ुट दश इंच लम्बी, चार फ़ुट ग्यारह इंच चौड़ी तथा इतनी ही ऊँची है। इसके प्रवेश-द्वार के बायें पक्ष पर दो अभिलेख उत्कीर्ण हैं। पहला तीन पंक्तियों में है, जिसे संवत् ११२१ में चैत्र सुदी १५ गुरुवार को उत्कीर्ण कराया गया था। इससे दो इंच ऊपर छह पंक्तियों का दूसरा अभिलेख उत्कीर्ण है। उसमें फाल्गुन सुदी १० चन्द्रवार संवत् १५४९ का उल्लेख हुआ है। इसकी अन्तिम साढ़े तीन पंक्तियाँ अब इतनी अस्पष्ट और टूटी हुई हैं कि पढ़ने में नहीं आतीं।

गुफा की भीतरी बायीं भित्ति पर सिन्दूरी रंग से एक गतिशील हाथी का चित्र अंकित है। उसपर बैठा महावत हाथ में अंकुश लिये है। हाथी का पलान तथा सीमा रेखाएँ काले रंग से चित्रित हैं। उसके ऊपर एक चौखटे में लहरियादार रेखाएँ बनी हुई हैं। इसी के बीच में दो रेखाकृतियाँ और भी दिखायी गयी हैं।

इसके दायीं ओर एक टेढ़ा-मेढ़ा चौखुटा और उभारा गया है, जिसकी मध्यवर्ती रेखाकृतियाँ अब अस्पष्ट हो गयी हैं। उसके बाजू में किसी पक्षी—कदाचित् मुर्गे का रेखाचित्र बना हुआ है। इसी से सटे हुए एक अन्य चौखटे में लहरियादार रेखाएँ दर्शायी गयी हैं।

सामने की भित्ति पर सिन्दूरी रंग से कुछ चित्र अंकित हैं। वे अब बहुत अधिक अस्पष्ट हो गये हैं। उनके ऊपर गहरे सिन्दूरी रंग में एक वक्र चतुष्कोण रेखाकृति है।

प्रायः ऐसी ही तीन रेखाकृतियाँ दायीं भित्ति पर भी चित्रित हैं।

इसी गुफा के बगल में वह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिलेख उत्कीर्ण है[2] जिसे संवत् ११५४ (१०९७ ई.) में

१. इनके लक्षण तथा विस्तार के लिए दे.—भुवनदेवाचार्य, अपराजितपृच्छा, (बड़ौदा १९५०), पृ. ५३४-५७५। २. अभिलेख के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्र. दो।

चन्देलवंशी शासक कीर्तिवर्मन् के मन्त्री वत्सराज ने उत्कीर्ण कराया था और जिसके नाम पर इस स्थान की प्रसिद्धि कीर्तिगिरि नाम से हुई।

इस अभिलेख से नीचे (बेतवा) की ओर अनेक देवकुलिकाओं में विभिन्न देव-देवियों की मूर्तियाँ अंकित हैं, जिनमें से चतुर्भुज विष्णु, सूर्य, लक्ष्मी, गंगा-यमुना, शिवलिंग और सप्तमातृकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ मूर्तियाँ खण्डित हो गयी हैं और कुछ को काटकर ले जाया गया प्रतीत होता है।

इस घाटी में दो लघु गुफाएँ और भी हैं, जो तपस्या में सहायक रही होंगी।

(ब) सिद्ध की गुफा

देवगढ़ दुर्ग में अधित्यका के दक्षिणी किनारे एक गुफा है, जिसे 'सिद्ध की गुफा' कहते हैं। यह पर्वत काटकर तैयार की गयी है। जिसका मार्ग पहाड़ी पर से सीढ़ियों द्वारा नीचे जाता है। इसके तीन द्वार हैं। दो स्तम्भों पर छत भी अवस्थित है।

इस गुफा में अनेक अभिलेख उत्कीर्ण हैं। उनमें सबसे प्राचीन अभिलेख संवत् ६०९ (५५२ ई.) का है। गुप्तकालीन इस अभिलेख में सूर्यवंशी स्वामी भट्ट का उल्लेख हुआ है।

इसी गुफा के एक अन्य अभिलेख में उल्लेख है कि—राजा वीर ने संवत् १३४२ में कुरार को जीता था।

इसमें अंकित कुछ अभिलेखों से राजवीरों के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। संवत् १७८९ के दश पंक्तियों के अभिलेख में चन्देरी के परवर्ती बुन्देला सरदार महाराजाधिराज देवीसिंह तथा उसके पौत्र दुर्गासिंह का वर्णन है। इसी में राजा उदेत सिंह, छत्रसाल, कुशलसिंह और तेजसिंह का चरित्र भी वर्णित है।

संवत् १८०८ के अभिलेख में अनूपसिंह, बहादुर और हरीसिंह आदि का उल्लेख हुआ है।

अनुमान है कि यह गुफा सिद्ध-साधकों की साधना-स्थली रही होगी।

(स) वराह मन्दिर

देवगढ़ दुर्ग में अधित्यका के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर एक विशाल मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं। यद्यपि मन्दिर ध्वस्त हो गया है परन्तु उसका अधिष्ठान सुरक्षित है। यह अधिष्ठान सतह से प्रायः सात फ़ुट ऊँचा है। विशाल आमलक, अनेक स्तम्भ एवं अन्य सामग्री इसी के निकट पड़ी हुई है।

डॉ. डी. बी. स्पूनर[1] और रायबहादुर दयाराम साहनी[2] जिन्होंने कि उस समय इस मन्दिर को आच्छादित किये हुए सघन वन की सफ़ाई करायी, विशाल वृक्षों को कटवाया तथा उत्खनन और सर्वेक्षण कार्य सम्पन्न कराया, के मतानुसार इसका वर्तमान अधिष्ठान मन्दिर के जीवन काल में ही कम से कम दो बार बन चुका था।

इस मन्दिर का निर्माण यहाँ के दशावतार मन्दिर के पश्चात् हुआ। उपलब्ध शिल्प-वैभव, मूर्तियों तथा अन्य सामग्री के आधार पर यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि यह दशावतार मन्दिर का अनुकरण था। श्री हरग्रीव्ज, डॉ. स्पूनर और श्री साहनी का भी यही मत है।

इस मन्दिर के विध्वंस-काल के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। तथापि यह निश्चित है कि संवत् १५५० तक यह मन्दिर अच्छी स्थिति में था क्योंकि इसी मन्दिर के गर्भगृह की दीवारों में संवत् १५५० के दो अभिलेख नागरी लिपि में उत्कीर्ण, प्राप्त हुए हैं।

मन्दिर के निर्माण में लाल-बलुआ पत्थर का उपयोग हुआ है। प्रवेश-द्वार अत्यन्त छोटा है। इसकी ऊँचाई चार फ़ुट और चौड़ाई कुल सत्रह इंच है। इतने छोटे प्रवेश-द्वार से प्राचीन भारत की कदाचित् इस मान्यता की पुष्टि होती है कि मन्दिर में इष्ट देवता के समक्ष उपस्थित होने के पूर्व ही दर्शनार्थी को विनम्र होना चाहिए।

पूर्वाभिमुख इस मन्दिर की मुख्यमूर्ति भगवान् विष्णु के वराहावतार की है। यद्यपि वह खण्डित है तथापि अपने समृद्ध कलावैभव और आकर्षक भव्य रूप को अभिव्यक्त करती है। वराहावतार का सम्पूर्ण दृश्य अपने परिकर के

१. ए. एस. आइ. : एनुअल रिपोर्ट, १९१७-१८, भाग १, पृ. ७। २. एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट १९१८, पृ. ८।

साथ अत्यन्त कुशलता से उत्कीर्ण किया गया है। यह मूर्ति इसके 'वराह मन्दिर' नाम को सार्थक करती है।

मुख्य मूर्ति के पीछे टिके हुए शिलापट्ट पर 'गजेन्द्र मोक्ष' का दृश्य अत्यन्त सुन्दरता से अंकित है। इसके निकट ही एक अन्य शिलापट्ट पर हिमालय पर तपस्यारत नर-नारायण की अत्यन्त मनोरम मूर्ति विद्यमान है।

दक्षिण में टिके हुए एक शिलापट्ट पर शेषशायी विष्णु का प्रभावोत्पादक अंकन है। इसी के निकट एक अन्य शिलापट्ट पर पाँच पाण्डव तथा द्रौपदी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

उत्तर में विद्यमान एक शिलापट्ट पर चक्र, गदा आदि उपकरणों से विभूषित भगवान् विष्णु की एक सुन्दर मूर्ति का अंकन हुआ है।

(ड) दशावतार मन्दिर

देवगढ़ के जैनेतर स्मारकों में सर्वोत्तम कृति 'दशावतार मन्दिर' है। पर्वत की पश्चिमी उपत्यका पर ग्राम के उत्तर में स्थित इस गुप्तकालीन खण्डित मन्दिर को गुप्ता-मन्दिर[1] और सागर-मठ[2] भी कहते हैं।

अधिष्ठान पर मन्दिर नौ वर्गों में विभक्त था जिनके मध्य गर्भगृह था। अधिष्ठान, जिसका उत्खनन राय बहादुर दयाराम साहनी ने कराया, के प्रत्येक कोने पर एक वर्गाकृति मन्दिर था। इससे प्रतीत होता है कि मध्य भाग (गर्भगृह) सहित दशावतार मन्दिर उत्तर भारत में प्रचलित पंचायतन शैली का सबसे प्राचीन मन्दिर है।

अधिष्ठान अब अधिकांशतः नष्ट हो चुका है। उस पर सीढ़ियों से पहुँचा जाता है। ५५ फ़ुट ६ इंच के इस अधिष्ठान के प्रत्येक कोने पर ग्यारह फ़ुट के वर्गाकार मन्दिर थे जिनके अब अवशेष भी उपलब्ध नहीं हैं।

गर्भगृह अठारह फ़ुट छह इं. वर्गाकार है। पश्चिम की ओर प्रवेश द्वार और शेष तीनों ओर एक-एक चौड़ा मूर्ति-पट्ट है जो एक गहरी देवकुलिका में जड़ा है।

गर्भगृह के प्रवेश द्वार की चौखट (११ फी. २ इं. × १० फी. ९ इं.) के चार मूर्तिखचित पहलू हैं। और सबसे ऊपर दिये हुए सिंहमुख इनके अतिरिक्त हैं। प्रत्येक पहलू पर नीचे एक खड़ी हुई मूर्ति है।

प्रथम पंक्ति में—मुख्य बात जो लक्ष्य की जानी चाहिए वह यह कि नचना की तरह गंगा-यमुना का स्थान यहाँ भी द्वार के सिरदल पर बड़े अभिनन्दनीय ढंग से प्रदर्शित किया गया है। पत्रावली तथा वल्लरियों की सज्जा में से उभरते हुए मकर और कुम्भ अपनी स्वाभाविक सुषमा को घोषित कर रहे हैं। यहाँ गंगा यमुना की सानुपात सुन्दर मूर्तियाँ छत्र के नीचे दिखायी गयी हैं। वल्लरियों वाली यह सज्जा-पंक्ति अपने आधार, नीचे अंकित कीचकों के शिर का भार बन रही है।

द्वितीय सज्जा पंक्ति का प्रारम्भ करती हुई दो सुन्दर यक्षी मूर्तियाँ अंकित हैं, जिनके घुटने के नीचे तक दिखाया गया वस्त्र, दोनों बाहुओं पर से झूलता उत्तरीय, भामण्डल के आकार का केश-संयोजन, कुण्डल, रत्नहार, मोहनमाला, बाजूबन्द, वलय, कटि, किंकिणी और पायल सुन्दरता से यथास्थान विभूषित हैं।

यही वेश-विन्यास प्रायः सभी यक्षी मूर्तियों और गंगा-यमुना का भी है, किन्तु इन सभी की केश-सज्जा विभिन्न प्रकार की है।

तृतीय पंक्ति में केवल नृत्य करते हुए यक्ष और गण अंकित हैं और ऊपर कीर्तिमुखों का अंकन है।

चतुर्थ पंक्ति का प्रारम्भ एक सुन्दर यक्ष दम्पति के अंकन से हुआ है। यह युग्म अपने अनिन्द्य सौन्दर्य, केशसज्जा और विविध वस्त्रालंकारों के कारण सचमुच ही अद्वितीय बन पड़ा है। इसके ऊपर छह कोष्ठकों में क्रमशः गणों और केलिरत दम्पतियों का अंकन हुआ है। किन्तु यह अंकन भी शिष्टता की सीमा के भीतर पुरुष की नारी के प्रति सहज आकर्षण-भावना को मानो मर्यादा के साथ उभारता है।

---

१. (अ) कनिंघम : ए. एस. आर., जि. १०, पृ. १०१। (ब) दयाराम साहनी : ए. पी. आर. १९१८, पृ. ७। २. तालाब के किनारे का मढ़ या मन्दिर। इस नाम की प्रसिद्धि स्थानीय स्तर पर है।

सिरदल पर हाथ में मालाएँ और पुष्प-गुच्छक धारण किये, उड़ते हुए विद्याधर-युगलों की पंक्ति के मध्य 'शेष-कुण्डली' पर ललितासन विराजमान चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति ललाट-बिम्ब के स्थान पर उत्कीर्ण है। इन्हीं के लिए इस भव्य मन्दिर का निर्माण किया गया प्रतीत होता है।

अन्तिम सज्जा जो इस द्वार की शोभा को कई गुना बढ़ा देती है, वह सहज और सीधे बेलबूटों से बनायी गयी है, परन्तु उस पर केलि करते हुए बालक बहुत सुन्दर हैं।

सभी अंकन परम्परा और गुप्तकालीन कला-समृद्धि के अनुरूप हैं।

इस मन्दिर की उत्तरी देवकुलिका में गजेन्द्र मोक्ष की कथा का अंकन है। पूर्वी देवकुलिका में नर और नारायण की तपस्या तथा दक्षिणी में शेषशायी विष्णु के बहुत सुन्दर और प्रभावोत्पादक आलेखन हैं। गर्भगृह में अब कोई मूर्ति नहीं है।

उत्तर भारत में पाषाण-निर्मित शिखर का प्राचीन नमूना केवल एक मिलता है, और वह है देवगढ़ का दशावतार मन्दिर। प्रतीत होता है कि यह मन्दिर सीधी रेखाओं से निर्मित पिरामिड के समान था, जिसकी मेधियाँ क्रमशः छोटी होती गयी थीं। द्वार-स्तम्भ पर शिखर की प्रतिकृति अब भी अवशिष्ट है, जिससे ज्ञात होता है कि कोनों पर तथा शिखर पर आमलक बनाये गये थे। वस्तुतः यहाँ गुप्तकालीन शिखर का वह रूप देखने को मिलता है जो क्रमशः पिरामिड की आकृति का, अण्डाकार, अधिक विकसित तथा अलंकृत होता गया।

देवगढ़ के ही शासकीय संग्रहालय में सुरक्षित अवशेषों से इस मन्दिर के अधिष्ठान की भव्यता का आभास होता है। इन अवशेषों में—अहल्या उद्धार, वन-गमन, अगस्त्याश्रम में राम, लक्ष्मण और सीता का जाना, सूर्पणखा काण्ड, वालि-सुग्रीव युद्ध, लक्ष्मण तथा सुग्रीव का पुर्नमिलन, हनुमान् द्वारा संजीवनी बूटी का लाया जाना आदि के अंकनवाले शिलापट्ट मुख्य हैं। कृष्णजन्म, नन्द-यशोदा द्वारा बलदेव और कृष्ण को खिलाना, शकट लीला, वामनावतार आदि के दृश्य भी कुछ अवशेषों पर उत्कीर्ण हैं।

दशावतार मन्दिर के सन्दर्भ में उसके सहोदर जैन मं. सं. १५ (चित्र सं. २६) का उल्लेख अनिवार्य है। जैसा कि कहा जा चुका है, इसका प्रेरणास्रोत वह या उसका प्रेरणास्रोत यह रहा है।

(इ) सती-स्तम्भ

देवगढ़ की मध्यकालीन समाज में सती प्रथा प्रचलित थी। इसके प्रमाण क़रीब बीस स्तम्भ अब भी वर्तमान ग्राम के निकट यत्र तत्र विद्यमान है।

इन स्तम्भों को 'सती का चौरा' कहा जाता है। ऐसे स्तम्भों पर सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में हाथ का अग्रभाग (पंजा) अंकित है तथा नागरी लिपि में सम्बन्धित अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं। कुछ सती-स्तम्भों के स्थापना-काल इस प्रकार हैं—संवत् १६७०, १६८६, १६८८, १६९२, १६९५, १७०९, १७१०, १७१६, १७३१, १७३२, १८...., १८७६।

उपसंहार

इस अध्याय में विवेचित स्मारकों के सर्वेक्षण से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं :

१—लगभग सोलह सौ वर्षों की दीर्घ अवधि में निर्मित होते रहने से इन स्मारकों की विन्यास-रेखा आदि में समानता नहीं आ सकती है। उसका स्थितिक्रम भी किसी सरल या सुनियोजित रेखा में नहीं है।

२—इसी प्रकार उनके अंगों और उपांगों की संरचना में भी किसी निश्चित सिद्धान्त का निर्वाह नहीं हो सका है।

३—कुछ मन्दिर, शास्त्रीय विधान के विरुद्ध दक्षिण-मुख भी है।

४—ऐसे स्मारक गिने-चुने ही अवशिष्ट हैं जिनका मौलिक तथा सम्पूर्ण रूप अब भी विद्यमान है।

५—कुछ स्मारक तो पूर्णरूपेण भूमिसात् हो गये हैं, केवल भग्न अधिष्ठान आदि से ही उनके अस्तित्व का अनुमान होता है।

६—कुछ स्मारक अंशतः ध्वस्त हुए हैं जिनमें मन्दिर संख्या तीन उल्लेखनीय है जिसके दो तलों में से एक ही अवशिष्ट है।

७—जीर्णोद्धार यहाँ कई बार हुआ है पर सन्तोष की बात यह है कि जीर्णोद्धार-कर्ताओं ने स्मारकों की मौलिकता को सुरक्षित रखने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। यह अवश्य है कि उन्होंने पूर्णतः ध्वस्त स्मारकों की सामग्री का उपयोग अन्य स्मारकों के जीर्णोद्धार में कर लिया है।

८—सूक्ष्म सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि मानस्तम्भ जैसे कुछ स्मारक स्थानान्तरित भी किये गये हैं।

९—कुछ स्मारक भट्टारकों के निवास और समाधि के रूप में भी निर्मित हुए थे जिन्हें कालान्तर में मन्दिरों का रूप दे दिया गया।

१०—प्रस्तुत सर्वेक्षण में यह स्मरणीय है कि पैमाइश का कार्य सर्वप्रथम किया गया है। श्री कनिंघम ने कुछ मन्दिरों की पैमाइश की थी, पर उसमें कहीं-कहीं त्रुटियाँ पायी गयी हैं। श्री साहनी के निर्देशन में भी कुछ सर्वेक्षण हुआ था, पर वह नगण्य है।

स्थापत्य

१. मन्दिर-वास्तु का उद्भव

(अ) सुमेरु : मन्दिर-स्थापत्य का आधार स्रोत

भारत धर्मप्रधान देश है। धार्मिक तृप्ति के लिए अपनाये गये साधनों में अभीष्ट देव के निवास की कल्पना भी थी। सुमेरु के नाम से एक ऐसे पर्वत की कल्पना की गयी, जो लौकिक पर्वतों से आकार-प्रकार में सर्वथा भिन्न था। सुमेरु पर स्वर्गीय सुविधाएँ और वातावरण था। उसके बीच अभीष्ट देव का निवास था। परन्तु भक्त अपने वर्तमान जन्म में वहाँ तक पहुँच नहीं सकता था जबकि उसे अपने उपास्य का दर्शन क्षण-क्षण अनिवार्य प्रतीत होता गया। अतः उसने स्वयं सुमेरु की रचना करने की ठानी, जिस पर अवतीर्ण होकर उसका उपास्य विराजमान होता। सुमेरु[1] की कल्पना के साथ ही मन्दिर स्थापत्य का उपक्रम हुआ।

(ब) कैलास : शिखर-संरचना का प्रेरक

भक्त जानते थे कि उनका एक उपास्य देव कैलास पर भी निवास करता है। उस तक पहुँचने में असमर्थ भक्तों ने कैलास की भी रचना का सूत्रपात किया। यह परिकल्पना भी मन्दिर-स्थापत्य का सूत्रपात कही जा सकती है।

सुमेरु और कैलास की अनुकृतियों का एक मुख्य अंग शिखर भी माना गया। प्राचीन भारत में इसे विशेष मान्यता दी गयी।

(स) मुद्राओं पर अंकित मन्दिर आकृतियाँ

ई. पू. ५वीं-४थी शती के सिक्कों पर भी शिखराकृतियाँ अंकित मिलती हैं।[2] कुछ आहत मुद्राओं पर मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। ई. पू. द्वितीय तथा प्रथम शती की मुद्राओं के अतिरिक्त अनेक मूर्तियों पर भी मन्दिर-आकृतियाँ उत्कीर्ण की गयी थीं।

(ड) वेदिकाओं पर अंकित मन्दिर आकृतियाँ

मथुरा की वेदिकाओं पर अंकित मन्दिराकृतियों से उत्तर भारत के मन्दिरों के प्रारम्भिक रूप का ज्ञान होता है।

---

१. सुमेरु की पहचान के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं। सुमेरु एक ऐसा विशिष्ट पर्वत है, जहाँ से पर्वत श्रेणियाँ निकलकर चारों दिशाओं में फैलती हैं। परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने इसे पामीर पर्वत का ही प्रतिनिधि माना है। अनेक विद्वान् इसका अभिज्ञान हिमालय की विभिन्न चोटियों से करते हैं। किन्तु डॉ. आर. जी. हर्षे इसकी स्थिति अलताई पर्वत के क्षेत्र में मानते हैं, (मेरु होमलेण्ड आफ़ दी आरियन्स, विश्वेश्वरानन्द भारत-भारती, (होशियारपुर, १९७४) लेखमाला १०९।) यह अलताई पर्वत-श्रेणी एशिया के मानचित्र में पश्चिमी साइबेरिया तथा मंगोलिया में स्थित है। डॉ. बलदेव उपाध्याय पश्चिमी साइबेरिया में स्थित अलताई पर्वत को सुमेरु मानते प्रतीत होते हैं, (पुराण विमर्श, (बनारस, १९६५), पृ. ३२०।) प्रो. सैय्यद मुज़फ़्फ़र अली ने अनेक तर्कों और प्रमाणों के साथ मध्य एशिया में स्थित पामीर पर्वत को सुमेरु प्रमाणित किया है। (दी जाग्रफ़ी आफ़ दी पुराणम्, (नयी दिल्ली, १९६६) पृ. ४७-५२ तथा आकृति २ और ४।) २. द्रष्टव्य-एलन : केटलाग आफ़ क्वाइन्स आफ़ एंश्येंट इण्डिया इन दी ब्रिटिश म्युज़ियम, (लन्दन, १९३६), भूमिका तथा प. २९७-३०९।

(इ) प्राचीन मन्दिर-स्थापत्य की दो विशेषताएँ

ई. पू. द्वितीय-प्रथम शताब्दी के मन्दिरों की दो विशेषताएँ बेदिका और शिखर हैं। वेदिका जिसे वेष्टनी (बाड़) भी कहते हैं, प्रारम्भ में पवित्र-वृक्षों के चारों ओर बनायी जाती थी। ग्रामों और नगरों की रक्षा भी वेष्टनी द्वारा की जाती थी, जिसकी संज्ञा 'प्राचीर' हुई। महावीर का जिन यक्षायतनों में रुकने का उल्लेख मिलता है, वे किसी वृक्ष के नीचे होते थे[1] और उन्हें वेष्टनी द्वारा परिवेष्टित कर दिया जाता था। मन्दिरों की छत पर सादे शिखर का निर्माण करके सुमेरु और कैलाश की भाँति उच्चता, उज्ज्वलता और शान्ति की अपूर्व सृष्टि की जाती थी।

२. मन्दिर-स्थापत्य का विकास : ऐतिहासिक दृष्टि

स्थापत्य के रूप में मन्दिरों का निर्माण कदाचित् उत्तर भारत में सर्वप्रथम हुआ। साहित्य में अनेक प्राचीन (ईसवी पूर्व ६०० से भी पहले के) मन्दिरों के उल्लेख मिले हैं। मथुरा, काम्पिल्य आदि में पार्श्वनाथ, महावीर आदि के मन्दिर निर्मित हुए थे, ऐसा अनुमान कतिपय साहित्यिक उल्लेखों से होता है। महावीर से सौ वर्ष पूर्व मथुरा के कंकाली टीले पर किसी कुबेरा देवी ने पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था।[2] यह पहले सोने का था[3], बाद में प्रस्तर-खण्डों और ईंटों से आवेष्टित कर दिया गया।[4]

(अ) मौर्य-शुंग-काल

मौर्य और शुंग काल की मुद्राओं आदि से प्रबल प्रमाण मिलते हैं कि उस समय मन्दिरों का निर्माण बड़ी संख्या में होता था। इनमें बौद्ध-मन्दिर जिनपर चैत्यवृक्ष अंकित होता था, बहुत कम होते थे और जैन तथा वैदिक अपेक्षाकृत अधिक। इस समय के मन्दिरों के साथ वाटिका का निर्माण भी होता था। मन्दिर का निर्माण एक ऊँचे अधिष्ठान पर निर्मित स्तम्भों पर आधारित छत बनाकर होता था। छत प्रायः गोलाकार होती थी। गोल आकार क्रमशः अण्डाकार में परिणत होता गया। छत के आकार का यह परिवर्तन तत्कालीन शैल-गृहों में भी परिलक्षित होता है। बराबर की लोमष ऋषि की गुफा[5] और उदयगिरि (उड़ीसा) की हाथीगुम्फा[6] तथा उड़ीसा की अनेक गुफाओं[7] के छत अण्डाकार ही हैं। चित्तौड़ के पास बड़ली तथा मध्यमिका नगरी में वासुदेव के मन्दिर (मौर्य-शुंग काल) बनाये गये। इनमें से एक के साथ नारायण नाम की वाटिका भी निर्मित हुई थी। कुछ समय पूर्व विदिशा में की गयी खुदाई से ई. पू. २०० में निर्मित विष्णुमन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[8] इस मन्दिर के सामने यूनानी राजा अन्तलिकित के राजदूत हेलियोदर ने गरुडध्वज की स्थापना करायी थी।

(ब) शक-सातवाहन काल

शक-सातवाहन काल (ई. पू. १०० से २०० ई.) में मन्दिरों का निर्माण और भी अधिक संख्या में हुआ। इस समय के औदुम्बर, कुणिन्द और आर्जुनायन गणों की मुद्राओं पर जिस प्रकार देवों का विशेष चिह्न बनाया जाता था,[9] उसी प्रकार का चिह्न मन्दिरों, उनके स्तम्भों तथा ध्वजाओं पर भी बनाया जाने लगा। उदाहरण के लिए जैन मन्दिरों में तीर्थंकर

---

१. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : भारतीय कला में भगवान् महावीर, सन्मति सन्देश, (दिल्ली, मई १९६१) पृ. ३६। २. जिनप्रभसूरि : विविधतीर्थकल्प : मथुरापुरीकल्प, ९-१७। ३. वही। ४. (अ) वही। (ब) प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : भारतीय पुरातत्त्व में तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ : अहिंसावाणी (वर्ष १३ अंक ८-९, अगस्त सितम्बर, १९६३), पृष्ठ २८७। (स) डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : जैन साहित्य में मथुरा : अनेकान्त, वर्ष १५, किरण २, पृष्ठ ६५-६७। ५. दे. (अ) हेनरिच जिम्मर : दी आर्ट आफ़ इण्डियन एशिया, जिल्द १, (न्यूयार्क, १९५४), पृष्ठ २४७ तथा आकृति ए ३ बी। (अ) बेन्जामिन रालेंड : दी आर्ट एण्ड आर्चीटेक्चर आफ इण्डिया : बुद्धिष्ट, हिन्दू जैन (विक्टोरिया, १९५९) पृष्ठ ३८ तथा फलक ७, आकृति ब। (स) विंसेन्ट ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ़ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, फलक ८, आकृति ब। (ड) दी एज ऑफ़ इम्पीरियल कन्नौज, (बम्बई, १९६०) फलक ७, आकृति १३। ६ देखिए (अ) हेनरिच जिम्मर : वही, फलक ५८, आकृति ब। (ब) लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर, (लन्दन, १९५९), पृष्ठ ५७ तथा आकृति ५०। ७. देखिए (अ) हेनरिच जिम्मर : वही, फलक ४६, ५२, ५६, ५७ तथा ५८। (ब) लुइस फ्रेडरिक : वही, पृष्ठ ५७ आकृति ५२, ५३ आदि। (स) विंसेन्ट ए. स्मिथ : वही, फलक २४। ८. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योग, (इलाहाबाद, १९६७), पृष्ठ १२४। ९. विस्तार के लिए दे.—बी. एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, (आगरा, १९६६), पृ ५६५।

की मूर्ति और शैव मन्दिरों में त्रिशूल तथा परशु के चिह्न उत्कीर्ण हुए। इस काल में प्रदक्षिणा-पथ का निर्माण विशेष रूप से प्रचलित हुआ। प्रदक्षिणा-पथ प्रायः काष्ठनिर्मित वेष्टनी के रूप में निर्मित होते थे, जिन्हें कुषाण-शासकों ने पाषाण से निर्मित कर प्रशस्त रूप दिया।

(स) कुषाणकाल

कुषाण शासकों ने मन्दिरों के साथ ही साथ देवकुलों को भी बहुत महत्त्व दिया[1]। देवकुल वह भवन होता था, जिसमें मृत राजा की मूर्ति प्रतिष्ठापित होती थी। इस प्रकार एक ही देवकुल में अनेक परम्परागत राजाओं की मूर्तियाँ स्थापित हो जाया करती थीं। कुषाण काल में मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, काम्पिल्य और हस्तिनापुर को अच्छे जैन-केन्द्र माना जाता था। उत्तरप्रदेश, बिहार और उड़ीसा में भी जैन धर्म के प्रारम्भिक केन्द्र थे। यहाँ अनेक जैन मन्दिर निर्मित हुए थे।

(ड) गुप्तकाल

गुप्तकाल (ई. चौथी से छठी शती) से पूर्व निर्मित प्राचीनतम उपलब्ध मन्दिर (संख्या १७) साँची में है[2]। इसके पूर्व का कोई स्मारक पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हुआ है। गुप्तकालीन मन्दिर भीतरगाँव, देवगढ़, एरण, नचना, भुमरा, ऊँचेहरा, तिगवाँ, मढ़िया (रीठी), साँची आदि स्थानों में उपलब्ध हुए हैं। इस काल में मिट्टी और लकड़ी आदि अस्थायी माध्यमों के स्थान पर ईंट और पत्थर के स्थायी माध्यम स्वीकार किये गये[3]। मन्दिरों में सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान दिया गया। द्वारस्तम्भों को मंगलघट, कल्पवृक्ष, युगल-छवि और पत्रावली आदि के द्वारा अलंकृत किया जाने लगा। गंगा-यमुना के अंकन का व्यापक प्रचार भी इसी समय हुआ।[४] तोरण के मध्य, मन्दिर से सम्बद्ध देव की मूर्ति उत्कीर्ण की जाने लगी। गर्भगृह की छत भीतर से सपाट होती थी और उसके ऊपर लघु-शिखर का निर्माण होता था। देवगढ, भीतरगाँव और साँची में गुप्तकालीन शिखर का अविकसित रूप दर्शनीय है। इस काल के उत्तरार्ध में मन्दिर स्थापत्य पर्याप्त विकसित हो गया। शिखर का रूप इतना परिवर्तित और विशिष्ट हो गया कि वह गुर्जर-प्रतिहारकालीन तथा चन्देलकालीन शिखर का पूर्वरूप प्रतीत होता है। बाह्य भित्तियों पर मूर्तियों आदि के अंकन तथा प्रदक्षिणा-पथ का अलंकरण भी प्रारम्भ हुआ। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इस युग के मन्दिर की यह थी कि उसके साथ मण्डप भी निर्मित होने लगा[५]। यह मण्डप प्रवेश-द्वार के सामने स्तम्भों पर आधारित छत के रूप में मिलता है। नचना आदि के कुछ मन्दिरों में विभिन्न देवों, यक्षों, गन्धर्वों और अप्सराओं तथा अर्धमानवाकृति किन्नर एवं सुपर्ण आदि के अंकन भी उत्तर गुप्तकाल की विशेषता हैं।

(इ) गुप्तोत्तर काल और उसकी चार शैलियाँ

विवेच्यकाल (ई. ६०० के पश्चात्) में, उत्तर-भारत में 'नागर शैली' का विशेष रूप से उत्थान हुआ। शिखर के अलंकरण पर अधिकाधिक बल दिया गया। परन्तु मन्दिर-स्थापत्य के शेष सभी तत्त्व किंचित् परिवर्तन के साथ वही चलते रहे, जो गुप्तकाल में थे। जो परिवर्तन हुए उनसे मन्दिरों की चार भिन्न-भिन्न शैलियाँ प्रवर्तित हुईं : (१) गुर्जरप्रतिहार शैली, (२) कलचुरि शैली, (३) चन्देल शैली और (४) कच्छपघात शैली।

---

१. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : कला का इतिहास, हिन्दी साहित्य, जिल्द दो, (प्रयाग), १९६२ ई.), पृष्ठ २२८। २. सर जॉन मार्शल आदि : दी मानुमेन्ट्स आफ़ साँची, जिल्द एक, पृष्ठ ५७ तथा जिल्द तीन फलक CXIV। (ब) ए. के. कुमारस्वामी : हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन आर्ट, (लिपज़िग, १९२६ ई.) पृष्ठ ७८ तथा आकृति १५१। (स) प्रो कृष्णदत्त बाजपेयी : भारतीय संस्कृति में मध्य प्रदेश का योग, पृष्ठ १०६। ३. बी. एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ६४२। ४. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : भारतीय संस्कृति में मध्य प्रदेश का योग, पृष्ठ १२६–२७। ५. (अ) बी. एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ६४३। (ब) डॉ. सत्यनारायण दुबे : प्राचीन भारत का इतिहास, (आगरा, १९६७ ई.) पृष्ठ २६६।

(१) गुर्जर-प्रतिहार शैली

इस शैली के मन्दिरों को गोलाकार 'पूर्णभद्र'[1] कहा जाता है। कुछ मन्दिर १६ कलाओं के कारण 'षोडशभद्र' भी कहे जाते हैं। इन मन्दिरों के अवयवों का वर्णनपरवर्ती वास्तुशास्त्रों में किया गया है। साधारणतः प्रत्येक मन्दिर के आठ अंग होते हैं : अधिष्ठान, वेदिबन्ध, अन्तरपत्र, जंघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते हैं, आमलक, आमलिका और कलश। मन्दिर के भीतर गर्भगृह और सामने एक मण्डप बनता था। मण्डप एक ही होता था। स्तम्भों पर ऊपर की ओर घटपल्लव की रचना मिलती है। अन्य अलंकरणों में खर्जूर-पत्रावलि और कमल आदि मुख्य थे, जिन्हें जगती के चारों ओर अंकित किया जाता था। कुमुद भी चारों ओर बनता था। मत्तवारण और वसन्तपट्टिका के अंकन भी होते थे। बहिर्भित्तियों पर मूर्तियों का अलंकरण गुप्तकाल की अपेक्षा कुछ अधिक और कलचुरियों तथा चन्देलों की अपेक्षा कुछ कम किया जाता था। द्वार के अलंकरण में घटपल्लव, हंस, कीर्तिमुख और गंगा-यमुना के अंकन गुप्तकाल की ही भाँति चलते रहे। द्वारों पर घटपल्लवों का अंकन इतना आवश्यक और व्यापक था कि बरुवासागर, मढ़खेरा (टीकमगढ़), देवगढ़ और कन्नौज आदि के मन्दिरों के द्वारों की संज्ञा घटपल्लव रूढ़ हो गयी।

(२) कलचुरि शैली

कलचुरि शासकों ने मन्दिर-वास्तु में जिन तत्त्वों को ग्रहण किया, उनमें से अधिकांश गुर्जर-प्रतिहार तत्त्व हैं। इन्होंने भी बहिर्भाग में अलंकरण को प्रधानता दी, परन्तु गुप्त और गुर्जर-प्रतिहार शासक प्राकृतिक दृश्यों को अधिक महत्त्व देते थे। जबकि इन्होंने मानवाकृतियों, गणों और उपगणों आदि को अधिक प्रधानता दी। इन्होंने उनकी अपेक्षा द्वार के अलंकरण पर भी अधिक बल दिया। 'सप्तशाखा-द्वारों' का सूत्रपात इसी समय से हुआ। ऐसे द्वारों के तोरण पर सात पट्टिकाएँ होती हैं, जिनपर क्रमशः नाग, रूप, व्याल (शार्दूल), मिथुन, नवग्रह, दिक्पाल और कमल-कलश (नीचे-ऊपर) के अंकन किये जाते थे। ऐसे द्वार नौहटा (दमोह), बिनैका (सागर), पाली, त्रिपुरी, अमरकण्टक, सोहागपुर, सिंहपुर (शहडोल), रतनपुर (बिलासपुर), जाँजगीर, खरोद (बिलासपुर) और शिवरीनारायण (बिलासपुर) आदि में दर्शनीय हैं।

इस शैली में शिखर की ऊँचाई बहुत होती गयी। सोहागपुर में शिखर ऊपर की ओर अपेक्षाकृत अधिक पतला होता गया है। वैष्णव, शैव और जैन मन्दिरों की निर्माण-विधि में कोई अन्तर नहीं होता था और सिंहपुर (शहडोल), ग्यारसपुर, दूधई, चाँदपुर, सेरोन, कारीतलाई, बिलहरी, पठारी (विदिशा), ऊन (बड़वानी), बड़गाँव, खजुराहो आदि स्थानों पर उक्त तीनों सम्प्रदायों के मन्दिर पास-पास और एक ही प्रकार के हैं।

इस शैली की सबसे बड़ी देन है, 'पंचायतन' शैली का प्रारम्भ। मण्डप तो गुर्जर-प्रतिहारों के समय से ही ही बनता आया था, इस समय अर्धमण्डप और बनाया जाने लगा जिससे मन्दिर के पाँच भागों (आयतनों)[2] की पूर्ति हो गयी।

(३) चन्देल शैली

चन्देल काल में पंचायतन-मन्दिरों का पर्याप्त विकास हुआ। शिखर शैली भी इस काल में अपने उत्कृष्ट रूप को प्राप्त हुई। अलंकरणों के अन्तर्गत मूर्तियों का बाहुल्य उल्लेखनीय है। कलचुरिकाल की भाँति इस काल में भी वैष्णव, शैव

---

१. विभक्तितलच्छन्दानामूर्ध्वमानं विशेषतः। प्रयुक्ता विविधाश्छन्दा वास्तुवेदसमुद्भवाः॥
भवते त्रिंशतिधा क्षेत्रे त्रिभागः कर्णविस्तरः। तत्समश्च प्रतिरथो विस्तरे निर्गमे तथा॥
भागा नन्दी च षड्भद्रं द्विभागो भद्रनिर्गमः। चतुर्भागा भवेद्भित्तिः शेषं गर्भगृहं भवेत्॥
कर्णे द्विशृङ्गं तिलकं शिखरं सूर्यविस्तरम्। रथैकशृङ्गं तिलकमष्टांशा चोरुमञ्जरी॥
नन्दिकायां च तिलकमुरःशृङ्गं षडंशकम्। रथोद्गमस्ततो भद्रे पूर्णभद्रस्य लक्षणम्॥
देखिए—भुवनदेवाचार्य : अपराजितपृच्छा, अ. १६४, श्लोक ६-१०।

२. पंचायतन शैली का अन्य रूप भी है, जिसमें अधिष्ठान पर मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त चारों कोनों पर एक-एक लघु मन्दिर की योजना होती है।

और जैन मन्दिर एक दूसरे के समान और पास-पास निर्मित हुए। धर्म पर कोल-कापालिकों का प्रभाव बढ़ा। अतः रति चित्रों का आधिक्य, अप्सराओं का विविध मुद्राओं में आलेखन और युग्म-छवियों के अंकन में वृद्धि हुई।[1] इसके विपरीत कलचुरि शासकों के समय मत्तमयूर शाखा के साधुओं का प्रभाव बढ़ा, जो नैतिक पक्ष पर अधिक बल देते थे। इसीलिए उस समय ऐसी मूर्तियाँ अधिक नहीं बनी। कोल-कापालिक आदि वाममार्गी शैव साधुओं के लिए मठों का निर्माण मन्दिरों के समीप ही होता था। गुर्गी, चन्द्रेह आदि में प्राप्त मठों के कई तल (मंज़िल) हैं। इन साधुओं का जीवन आनन्दपरक रहा है। सम्भवतः इनका प्रभाव जैन साधुओं पर भी पड़ा होगा। ये साधु मन्त्र, तन्त्र आदि पर अधिक विश्वास रखते थे, इसीलिए इनके प्रभाव में आनेवाले कलचुरि और चन्देल शासकों के अनेक तान्त्रिक-चिह्न प्राप्त हुए हैं[2]। इस समय आचार्य परम्परा का महत्त्व बढ़ गया था और वे मठाधीशों-जैसे भोगविलास में लिप्त रहने लगे थे। नग्न योगियों तथा योगिनियों और उनके साथ दाढ़ीधारी शैव-साधुओं का आलेखन खजुराहो, भेड़ाघाट, त्रिपुरी, चाँदपुर, चन्द्रेह (सीधी), गुर्गी (रीवाँ), जाँजगीर, उदयपुर आदि में उपलब्ध होता है[3]।

(४) कच्छपघात शैली

इस शैली में कला का आलंकारिक पक्ष अत्यन्त प्रबल हो उठा। भित्तियों और स्तम्भों आदि का कोई भी भाग अलंकरणरहित नहीं छोड़ा जाता था। प्राकृतिक दृश्यों के स्थान पर मानव-मूर्तियाँ अंकित होने लगीं, उनमें भी अप्सराओं और योगिनियों आदि के अंकन अधिकांश होते थे। परन्तु मूर्तियों मे रूढ़ि और एकरूपता की अधिकता और मौलिकता का अभाव बढ़ता गया। शिखर का प्रायः वही रूप रहा, जो पहले था। उसकी लम्बाई में भी कोई अन्तर नहीं आया।

२. देवगढ़ का मन्दिर वास्तु : स्वरूप और प्रमुख विशेषताएँ

मन्दिर वास्तु के उद्भव और विकास की विभिन्न युगीन प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में अब हम देखेंगे कि देवगढ़ में मन्दिर-वास्तु का स्वरूप क्या रहा, उसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं और समकालीन प्रवृत्तियों का आदान-प्रदान उसमें कहाँ तक हुआ। इसके लिए, यहाँ के प्रायः सम्पूर्ण स्थापत्य को एक इकाई मानकर उसका तीन दृष्टियों से अध्ययन करेंगे—

१. भूमि तथा उपकरण,
२. निर्माता और निर्माणकाल,
३. शैलीगत विशेषताएँ और अलंकरण

(१) भूमि तथा उपकरण

देवगढ़ के स्थापत्य का निर्माण एक समतल[4] अधित्यका[5] पर हुआ है। उसकी भूमि ठोस है।[6] सभी मन्दिर और मानस्तम्भ चारों ओर से प्रशंसनीय लताओं और औषधि-वृक्षों से सुशोभित हो रहे हैं।[7] उनका निर्माण पाषाण से हुआ है। पाषाणों की जुड़ाई में चूना, लोहा और सीसा का प्रयोग किया गया है। मिट्टी और लकड़ी आदि अस्थायी सामग्री का प्रयोग मूलतः बिलकुल नहीं हुआ है। आधुनिक काल में जीर्णोद्धार के लिए सीमेण्ट और चूना तथा पाँच-छह द्वारों में कपाटों के लिए काष्ठ फलक प्रयोग में लाये गये हैं। पाषाण यहीं से खोदकर निकाला गया था। साधारणतः लाल-बलुआ और 'ग्रे नाइट' तथा कहीं-कहीं काला और भूरा बलुआ पाषाण प्रयोग में आया है।

---

१. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : चन्देल और उनकी देन : मध्यप्रदेश सन्देश, १ अगस्त ६२, पृ. २६। २. (अ) प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : चन्देल और उनकी देन : मध्यप्रदेश सन्देश, ११ अगस्त, ६२, पृष्ठ २६। (ब) प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : गुप्त तथा मध्यकालीन मूर्तिकला : कल्पना, जनवरी १९६२, पृष्ठ ११। ३. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : मध्यप्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन : सागर विश्वविद्यालय पुरातत्त्व पत्रिका, संख्या १, १९६७, पृष्ठ ८७। ४. ठक्कुर फेरु : वास्तुसार प्रकरण : अध्याय १, श्लोक ६-१०। ५. यह अधित्यका लगभग १ मील लम्बी और ६ फर्लांग चौड़ी है, जिसके मध्य ८ एकड़ २० डिसमिल भूमि पर 'जैन स्मारक' विद्यमान हैं। ६. पं. आशाधर : प्रतिष्ठासारोद्धार : अध्याय १, श्लोक १९। ७. वराहमिहिर : बृहत्संहिता : (मंगलौर, १९४७) अध्याय ५६, श्लोक ६-८।

(२) निर्माता और निर्माण काल

देवगढ़ की वास्तु और मूर्ति-कला आबू और खजुराहो आदि की भाँति किसी एक व्यक्ति या राजवंश की देन नहीं है। इतनी उत्कृष्ट और विपुल कृतियों के निर्माण में जनता का सहयोग, शासक वर्ग का प्रोत्साहन, कलाकारों के स्थानीय होने से सरलता से उपलब्धि और निर्माण-स्थल पर ही पाषाण की प्राप्ति बहुत सहायक सिद्ध हुई होंगी।

इन कृतियों का निर्माण लगभग सोलह सौ वर्षों तक चलता रहा। यहाँ प्राप्त हुए एक अभिलेख[1] की लिपि मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि से पर्याप्त समानता रखती है।[2] नाहरघाटी और दशावतार मन्दिर में प्राप्त दो अभिलेख गुप्तकाल के हैं। कुछ जैनमन्दिर[3] तथा मूर्तियाँ[4] भी यहाँ इसी समय की विद्यमान हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उस समय यहाँ निर्माण कार्य चालू था।

संवत् ९१९ में गुर्जर-प्रतिहार शासक भोज के संरक्षण में भी यहाँ निर्माण होता रहा।[5] संवत् ११२१ तक गुर्जर-प्रतिहार शासक राज्यपाल द्वारा एक मठ (मं. सं. १८, चित्र सं. २८) का निर्माण कराया जा चुका था।[6] संवत् १२१० में महासामन्त उदयपाल ने मूर्तियों के निर्माण में आर्थिक सहयोग दिया था।[7] यह महासामन्त किस शासक का था, इसके बारे में कुछ निश्चित नहीं है। इसके पश्चात् ही प्रत्येक शताब्दी के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनसे प्रमाणित होता है कि निर्माण का यह कार्य विक्रम की १९वीं शती तक चलता रहा। यही कारण है कि यहाँ एक ओर मन्दिर के प्रारम्भिक रूप का दर्शन होता है तो दूसरी ओर उत्तर-मुग़लकाल की कला भी दृष्टिगत होती है। स्थापत्य के निर्माण की प्रक्रिया अविच्छिन्न रूप से इतने दीर्घकाल तक भारत के गिने चुने स्थानों में ही मिलती है।

(३) शैलीगत विशेषताएँ और अलंकरण

अग्निपुराण[8] में ४५ मन्दिरों की एक सूची दी गयी है, जिसमें चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र मन्दिरों के भी नाम हैं। बृहत्संहिता[9] में मन्दिरों के २० भेद वर्णित हैं। उन्हीं में चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशास्री एवं सर्वतोभद्र भी परिगणित हैं। देवगढ़ में इनमें से मं. सं. १५ षोडशभद्र और मं. सं. २८ पूर्णभद्र हैं। शेष मन्दिर चतुष्कोण हैं, जिनमें से कुछ समचतुष्कोण नहीं हैं। अष्टकोण मन्दिर यहाँ उपलब्ध नहीं हुआ है। अग्निपुराण में उक्त उल्लेख के तुरन्त पश्चात् लिखा है कि ये नाम नागर-प्रासादों के भी हैं और लाटप्रासादों के भी। इस दृष्टि से देवगढ़ के सभी मन्दिर नागर प्रासादों के अन्तर्गत रखे जायेंगे।

समरांगण-सूत्रधार[10] के ६३वें अध्याय में २० प्रकार के मन्दिर परिगणित हुए हैं और उन्हें द्राविड़ प्रासादों (अध्याय ६१-६२) तथा वाराट-प्रासादों (अध्याय ६४) से पृथक् निर्दिष्ट किया गया है। इन उल्लेखों के आधार पर देवगढ़ के सभी मन्दिर 'नागरशैली' के अन्तर्गत आते हैं। केवल मं. सं. १२ में प्रदक्षिणा-पथ शेष है। इसलिए उसे 'सन्धार-प्रासाद' कहेंगे, और शेष को 'निरन्धार'। इसी प्रकार उक्त मन्दिर में गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ, अन्तराल और महामण्डप और अर्धमण्डप की रचना हुई है। अतः उसे पंचायतन शैली का मानेंगे। शेष में से कुछ में गर्भगृह, महामण्डप और अर्धमण्डप, कुछ मे गर्भगृह और मण्डप तथा कुछ में केवल गर्भगृह ही है। अतः ये सब पंचायतन शैली के अन्तर्गत नहीं आ सकेंगे। शास्त्रों के अनुसार पंचायतन शैली को ही मन्दिर का पूर्णरूप माना गया है। जिनमें एक, दो या तीन अंग मिलते हैं, उनके विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता है।

---

१. अब साहु जैन संग्रहालय में सुरक्षित। २. दे.—चित्र सं. ४६। ३. मं. सं. १२, ३०, १५ आदि। दे.—चित्र सं. १७, ३४ तथा ३६। ४. दे.—चित्र सं. ५०,५१,५२,५३,५४। ५. दे.—मं. सं. १२ के अर्धमण्डप में दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख। ६. डॉ. एच. डी. साँकलिया : जैन यक्षस् एण्ड यक्षिणीज़ : बुलेटिन ऑफ़ दी डेक्कन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द १, अंक २-४ (मार्च १९४०), पृ. १६२। ७. दे.—मं. सं. १२ के गर्भगृह में दायीं ओर भित्ति-स्तम्भ पर निर्मित देवकुलिका पर उत्कीर्ण अभिलेख। और भी देखिए—एच. हारग्रीव्ज़ : ए. पी. आर.-१९१६, पृ. ५ तथा परिशिष्ट 'अ'। ८. (अ) महर्षि वेदव्यास, (आचार्य बलदेव उपाध्याय सम्पादित) वाराणसी, १९६६, अध्याय १०४, श्लोक १३-२०। (ब) गरुडपुराण में भी प्रायः यही क्रम द्रष्टव्य है। दे.—गरुडपुराण, डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य सम्पादित, (वाराणसी, १९६४), अध्याय ४७, पद्य ११-३४। ९. वराहमिहिर : (बंगलौर, १९४७), अध्याय ५६, श्लोक १७-१८। १०. गायकवाड़ ओ. सी., बड़ौदा से १९२४, १९२५ में दो जिल्दों में प्रकाशित।

अधिकांश मन्दिरों पर शिखर की संयोजना हुई है। कुछ लघु-मन्दिरों पर लघु-शिखर (गुमटी) निर्मित हुए हैं। कुछ-मन्दिरों के शिखर अपने प्रारम्भिक स्वरूप से भिन्नता रखते हैं जो जीर्णोद्धार के परिचायक हैं। कुछ शिखर मन्दिरों के गर्भगृह या मण्डप पर न होकर अर्धमण्डप पर संयोजित किये गये हैं। जिन मन्दिरों पर शिखर नहीं हैं, उनकी छतें सपाट हैं। बड़े मन्दिरों की सपाट छतें मूलतः कई पाषाण-शिलाओं की संयोजना करके निर्मित की गयी थीं। कालान्तर में वे ध्वस्त हो गयीं। और अब उन्हें साधारण पाषाण-शिलाओं को सीमेण्ट से जोड़कर बना दिया गया है। बहुत-सी ऐसी पाषाण-शिलाएँ यहाँ-वहाँ प्राप्त हुई हैं जैसी ऐहोल के गुप्तकालीन लाड़खाँ मन्दिर की छत पर आज भी देखी जा सकती है। मं. सं. ३० (चित्र ३४) के मण्डप की छत अभी भी उसी प्रकार की शिलाप्रणालिकाओं द्वारा निर्मित देखी जा सकती है। अनुमान है कि एक-दो मन्दिरों की पूरी छत उसी प्रकार की रही होगी। दो लघु-मन्दिरों[1] की छतें एक-एक शिला द्वारा निर्मित की गयी है। इनकी तुलना न केवल छत की दृष्टि से अपितु दोहरी कानिश, प्रवेश-द्वार और उनपर अंकित गंगा-यमुना आदि की दृष्टि से भी तिगवाँ के विष्णु-मन्दिर और पतौरा आदि के गुप्तकालीन मन्दिरों से की जा सकती है।

उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त एक विशेषता ऐसी भी है, जो कुछ मन्दिरों को मन्दिर कम और निवास-स्थान अधिक प्रमाणित करती है। जैसा कि कहा जा चुका है देवगढ़ में साधुओं और भट्टारकों के लिए भी कुछ आवास-गृहों का निर्माण हुआ था, जो कालान्तर में मन्दिरों के रूप में परिणत कर लिये गये। इनके उदाहरण हो सकते है—मं.-सं. २, ८,१४,२१ और २७।[2]

४. देवगढ़ के जैन मन्दिर

अब हम यहाँ के कुछ विशिष्ट मन्दिरों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करके ज्ञात करेंगे कि उनकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं।

(१) मन्दिर संख्या १२

यह मन्दिर[3] देवगढ़ में कई दृष्टियों से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कला, शैली और अभिलेखों से निष्कर्ष प्राप्त होता है कि इस सम्पूर्ण मन्दिर का निर्माण तीन या चार बार में हुआ है। जिसे अब इस मन्दिर का महामण्डप (चित्र १७) कहा जाता है, वह सम्भवतः एक स्वतन्त्र मन्दिर के रूप में सर्वप्रथम निर्मित हुआ था। इसके पश्चात् शिखर-युक्त गर्भगृह (चित्र २४) का निर्माण भी एक स्वतन्त्र-मन्दिर के रूप में हुआ होगा, फिर गर्भगृह और महामण्डप के मध्यवर्ती अन्तर को, प्रदक्षिणापथ के निर्माण द्वारा पूरा करके इन तीनों कृतियों में एकत्व की संयोजना की गयी होगी। और इस सबके पश्चात् प्रस्तुत मन्दिर को 'पंचायतन' का परिपूर्ण रूप देने के लिए अर्धमण्डप का निर्माण भी हुआ होगा। इस प्रकार यह सम्पूर्ण मन्दिर एक आकस्मिक और विचित्र संयोग के फलस्वरूप विभिन्न संयोजनाओं के द्वारा अस्तित्व में आया दीखता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम इसके अंग-प्रत्यंग पर निर्माण-क्रम से विचार करेंगे।

महामण्डप

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस मन्दिर के **महामण्डप**[4] का निर्माण एक स्वतन्त्र मन्दिर के रूप में हुआ था इसका प्रथम कारण यह है कि इसका निर्माण कदाचित् चौथी शती में हुआ था जबकि गर्भगृह का, जैसा कि आगे कहेंगे, छठीं शती में। महामण्डप को गुप्तकालीन कृति सिद्ध करने में वह शिलालेख (चित्र ४९) (ज्ञानशिला) और तीर्थंकर मूर्ति (चित्र ५०) पर्याप्त है जो यहाँ प्राप्त हुई थीं इसके मध्यवर्ती चार स्तम्भों के बीच, कुछ वर्ष पूर्व तक एक वेदी थी, जिसमें उक्त अभिलेख जड़ा था। इस अभिलेख की लिपि यद्यपि अनेक भारोपीय लिपियों का मिश्रण है, तथापि इसमें अशोककालीन ब्राह्मी के लक्षण भी देखे जा सकते हैं।[5]

---

१. दे.—लघुमन्दिर सं. ६। २. दे.—चित्र सं. २, १३, १९ और २१। ३. दे.—चित्र सं. १६ से २५ तक। ४. दे.—चित्र सं. १७।
५. 'इस अभिलेख की प्रथम सात पंक्तियों में वास्तव में विभिन्न वर्णमालाओं के नमूने समाविष्ट हैं, जिनमें अधिकांश द्राविड़ तथा मौर्यकालीन ब्राह्मी भी समाविष्ट हैं यद्यपि तुर्की और फ़ारसी उसमें नहीं है।"—श्री दयाराम साहनी, ए. प्रो. रि., भाग दो. १९१८, पृष्ठ १०।

गर्भगृह

गर्भगृह कदाचित् छठीं शती में निर्मित हुआ था। गुप्तकाल के उत्तरार्ध में प्रचलित प्रायः सभी विशेषताएँ इसमें उपलब्ध होती हैं। इस समय तक शिखर का रूप इतना परिवर्तित और अलंकृत हो गया था कि वह गुर्जर-प्रतिहार और चन्देल-काल के शिखर का पूर्व रूप प्रतीत होता है। प्रस्तुत शिखर (चित्र २४ और २५) में यह तथ्य सरलता से दर्शनीय है। बाह्यभित्तियों की अलंकरण-विहीन योजना और दोहरी कार्निस आदि विशेषताएँ भी इसे गुप्तकाल के उत्तरार्ध की कृति प्रमाणित करती हैं।

जहाँ तक इसके प्रवेश-द्वार (चित्र १८) का प्रश्न है वह अपेक्षाकृत अधिक विकसित और अलंकृत है, परन्तु वह जैसा कि उसके भीतरी बायें पक्ष पर उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है, संवत् १०५१ में स्थापित किया गया था। इस द्वार की रचना-शैली से यह स्पष्ट है कि यह मन्दिर की मूल योजना का एक अंग नहीं था प्रत्युत एक प्राचीन द्वार के स्थान पर बाद में इसकी स्थापना की गयी। वर्तमान द्वार (चित्र १८) की रचना-शैली मन्दिर की रचना-शैली से कुछ नवीन है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि संवत् १०५१ तक यह मन्दिर (गर्भगृह) इतना प्राचीन हो चुका था कि उसका प्रवेश-द्वार नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था और उसे बदलना आवश्यक हो गया था। और फिर इसमें स्थित वह मूर्ति (चित्र ५१) तो गुप्तकाल के तुरन्त बाद की है ही, जिसकी मुखाकृति, जटाजूट, अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म अंकन तथा अलंकरण की सहज भव्यता गुप्तकाल में विशेष रूप से प्राप्त होती है।

प्रदक्षिणापथ

प्रदक्षिणापथ गर्भगृह के एक या डेढ़ शती पश्चात् निर्मित हुआ होगा। गर्भगृह की कार्निश और उसके ऊपरी भाग को सूक्ष्मता से देखने पर ज्ञात होता है कि उसे काटकर बाद में समाविष्ट किये गये प्रदक्षिणा-पथ के (उत्तरंग) उष्णीष अपनी असमानता को आज भी नहीं छिपा सकते। इसकी बहिर्भित्तियों में चिनी हुई जालियों[1] और यक्षी-मूर्तियों[2] के अंकन सहित स्तम्भों की कला गुर्जर-प्रतिहार कालीन प्रतीत होती है। यक्षी-मूर्तियों के नीचे उत्कीर्ण उनके नामों की लिपि आठवीं शती से पूर्व की नहीं हो सकती। और फिर किसी भी गुप्तकालीन मन्दिर में प्रदक्षिणा-पथ देखने को नहीं मिलता। डॉ. हँसमुख धीरजलाल साँकलिया ने इसकी बहिर्भित्तियों पर अंकित यक्षी-मूर्तियों को लगभग ६०० ई. से पूर्व—चन्देलकाल तक की माना है।[3] इससे भी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है।

अन्तराल

अन्तराल का निर्माण कदाचित् प्रदक्षिणापथ के साथ या उसके कुछ समय बाद हुआ होगा।

अर्धमण्डप

अर्धमण्डप[4] भी प्रदक्षिणापथ के साथ या कुछ बाद की कृति होना चाहिए। उसके दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर के अभिलेख में संवत् ९१९ उत्कीर्ण है। इससे इस अर्धमण्डप के निर्माण की उत्तरावधि निश्चित होती है। इस अभिलेख में प्रस्तुत स्तम्भ के निर्माण का उल्लेख है, अर्धमण्डप के निर्माण का नहीं। अनुमानतः यह स्तम्भ के स्थान पर स्थापित किया गया होगा जो किसी कारण टूट गया होगा। अतः अर्धमण्डप को उक्त संवत् ९१९ से लगभग १०० वर्ष पूर्व तक की कृति माना जा सकता है।

निर्माण क्रम के इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मं. सं. १२, दो मौलिक मन्दिरों का समन्वित और परिवर्तित रूप है और उसका निर्माण चौथी शताब्दी ई. से ९वीं शताब्दी ई. तक होता रहा। अब इस मन्दिर के अर्धमण्डप आदि पाँच अंगों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

---

१. जालियों की स्थिति का परिज्ञान चित्र सं. २४ से हो सकता है। २. कुल २४ यक्षी-मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं। कुछ के लिए दे.—चित्र सं. १०१ और १०२। ३. जैन यक्षस् एण्ड यक्षिणीज : बुलेटिन ऑफ दी डेक्कन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द १, अंक २-४, मार्च १९४०, आकृति ६, ८, ९। ४. दे.—चित्र सं. १६।

अर्धमण्डप (चित्र १६) चार स्तम्भों पर आधारित है। सामने के दो स्तम्भ एक समान हैं और शेष दो असमान। वे मूल स्तम्भों के खण्डित हो जाने से समाविष्ट किये गये होंगे। उनके अलंकरण और परिधि की असमानता तथा अलंकरणरहित चौकियाँ उक्त अनुमान की पुष्टि करती हैं। उनके शीर्ष मौलिक हैं। सामने के स्तम्भों पर चौकियों के ऊपरी भाग के चारों ओर क्षेत्रपालों का अंकन है। और उनके ऊपर शिखराकृतियों से युक्त देवकुलिकाओं में तीन-तीन ओर तीर्थंकरों की कायोत्सर्गासन और एक-एक ओर यक्षियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उनके ऊपर दोनों स्तम्भों पर प्रत्येक ओर एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर अंकित हैं, जिनके दोनों ओर एक-एक सुन्दरी का आकर्षक अंकन है। सुन्दरियों के पार्श्व में एक-एक पुरुषाकृति और नारी-आकृति उत्कीर्ण की गयी है। इस दृश्य के ऊपर पत्रावलि का अलंकरण और उसके ऊपर विभिन्न देव-देवियों का चित्रण है। इसके भी ऊपर नृत्यमण्डली का मनोरम आलेखन हुआ है। जिसके ऊपर जालीदार कटाव, इसके पश्चात् समग्र मण्डप का भार सम्हालने में दत्तचित्त कीचक दिखाये गये है। तोरण पर गोमुख यक्ष के अनन्तर विविध वाद्ययन्त्रों से सज्जित एक लम्बी संगीत-मण्डली (दे. चित्र सं. ११८) का अंकन काफ़ी आकर्षक बन पड़ा है। दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर एक ऐतिहासिक अभिलेख[1] उत्कीर्ण है, जिससे देवगढ़ का प्राचीन नाम जानने में और प्रतिहार राजा भोजदेव की राज्य-सीमा तथा समय के निर्धारण में सहायता मिलती है।

अर्धमण्डप और महामण्डप के मध्य जो रिक्त स्थान (खुला चबूतरा) पड़ा है, उसका अस्तित्व विचारणीय है। ऐसी कोई परम्परा दृष्टिगत नहीं होती, किन्तु पट्टदकल के विरूपाक्ष-मन्दिर (७४० ई.) में यह बात देखी जा सकती है। वहाँ मन्दिर के मुख्य भवन से कुछ दूर हटकर, जैसा कि यहाँ हुआ है, एक स्वतन्त्र अर्धमण्डप का निर्माण हुआ है। यहाँ की भाँति वह भी चार स्तम्भों पर आधारित है।

महामण्डप

महामण्डप (चित्र १७) की रचना, जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है, चौथी शताब्दी ई. में एक स्वतन्त्र मन्दिर के रूप में हुई थी। मन्दिर का यह रूप सर्वथा अद्वितीय है। ३६ स्तम्भों पर आधारित यह महामण्डप वास्तव में **'श्रीमण्डप'** के रूप में निर्मित हुआ था। श्रीमण्डप, वे प्रकोष्ठ होते हैं जिनकी रचना तीर्थंकर के समवशरण के ठीक मध्य में की जाती हैं। इनकी संख्या १२ होती है। प्रस्तुत मण्डप में वे इसी संख्या में देखे जा सकते हैं[2]। ये 'श्रीमण्डप' प्रत्येक दिशा में वीथी-पथ को छोड़कर चार-चार भित्तियों के अन्तराल से तीन-तीन होते हैं। इनके मध्य मे 'गन्धकुटी' की रचना होती है। गन्धकुटी वह चतुष्कोण प्रकोष्ठ होता है, जिनकी रचना १२ श्रीमण्डपों के मध्य तीन पीठिकाओं पर होती है। इसके मध्य में सिंहासन पर विराजमान होकर तीर्थंकर धर्मोपदेश देते है।

प्रस्तुत महामण्डप के मध्य में भी एक चतुष्कोण वेदी थी[3]। जिसे **'गन्धकुटी'** के रूप में ही निर्मित किया गया होगा। अब यह वेदी नहीं है[4]। पर उसकी स्थिति रेखाचित्र से देखी जा सकती है[5]। इसी वेदी में जड़ा हुआ जो अभिलेख (चित्र ४९) प्राप्त हुआ है, उसमें जैसा कि कहा जायेगा १८ भाषाएँ प्रयुक्त हुई है। तीर्थंकर का धर्मोपदेश १८ महान् भाषाओं (और सात सौ लघु भाषाओं) में होता है,[6] जिनके प्रतीक रूप में यह अभिलेख प्रतिष्ठापित किया गया होगा। इस प्रकार यह महामण्डप मूलतः एक ऐसा मन्दिर है, जिसके समान दूसरा मन्दिर कदाचित् ही कहीं निर्मित हुआ होगा। इस दृष्टि से निःसंकोच कहा जा सकता है कि भारतीय मन्दिर-स्थापत्य को देवगढ़ की इस महामण्डप के रूप में एक अद्भुत देन है।

अन्तराल

इस मन्दिर (सं. १२) का अन्तराल भी उल्लेखनीय है। इसके भीतर दायें-बायें एक-एक लघु-मन्दिर की

---

१. दे.- परिशिष्ट दो अभिलेख क्र. एक। २. दे.—रेखाचित्र क्र. ३६। ३. (अ) ए. कनिंघम : आ. स. इ. : जिल्द १०. पृष्ठ १००-१०१। (ब) ए. फुहरर : भा. ए. इंश., पृष्ठ १२०। (स) दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., भाग दो, पृष्ठ ६। (द) श्री परमानन्द बरया ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। ४. इसे लगभग तीन वर्ष पूर्व क्षेत्रीय प्रबन्ध-समिति ने इसलिए हटा दिया है कि उससे सम्पूर्ण मन्दिर की संयोजना और आकर्षण में बाधा होती थी। ५. दे.—रेखाचित्र क्र. ३६। ६. यतिवृषभाचार्य : तिलोयपण्णत्ति, ४-६०२।

संयोजना हमें उलझन में डाल देती है। इन लघु-मन्दिरों को गर्भगृह या उसके अंग नहीं कह सकते, क्योंकि उसके और उनके बीच प्रदक्षिणापथ विद्यमान है और ये प्रदक्षिणापथ से सटे हुए नहीं हैं। इनका निर्माण कम से कम प्रदक्षिणापथ के पश्चात् ही हुआ था। क्योंकि उसकी बहिर्भित्तियों में संयोजित दो-दो यक्षी-मूर्तियाँ प्रत्येक लघु मन्दिर द्वारा ढक ली गयी हैं, जिससे प्रदक्षिणापथ के प्रभाव में और यक्षी मूर्तियों की पूर्ण (२४) संख्या में शोचनीय कमी पड़ी है[1]। इनका निर्माण अन्तराल के साथ भी नहीं, बल्कि उसके कम से कम एक शती पश्चात् हुआ होगा; कुछ दिन पूर्व तक इन लघु-मन्दिरों में यक्षियों की दो मूर्तियाँ स्थापित थीं,[2] जिससे प्रतीत होता है कि ये किसी ऐसे भट्टारक की प्रेरणा से निर्मित किये गये होंगे जिसके विचार से गर्भगृह में प्रवेश करने से पूर्व विशिष्ट स्थान में स्थापित यक्षी-मूर्ति का दर्शन अनिवार्य होता था। विचारों की यह कट्टरता भट्टारकों में नौवीं शती के पश्चात् आयी थी। अतः कहा जा सकता है कि इन लघु-मन्दिरों का निर्माण भी नौवीं शती के पश्चात् हुआ होगा, जब अन्तराल निर्मित हो चुका था।

प्रदक्षिणापथ

प्रदक्षिणापथ गर्भगृह से परवर्ती कृति है। बहिर्भित्तियों में संयोजित जालीदार कटाव तथा चौबीस-यक्षियों की मूर्तियों के कारण यह जैन-स्थापत्य में ही नहीं, अखिल भारतीय स्थापत्य में भी अनुपम बन पड़ा है। खजुराहो और भेड़ाघाट में चौंसठ-योगिनियों की मूर्तियों का प्रदर्शन निश्चय ही इस प्रसंग में विचारणीय है। सतना जिले में पतौरा ग्राम के समीप 'पतियानदाई' नाम का एक मन्दिर है[3]। उसमें जो मूर्तिफलक प्राप्त हुआ था[4], उस पर चौबीस-यक्षियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। यक्षियों के साथ उनके नाम भी उन पर अंकित हैं। इस फलक और प्रस्तुत बहिर्भित्तियों की संयोजना की तुलना की जा सकती है। दोनों की यक्षियाँ प्रायः खड़ी और दो हाथोंवाली हैं। दोनों स्थानों पर उनके उपास्य तीर्थंकर भी अंकित हुए हैं, देवगढ़ में यक्षियों के ऊपर मस्तक पर, और उस शिलाफलक पर यक्षियों की पंक्ति को आवेष्टित करनेवाली दूसरी पंक्ति में। दोनो स्थानों पर यक्षियों के नाम उत्कीर्ण हैं और दोनों के ही नामों में भाषागत और क्रम सम्बन्धी अशुद्धियाँ हुई हैं, यहाँ तक कि कुछ नाम छूट गये हैं और कुछ की द्विरुक्ति हो गयी है। बहिर्भित्तियोंवाली मूर्तियों का आकार लगभग १ फ़ी. ३ इं. है और उनमें से प्रत्येक पृथक्-पृथक् शिलाफलकों पर उत्कीर्ण हैं, जबकि अन्यत्र वे सब एक ही शिलाफलक पर अंकित हैं और इसीलिए उनका आकार बहुत छोटा है। कला, भावाभिव्यक्ति और लिपि से प्राप्त निष्कर्ष देवगढ़ के अंकन को पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं, यद्यपि यह अन्तर लगभग दो शतियों से अधिक नहीं हो सकता।

प्रदक्षिणापथ का प्रवेश-द्वार

गर्भगृह के चतुष्कोण होने से प्रदक्षिणापथ भी चतुष्कोण है। उसके चारों ओर एक-एक द्वार है,[5] उनमें से पश्चिमी अर्थात् मुख्य द्वार अपेक्षाकृत विशाल और अधिक अलंकृत है। इस द्वार[6] का तोरण पूर्ववर्ती नहीं है। और वर्तमान तोरण इतना कम अलंकृत है कि उसकी समता शेष द्वार से बिलकुल नहीं बैठती। जो भाग अवशिष्ट है उसे ही 'सप्तशाखा द्वार' का उत्कृष्ट निदर्शन मानना होगा। ऐसे द्वारों का प्रारम्भिक रूप गुर्जर-प्रतिहार काल में मिलता है। कलचुरि काल में इनकी प्रधानता हो गयी। नौहटा, बिनेका, पाली, त्रिपुरी, अमरकण्टक, सोहागपुर, रतनपुर, जांजगीर, खरोद, शिवरीनारायण आदि में ऐसे ही द्वार देखे जा सकते हैं। चन्देलकाल में इन द्वारों का प्रचलन कदाचित् और बढ़ा।

---

१. यह कमी श्री साहनी जैसे विद्वान् को भी भ्रम में डाले बिना न रही, फलतः उन्होंने इन यक्षी मूर्तियों की संख्या २० दी है। दे.—ए. प्रो. रि., १९१८, पृष्ठ ९। २. इन्हें अब वहाँ से जैन धर्मशाला में स्थानान्तरित कर दिया गया है। और वहाँ अन्य मूर्तियाँ स्थापित कर दी हैं, जिनमें से एक खड़ी सरस्वती (चित्र ९५) की भी है। इनमें पहले स्थापित मूर्तियों के लिए देखिए—चित्र सं. ११ और १०६। ३. इस मन्दिर के विस्तृत परिचय के लिए देखिए—पं. गोपीलाल अमर: पतियानदाई, एक गुप्तकालीन जैन मन्दिर: अनेकान्त वर्ष १९ किरण ६, पृ. ३४०-४६। ४. अब यह मूर्तिफलक प्रयाग संग्रहालय में प्रदर्शित है। इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिए—श्री गोपीलाल अमर: पतियानदाई की अद्वितीय प्रतिमा: जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २५ किरण दो, पृ. ४०-४३। ५. प्रदक्षिणापथ में चारों ओर एक-एक द्वार बनाने की पद्धति अन्यत्र भी थी। जैसा कि नचना के एक मन्दिर का वर्णन करते हुए श्री राखालदास बैनर्जी ने संकेत किया है। दे.—दी एज अफ दी इम्पीरियल गुप्ताज, (बनारस, १९६३), पृ. १४६। ६. आजकल इसे लोहे के जालीदार 'सटर' से बन्द किया जाता है। इसका दायाँ पक्ष चित्र सं. २३ में देखा जा सकता है।

८

खजुराहो के प्रायः सभी मन्दिरों में इनकी संयोजना दर्शनीय है। विशेष रूप से वहाँ (खजुराहो) के विश्वनाथ-मन्दिर का प्रवेश द्वार प्रस्तुत द्वार से पूर्णतः समानता रखता है।

गर्भगृह का प्रवेश-द्वार

गर्भगृह का प्रवेश-द्वार[१] अलंकरण की दृष्टि से प्रदक्षिणापथ के प्रवेश-द्वार की अपेक्षा कदाचित् अधिक उत्कृष्ट है। जैसा कि कहा जा चुका है, इसका निर्माण गर्भगृह के साथ नहीं हुआ था। पूर्वोक्त द्वार के पाषाण और आकार-प्रकार आदि में इस द्वार[२] से अत्यधिक समानता को देखते हुए कहा जा सकता है कि उन दोनों का निर्माण एक साथ हुआ था। इस प्रवेश-द्वार के सम्पूर्ण अलंकरण का विश्लेषण यहाँ प्रसंगानुकूल होगा।

ड्योढ़ी के मध्य में कल्पवृक्ष की उभरी हुई सज्जा के दोनों ओर स्नेह-क्रीड़ा में मग्न सिंह और हाथी तथा बायें पार्श्व-यक्ष और दायें लक्ष्मी का अंकन है। उस पर दोनों ओर तीन-तीन शाखाओं वाले द्वार-स्तम्भ स्थित हैं। बाहरी शाखाएँ सिरदल के ऊपरी भाग तक बढ़ती जाती हैं। उनमें सर्वप्रथम एक-एक देवी का और विभिन्न मुखाकृतियोंवाले शार्दूलों का आलेखन है, जिनमें गजमुख और मनुष्यमुख शार्दूल उल्लेखनीय हैं। भीतर की बायीं शाखा में गंगा जिसके साथ नाग भी अंकित हैं, अपनी तीन सहायक-देवियों के साथ चित्रित है। यहीं एक पुस्तकधारी उपाध्याय का आलेखन है। इसके ऊपर पाँच-पाँच देवकुलिकाओं की पाँच शाखाएँ हैं। मध्य की शाखा आगे को निकली है और वह चौड़ाई में आसपास की शाखाओं से दूनी है। मध्य की प्रथम देवकुलिका में (चित्र २२) एक साधु एक शूकर को सम्बोधित कर रहे हैं। उसके ऊपर एक साधु अपनी पीछी कमण्डलु लिये खड़े हैं, और उनके चरणों का स्पर्श करता हुआ एक दाढ़ीधारी युवक झुका है और एक महिला हाथ जोड़े खड़ी है (चित्र २२)। इसके ऊपर की तीन देवकुलिकाओं में तीन प्रेम-मग्न-दम्पतियों का आलेखन है। आसपास की दोनों शाखाओं में विभिन्न मुद्राओं और वाद्य-यन्त्रों के साथ खड़े हुए स्त्री-पुरुष आलिखित हैं। दायीं ओर यमुना (चित्र २१) और उसकी तीन सहायक देवियाँ तथा उसके ऊपर नागी का अंकन हुआ है। इनके बायीं ओर एक पुस्तकधारी उपाध्याय आलिखित है। उसके ऊपर यहाँ भी पाँच-पाँच देवकुलिकाओं की तीन शाखाएँ हैं। मध्यवर्ती शाखा में प्रेमासक्त-दम्पतियों तथा आसपास की शाखाओं में पूर्ववत् स्त्री-पुरुषों के अंकन हैं।

सिरदल के मध्य में कमलाकृति आसन पर द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ[3] का पद्मासन में और उनके दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर का कायोत्सर्गासन में अंकन है। उनके भी दोनों ओर तोरण के नीचे उड़ान भरते हुए पाँच-पाँच विद्याधर-युगल और उनके भी ऊपर नवग्रह[४] चित्रित हुए हैं। फिर उनके भी ऊपर एक नवीन शाखा प्रारम्भ होती है, जिनकी मध्यवर्ती देवकुलिका में एक पद्मासन तीर्थंकर और उसके दोनों ओर चार-चार पद्मासन तथा छह-छह कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों के अंकन हैं। इस शाखा के ऊपर तथा मध्यवर्ती देवकुलिका के दोनों ओर तीर्थंकर की माता के सोलह स्वप्नों[५] (चित्र सं १९ और २०) का चित्रण हुआ है। इसके बायें महाकाली नाम की नरवाहिनी विद्यादेवी[६] और दायें अम्बिका[७]-यक्षी के आलेखन हैं। इसके ठीक नीचे सरस्वती[८] और बायें महाकाली विद्यादेवी के नीचे लक्ष्मी[९] के अंकन हैं। गर्भगृह में विशालाकार तीर्थंकर मूर्ति[१०] और उसके दोनों ओर चँवरधारी इन्द्र तथा अम्बिका और द्वार के दोनों ओर (भीतर) अम्बिका मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं।

(२) मन्दिर संख्या ३०

मन्दिर संख्या ३० (चित्र ३४) गुप्तकालीन वास्तु का उत्कृष्ट निदर्शन है। उसका विन्यास (ले आउट)

---

१. दे.—चित्र सं. १८। २. आजकल इसे लकड़ी के कपाटों द्वारा बन्द किया जाता है। ३. —दे.—चित्र २०। ४. दे. — चतुर्थ अध्याय की पादटिप्पणी। ५. दे.—पंचम अध्याय की पाद टिप्पणी। ६. दे.—चतुर्थ अध्याय की पादटिप्पणी। ७. बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन देवी।

८. (अ) कामरूपा निलयीभूता बद्धपद्मासनस्थिता। अक्षमाला तथा वीणा पुस्तकं च कमण्डलुः॥
नीलकण्ठी श्वेतभुजा श्वेताङ्गी चन्द्रशेखरा। महाविद्या महावाणी भारती च सरस्वती॥
भुवनदेवाचार्य : अपराजितपृच्छा, २३०, १४-१५। (ब) दे.—चतुर्थ अध्याय की पाद टिप्पणी।

९. दे.—चतुर्थ अध्याय की पाद टिप्पणी। १०. दे.—चित्र सं. ५१।

ग्रीक मन्दिरों से अनुप्राणित प्रतीत होता है। उसका स्तम्भों पर आधारित मण्डप, साधारण अधिष्ठान, सपाट छत और चतुष्कोण गर्भगृह उसे साँची के मन्दिर संख्या १७ के[1] अनुरूप सिद्ध करते हैं। स्तम्भों का आकार चौकियों पर चतुष्कोण और मध्य में षोडशकोण तथा शीर्ष पर गोल है। पाषाणों की जुड़ाई गारे के बिना हुई है और उनपर प्लास्टर नहीं हुआ है। गर्भगृह का प्रवेश-द्वार संकीर्ण है। इन सब दृष्टियों से भी यह साँची के उक्त मन्दिर से समानता रखता है। इसकी तुलना ऐहोल के लाड्खाँ मन्दिर से भी की जानी चाहिए। स्तम्भ, मण्डप और गर्भगृह आदि की दृष्टि से तो इन दोनों में समानता है ही, छत का रूप धारण करने वाली शिला-प्रणालियों की दृष्टि से भी उल्लेखनीय समानता है। ये शिला-प्रणालिकाएँ एक दूसरे से गारे आदि के बिना ही जोड़ी गयी हैं। अतः इस मन्दिर के गुप्तकालीन कृति होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

(३) मन्दिर संख्या १५

यह (चित्र संख्या २६) देवगढ़ का सर्वसुन्दर मन्दिर है। प्रवेश-द्वार और स्तम्भों का अलंकरण इसकी सुन्दरता के प्रमाण हैं। प्रवेश-द्वार तक एक 'राहापग' में से पहुँचा जाता है, जिसका निर्माण शेष तीन 'राहापगों' से भिन्न है। अधिष्ठान की ऊँचाई को दोनों ओर की भित्तियों से काटकर यह राहापग ऊपरी सोपान से लगभग ६ इंच पर प्रारम्भ होता है। भित्तियों से लगभग ८ इंच दूर दोनों ओर एक-एक अलंकृत स्तम्भ विद्यमान हैं, जिनसे यह राहापग एक लघुमण्डप का रूप ले लेता है। गुर्जर-प्रतिहार काल में प्रचलित हुए मण्डप का प्रारम्भिक रूप इस राहापग के रूप में सरलता से देखा जा सकता है। ड्योढ़ी के मध्य में उभरा हुआ कल्पवृक्ष उसके दायें ओर युगल-छवि और बायें ओर कीर्तिमुख तथा दोनों ओर सिंह द्वारा आक्रान्त एक-एक पुरुष चित्रित हैं। द्वार-पक्षों पर अपने-अपने वाहनों पर आरूढ़ गंगा-यमुना सहायक-देवियों के साथ प्रदर्शित हैं। उनके घटों पर नाग-नागी के अंकन हैं। फिर प्रत्येक द्वार-स्तम्भ पर तीन शाखाएँ प्रारम्भ होती हैं। प्रथम और तृतीय शाखाओं में पत्रावलि और खर्जूर-पत्रों का आलेखन है। मध्य की शाखाओं में चार-चार कोष्ठकों में तीर्थंकरों की पद्मासन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सिरदल के मध्य में निर्मित कोष्ठक में एक और उसके दोनों ओर चार-चार पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियों के अंकन हैं। गर्भगृह की सज्जा और उसमें स्थित मूर्तियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इन सबके अतिरिक्त इसमें एक ऐसी विशेषता है, जो वास्तुकला की दृष्टि से उसे देवगढ़ के सभी जैन मन्दिरों से पृथक् करके दशावतार मन्दिर के समीप ला खड़ा करती है। बात यह है कि इसके तीन राहापगों में ठीक वैसी ही विशाल देवकुलिकाएँ निर्मित हुई हैं जैसी दशावतार-मन्दिरमें हैं। एक देवकुलिका (दक्षिण) में अब मध्यवर्ती मूर्ति नहीं है, उसके स्थान पर एक गवाक्ष निर्मित कर दिया गया है। उत्तरी देवकुलिका में एक विशाल पद्मासन और उसके दोनों ओर अनेक कायोत्सर्गासन मूर्तियाँ अंकित हैं। पृष्ठवर्ती (पूर्वी) देवकुलिका में उसी की भाँति तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं, इसके द्वार-स्तम्भों पर गंगा-यमुना का चित्रण उल्लेखनीय है। देवकुलिकाओं के निर्माण, अधिष्ठान की ऊँचाई, द्वारों और स्तम्भों के अलंकरण तथा अन्य समानताओं की दृष्टि से यह और दशावतार-मन्दिर एक ही समय निर्मित हुए प्रतीत होते हैं। आश्चर्य नहीं कि इसका प्रेरणा-स्रोत वह या उसका प्रेरणा स्रोत यह रहा हो।

जिनकी रूपरेखा शास्त्रीय-विधानों से समता रखती हो ऐसे मन्दिरों में देवगढ़ में कदाचित् यह मन्दिर प्रथम है। यह षोडशभद्र[2] मन्दिर है। रेखाचित्र में इसकी सोलह कलाएँ (कोण) स्पष्ट देखी जा सकती हैं[3]। समरांगणसूत्रधार के अनुसार इसे 'नन्दिघोष'[4] नामक प्रासाद कहना होगा। इसके २४ स्तम्भों की ऐसी संयोजना की गयी है कि उससे एक 'क्रास' (+) का आकार बन गया है। सम्पूर्ण रूपरेखा, विधान से इतनी अधिक अनुकूलता रखती है कि समरांगण-सूत्रधार के लेखक[5] ने 'नन्दिघोष' प्रासाद के रूप में इसे ही आदर्श माना हो। मन्दिर वास्तु में इन सब दृष्टियों से यह

---

१. (अ) सर जॉन मार्शल : दी मानुमेन्ट्स ऑफ़ साँची, जिल्द तीन, फलक CXIV, और भी दे.—विंसेन्ट ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री ऑफ़ फ़ाइनल आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, (बम्बई, तृतीय संस्करण), फलक ६३, आकृति 'अ'। २. देखिए—वराहमिहिर : बृहत्संहिता : (बंगलौर, १९४७), अध्याय ५६, श्लोक ५९। ३. देखिए—रेखाचित्र क्र. ४०। ४. नन्दिघोष के लक्षण के लिए देखिए—अपराजितपृच्छा, पृष्ठ ५०३-५०४। ५. भोजदेव का समय ग्यारहवीं शताब्दी ई. माना जाता है। परिचय, समय आदि के लिए देखिए—(क) डॉ. रामजी उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. २७७-७८। (ख) डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. ६५९-६०। (ग) अपराजित पृच्छा, भूमिका (अँगरेज़ी), पृ. ११ तथा २७ आदि।

मन्दिर अपनी विशिष्ट स्थिति रखता है। इस मन्दिर के गुप्तकाल या उसके तुरन्त पश्चात् निर्मित हुए होने में कोई सन्देह नहीं, क्योंकि (१) इसके मण्डप में स्थित (चित्र ५२) तथा गर्भगृह में स्थित मूलनायक की मूर्ति भी उसी समय की कृति है[1] (२) राहापगों की देवकुलिकाओं के कारण वह दशावतार-मन्दिर का समकालीन प्रमाणित होता है। (३) भित्ति के पाषाणों की चिनाई यहीं के मन्दिर संख्या ४ (छठवीं शती), साँची के मन्दिर संख्या १७ (४२५ ई.), ऐहोल के लघु (५वीं शती) और हुच्चिमल्लि गुडि (६वीं शती) के मन्दिरों और बादामी के समीपस्थ महाकूटेश्वर मन्दिर (लगभग ६वीं शती) की बहिर्भित्तियों से अत्यधिक समानता रखती है। (४) प्रवेश-द्वार का सीमित अलंकरण, मण्डप का प्रारम्भिक रूप और शिखर का अविकसित रूप गुप्तकाल की विशेषताएँ हैं, जो इसमें प्राप्त होती हैं।

(४) मन्दिर संख्या ३१

देवगढ़ की गुप्तोत्तरकालीन कृतियों में मन्दिर संख्या इकतीस (चित्र ३५ एवं ३६) उल्लेखनीय है। अधिष्ठान की सादगी, प्रवेश-द्वार का अलंकरण, दोहरी कानिश और सपाट छत इसे सातवीं शती में निर्मित हुआ सिद्ध करते हैं। इन्हीं दृष्टियों से इसकी तुलना पतौरा (सतना) के पतियानदाई मन्दिर से की जा सकती है, जो गुप्तकालीन स्थापत्य का अच्छा उदाहरण है।[2] इसके प्रवेश-द्वार को गुर्जर-प्रतिहारकालीन सप्तशाखा द्वार का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। गंगा-यमुना, तोरण के मध्यवर्ती तीर्थंकर और नवग्रह का अंकन यहाँ अत्यन्त सूक्ष्मता से हुए हैं। ड्योढ़ी पर अंकित मत्तवारण और कल्पवृक्ष आदि तो इसके गुप्तोत्तरकालीन होने में सन्देह नहीं रहने देते।

(५) मन्दिर संख्या ४

मन्दिर संख्या ४ (चित्र ४) गुप्तकाल के तुरन्त पश्चात् निर्मित हुआ होगा। अधिष्ठान की सादगी, स्तम्भों का सीमित अलंकरण, अर्धमण्डप और उसके ऊपर का अविकसित लघु-शिखर, दोहरी कानिश और प्रवेश-द्वार पर गंगा-यमुना का आलेखन इस मन्दिर की प्राचीनता के द्योतक हैं। मण्डप के दायें स्तम्भ में संवत् १२२४ का, बायें स्तम्भ में संवत् १२०७ का और बहिर्भित्ति पर (सामने बायें) संवत् १७०९ के अभिलेख उत्कीर्ण हैं। ये तीनों इस मन्दिर के निर्माण काल की नहीं, बल्कि जीर्णोद्धार की सूचना देते हैं। गुप्तकालीन वास्तु के अन्य लक्षण भी इस मन्दिर में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। द्वार के अलंकरण में कल्पवृक्ष, युगलछवि और पत्रावलि उनमें से मुख्य हैं। इस मन्दिर की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है उसकी भित्तियों के निर्माण में पाषाण चिनने की शैली, जो साँची के १७वें[3] मन्दिर (४२५ ई.), ऐहोल के लघुमन्दिर[4] (लगभग ५वीं शती) और हुच्चिमल्लिगुड़ि मन्दिर[5] (६वीं शती), तथा बादामी के समीपस्थ महाकूटेश्वर मन्दिर[6] (लगभग ६वीं शती) की बहिर्भित्तियों से अत्यधिक समानता रखती है।

(६) मन्दिर संख्या १८

इस मन्दिर (चित्र सं. २८) में प्राचीनता के वही सब लक्षण विद्यमान हैं जो उपर्युक्त मन्दिर संख्या ४ में दृष्टिगत होते हैं। जिन मन्दिरों से और जिन दृष्टियों से उसकी तुलना की गयी है, उन्हीं से इसकी भी निःसन्देह की जा सकती है। इसके स्तम्भ और प्रवेश-द्वार उस (मं. सं. ४) की अपेक्षा कहीं कम अलंकृत हैं। इसे गुप्तकाल के तुरन्त पश्चात् की कृति मानने में संकोच नहीं होना चाहिए।

(७) मन्दिर संख्या २८

उपर्युक्त मन्दिर की भाँति मन्दिर संख्या २८ (चित्र सं. ३२-३३) का योगदान भी मन्दिर-वास्तु के विकास में कम नहीं है। यह 'पूर्णभद्र' मन्दिर है।[7] राहापगों के अतिरिक्त अर्धकोणक और कोणक पगों के लघु आकार से सम्पूर्ण रेखाकृति को गोल आकार मिल गया है। अधिष्ठान की ऊँचाई नहीं के बराबर है। बहिर्भित्तियों पर दोहरी कानिश,

---

१. दे.—चित्र सं. ५४। २.—दे.—पं. गोपीलाल अमर : पतियानदाई : एक गुप्तकालीन जैन मन्दिर : अनेकान्त, (फ़रवरी, १९६७) वर्ष १९, किरण ६, पृष्ठ ३४०-३६। ३. (अ) लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर, पृष्ठ १६१, फलक १५४। (ब) विंसेण्ट ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री आ. फा. आ. इ. सी., फलक १७ (अ)। ४. लुइस फ्रेडरिक : वही, पृष्ठ २०१, फलक १९०। ५. वही, पृष्ठ २३४, फलक २०३। ६. वही, पृष्ठ २२५, फलक १६०। ७. देखिए-विन्यास रूपरेखा, चित्र क्र. ४२।

मण्डप (जो नष्ट हो चुका है) का सद्भाव,[1] प्रवेश-द्वार का सीमित अलंकरण, एक अंग-शिखर की संयोजना, मुख्य शिखर की अलंकरणहीनता और छत से ही पतला होते जाना आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जो इस मन्दिर को गुप्तकाल और गुर्जर-प्रतिहार काल की कड़ी सिद्ध करती हैं। अनुमानतः यह आठवीं शती में कभी निर्मित हुआ होगा। जिसे अभी हम मण्डप कह आये हैं उसे यदि अर्धमण्डप कहें तो हमें अंगशिखर के नीचेवाले लघु-कक्ष (३ फ़ी.-३ इं. चौड़े और १० फ़ी.-२ इं. लम्बे) को मण्डप कहने की सुविधा होगी। यह मण्डप सामने के राहापग में एक अलंकृत प्रवेश-द्वार के साथ संयोजित है। इससे सम्पूर्ण मन्दिर में एक ओर भव्यता का संचार हुआ है तो दूसरी ओर गुर्जर-प्रतिहारकालीन वास्तुकला का स्वरूप स्पष्टतर हुआ है। प्रवेश-द्वार पर तीन शाखाएँ हैं। गंगा-यमुना और अन्य अलंकरणों से गुप्तकालीन प्रवेश-द्वार का आभास मिलता है। गर्भगृह और उसका प्रवेश-द्वार अलंकृत नहीं है, पर उसमें स्थित मूर्तियाँ प्राचीनता और कलापूर्णता के लिए विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं[2]।

अंग-शिखर की ऊँचाई (छत से) ११ फ़ी. ८ इं. है। उसमें सर्वप्रथम ४ फ़ी. २ इं. चौड़ी और ५ फ़ी. ३ इं. ऊँची स्तम्भयुक्त देवकुलिका है। उसका तोरण टूट गया है। मुख्य मूर्ति भी गिरकर टूट गयी थी, अतः उसके स्थान पर दूसरी स्थापित कर दी गयी है। उसके दायें पार्श्वनाथ और बायें सुपार्श्वनाथ की पूर्ववर्ती मूर्तियाँ हैं। मुख्य मूर्ति के अष्टप्रातिहार्यवाला[3] भाग मूलरूप में है जिसके मध्य में उड़ान भरते हुए चतुर्भुज उद्घोषक[4] की स्थिति असाधारण है। उसके दोनों ओर तीन-तीन देवकुलिकाएँ हैं जिनमें से मध्यवर्तियों में पद्मासन और पार्श्ववर्तियों में कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं। इस विशाल देवकुलिका के दोनों ओर दो-दो श्रीवत्स, उनके ऊपर एक-एक श्रीवत्स के साथ कल्पवृक्ष और उनके भी ऊपर (बायीं ओर) धरणेन्द्र-पद्मावती और (दायीं ओर) तीन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। इस सबके ऊपर पत्रावली और उसके भी ऊपर लगभग ५ फ़ी. के त्रिकोण पर तोरणाकार अंकन है। जिसमें सशक्त उड़ान भरता हुआ विद्याधर-युगल दर्शनीय बन पड़ा है। मुख्य शिखर, जैसा कि कहा जा चुका है अधिष्ठान से ही प्रारम्भ हो जाता है और छत के लगभग ६. फ़ी की ऊँचाई पर से अधिकाधिक पतला होने लगता है। 'आमलक' काफ़ी बड़ा है, जिसपर आच्छादन सहित कलश है। उसपर 'आमलिका' और उसपर 'दण्ड' स्थित है। सम्पूर्ण शिखर की ऊँचाई छत से अनुमानतः २५ फ़ी. है।

(८) मन्दिर संख्या ५

यह मन्दिर[5] उपर्युक्त मन्दिर (संख्या २८) का समकालीन प्रतीत होता है। यद्यपि इसका शिखर उसकी अपेक्षा कम ऊँचा और कम विकसित है। प्रवेश-द्वारों पर गंगा-यमुना के अतिरिक्त महामानसी (१६वीं विद्यादेवी),[6] गौरी (९वीं विद्यादेवी),[7] महाकाली (८वीं विद्यादेवी)[8] और अम्बिका के आलेखन से भी यह गुर्जर-प्रतिहारकालीन वास्तु सिद्ध होता है।

भीतर समचतुष्कोण (७ फ़ी. २ इं.) इस मन्दिर में ४ फ़ी. का समचतुष्कोण और ७ फ़ी. १० इं. ऊँचा एक स्तम्भ स्थित है।[9] कुछ वर्ष पूर्व किये गये जीर्णोद्धार के समय इसकी अस्त-व्यस्त चौकी व्यवस्थित की गयी थी। चौकी १ फ़ी. ३ इं. ऊँची है, जिसके चारों ओर सिंहासन के सभी आवश्यक लक्षण, कीर्तिमुख, सिंह और यक्ष-यक्षियाँ आदि अंकित हैं। यह दो पाषाणों से मिलकर बनी है। इसके ऊपर ३ इं. की शिला और उसके भी ऊपर ६ इं. की कमलाकृति शिला स्थित है। उसपर भी २ इं. की एक अलंकरण-रहित शिला स्थित है, जो जीर्णोद्धार के समय या तो बदल दी गयी है या अतिरिक्त रूप से समाविष्ट कर दी गयी है। इसपर ५ फ़ी. ६ इं. ऊँची और २ फ़ी. ९ इं. का (बीच में) समचतुष्कोण पाषाण स्थित है, जो ऊपर जाकर २ फ़ी. ४ इंच का समचतुष्कोण रह जाता है। इस पाषाण के चारों ओर समानान्तर १४ (आड़ी) शाखाओं में तीर्थंकरों की कायोत्सर्गासन और पद्मासन मूर्तियाँ अंकित हैं। उसके शीर्ष के प्रत्येक

---

१. विन्यास रूपरेखा (चित्र क्र. ४२) भी इसके सद्भाव का बोध हो सकता है। २. इसमें स्थित एक ऐसी ही मूर्ति के लिए दे.—चित्र सं. ६२। ३. दे. –पंचम अध्याय की टिप्पणी। ४. तीर्थंकर की वाणी को दुन्दुभि पीटकर त्रिलोक में गुँजा देनेवाला। ५. दे.—चित्र सं. ५ से ८ तक। ६. इसके लक्षण के लिए दे.—चतुर्थ अध्याय की टिप्पणी। ७. लक्षण के लिए दे. चतुर्थ अध्याय की टिप्पणी। ८. इसके लक्षण के लिए दे.—चतुर्थ अध्याय की टि.। ९. दे.—चित्र संख्या ८।

पार्श्व में ५-५ देवकुलिकाएँ हैं, जिनमें से प्रत्येक दूसरी और चौथी में कायोत्सर्गासन और शेष में पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। देवकुलिकाओं के ऊपर साधारण अलंकरण और उसके ऊपर एक कमलाकृति का आलेखन है।

प्रवेश-द्वारों[1] की दृष्टि से यह मन्दिर विशेष महत्त्व रखता है। पूर्व और पश्चिम में तो पंचशाखा-द्वार हैं ही, उत्तर और दक्षिण में भी कलाकार ने पाषाण में द्वाराकृतियाँ उत्कीर्ण करने का अद्भुत और सफल प्रयत्न किया है।[2] फलस्वरूप यह मन्दिर सर्वतोभद्र[3] वास्तु की कोटि में आ सकता है। इसकी द्वाराकृतियाँ वास्तव में अत्यन्त भव्य बन पड़ी हैं। उनके तथाकथित कपाट इतनी सूक्ष्मता और यथार्थता से उत्कीर्ण हुए हैं कि उनके वास्तविक होने का भ्रम हुए बिना नहीं रहता। प्रवेश-द्वारों और कपाटों से ऐसे अलंकरण बाद में भी चलते रहे। पूना के निकट (लगभग २० मील) 'वाई' नामक ग्राम में एक जमींदार के निवास में अत्यन्त अलंकृत प्रवेश-द्वार है। प्रस्तुत द्वार और कपाट वास्तविक नहीं हैं बल्कि पाषाण-निर्मित हैं, जबकि 'वाई' ग्राम में वे वास्तविक और काष्ठनिर्मित होने के साथ ही साथ उत्तरवर्ती (अब से लगभग १५० वर्ष प्राचीन) भी हैं। तथापि इन दोनों में अलंकरण सम्बन्धी क्रमिक विकास के लक्षण स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।[4]

इस मन्दिर में तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं: (१) पश्चिमी-द्वार के बायीं ओर बहिर्भित्ति पर और (२) पश्चिमी द्वार की ड्योढ़ी पर उत्कीर्ण तथा (३) पूर्वी द्वार के भीतर ऊपर जड़ा हुआ, जिनमें क्रमशः संवत् ११२०, १५०० और १५०३ पढ़ा जा सकता है। प्रथम दो अभिलेखों में यात्रियों के कीर्तिमान हैं, जबकि तीसरे में इस मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। मन्दिर के निर्माण का उल्लेख किसी में नहीं है।

(९) मन्दिर संख्या ११

विवेच्य मन्दिर (चित्र सं. १५), देवगढ़ के एकमात्र द्वितल मन्दिर के रूप में उल्लेखनीय है।[5] इसकी बहिर्भित्तियाँ अलंकृत न होकर भी खजुराहो का पूर्वरूप प्रतीत होती हैं। दोनों तलों के प्रवेश-द्वारों को भी अलंकरण की दृष्टि से खजुराहो का पूर्वरूप कहा जा सकता है। सम्भोगरत युग्म, आकर्षक चेष्टाओं में मग्न सुन्दरियों और मोहक-मुद्राओं में प्रस्तुत अप्सराओं की विरल संयोजना भी उक्त तथ्य को पुष्ट करती है। आश्चर्य नहीं कि खजुराहो के स्थपति और मूर्तिकार ने यहाँ प्रशिक्षण प्राप्त करके ही वहाँ अपना कौशल दिखाया हो।

बहिर्भित्तियों में अधिष्ठान से २ फ़ी. २ इंच की ऊँचाई से ३ फ़ी. ६ इंच ऊँची एक पंक्ति है, जिसमें साधारण स्तम्भों द्वारा देवकुलिकाओं का आभास प्रकट किया गया है। परन्तु कुछ देवकुलिकाओं में ही तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं, कुछ में मान-स्तम्भों का आलेखन है, शेष अधिकांश अलंकरण-रहित हैं। इसके ऊपर दूसरी पंक्ति है। वह अपेक्षाकृत कम ऊँची है और उसमें कोई अलंकरण नहीं है। तीसरी पंक्ति की ऊँचाई लगभग प्रथम पंक्ति के बराबर है और उसमें सघन स्तम्भाकृतियों के अतिरिक्त कोई अंकन नहीं है।

इसका अर्धमण्डप आठ स्तम्भों पर आधारित है। वह इतना लम्बा है कि उसे अर्धमण्डप कहना उचित नहीं प्रतीत होता। प्रवेश-द्वार का अलंकरण गुर्जर-प्रतिहारकाल से बाद का, कदाचित् कलचुरि-कालीन प्रतीत होता है। महामण्डप काफ़ी विशाल है। गर्भगृह का प्रवेश-द्वार भी अलंकृत है। उसमें २ फ़ी. ४ इंच ऊँची, २ फ़ी. ४ इंच चौड़ी और ६ फ़ी. ५ इंच लम्बी वेदी है, उसपर वर्तमान में कोई प्रतिमा नहीं है। उसके नीचे महावीर की (सिंह का चिह्न अस्पष्ट) विशालाकार पद्मासन मूर्ति रखी है, उसमें संवत् ११०५ का तीन पंक्तियों का लेख उत्कीर्ण है। उसमें मन्दिर के निर्माण और

---

१. दे.—चित्र सं. ६ और ७। २. उत्तर की द्वार-आकृति चित्र सं. पाँच में देखी जा सकती है।

३. (अ) अलिन्दानां व्यवच्छेदो नास्ति यत्र समन्ततः। तद्वास्तु सर्वतोभद्रं चतुर्द्वार-समायुतम्॥

वराहमिहिर: बृहत्संहिता: (बंगलोर, १९४७), अध्याय ५३, श्लोक ३१ की टीका में उद्धृत गर्ग का पद्य। (ब) अग्निपुराण: अध्याय १०४, पद्य १४। (स) गरुडपुराण: अध्याय ४७, पद्य २२। (ड) अपराजितपृच्छा, १५६, १३-१६। ४. क्लाउड बाटली (Claud Batley): दी डिज़ाइन डेव्हलपमेण्ट ऑफ़ इण्डियन आर्चीटेक्चर: (लन्दन, १९४८), फलक ३७। ५. मन्दिर सं. ३ भी पहले द्वितल था, परन्तु उसके अत्यन्त जीर्ण हो जाने से वर्तमान में उसे एकतल कर दिया गया है।

प्रतिष्ठा आदि का कोई उल्लेख नहीं है, जैसा कि श्री साहनी ने भ्रमवश लिख दिया है[1]। वैसे भी मन्दिर के निर्माण या प्रतिष्ठा का उल्लेख प्रतिमा पर हो, यह बात असंगत है। महामण्डप के उत्तर-पूर्वी कोने में दूसरे तल के लिए सोपान मार्ग है[2]। सन् १९३९ (फ़रवरी) में गजरथ प्रतिष्ठा के समय इसका जीर्णोद्धार कराया गया था।

दूसरे तल पर अर्धमण्डप के बायें और दायें एक-एक वेदिका है, जिनकी बाह्यवेष्टनी के रूप में संयोजित शिलाएँ बाहर की ओर स्तम्भाकार अलंकरणों से युक्त हैं। महामण्डप का प्रवेश द्वार अलंकृत है। उसके बायें द्वारपक्ष पर अंकित दर्पणधारिणी शुचिस्मिता[3] हमें खजुराहो की जगत्प्रसिद्ध दर्पणधारिणी सुर-सुन्दरी का स्मरण कराती है। गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर अम्बिका अंकित है, जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि दूसरे तल के मूलनायक नेमिनाथ थे। जीर्णोद्धार के समय उनकी मूर्ति नीचे के तल में स्थानान्तरित कर दी गयी, जिसे आज भी वहाँ देखा जा सकता है। इसमें स्थित शान्तिनाथ की मूर्ति (स्थापित सं. १९९५) देवगढ़ की एकमात्र संगमरमर की मूर्ति है[4]।

शैली और अलंकरण आदि की दृष्टि से इसे कलचुरिकालीन (लगभग ९०० ईसवी) वास्तु कहा जा सकता है।

(१०) शेष मन्दिर

उपरिलिखित नौ मन्दिरों के अतिरिक्त शेष में से अधिकांश का निर्माण कलचुरियों के शासनकाल में हुआ होना चाहिए। चन्देलकाल में वास्तु कला के जो प्रमुख लक्षण प्रचलित थे वे देवगढ़ में कदाचित् ही मिलते हैं। उनका अविकसित और प्रारम्भिक रूप अवश्य यहाँ दृष्टिगत होता है। इससे स्पष्ट है कि वास्तु-निर्माण की परम्परा देवगढ़ में दसवीं शताब्दी से आगे नहीं बढ़ी। एक-दो मन्दिरों का निर्माण मुग़लकाल में हुआ प्रतीत होता है[5]। जीर्णोद्धार का कार्य जैसा कि अभिलेखों से प्रकट होता है, नौवीं शती से चलता रहा है। इससे मन्दिरों के मूलरूप में कुछ अन्तर अवश्य आया होगा। अभी कुछ वर्षों से इस क्षेत्र की प्रबन्धक-समिति द्वारा जो बड़े पैमाने पर जीर्णोद्धार कराया गया है, उसमें मूलरूप की सुरक्षा का यथोचित ध्यान रखा गया है। सर्वश्री कनिंघम, फुहरर और साहनी आदि पूर्ववर्ती लेखकों ने इन मन्दिरों का जिस रूप में उल्लेख किया है, वे प्रायः उसी रूप में आज भी पर्याप्त जीर्णोद्धार हो चुकने पर भी देखे जा सकते हैं। इससे उक्त कथन की पुष्टि होती है।

५. मानस्तम्भ

मानस्तम्भ का निर्माण कदाचित् सर्वप्रथम मथुरा में (शक-कुषाण काल में) हुआ था। उससे पूर्व मौर्य सम्राट् अशोक विशाल और कलापूर्ण स्तम्भों का निर्माण करा चुका था। जैन-परम्परा में स्तम्भों को मानस्तम्भ का रूप देकर मन्दिरों के सामने निर्मित किया जाता रहा है। मन्दिर को समवसरण का प्रतीक माना जाये तो उसकी चारों दिशाओं में एक-एक मानस्तम्भ निर्मित होना चाहिए, यद्यपि ऐसा उदाहरण कदाचित् कहीं प्रस्तुत नहीं किया गया। आचार्य जिनसेन के अनुसार मानस्तम्भ का उद्देश्य जिनेन्द्रदेव के त्रिलोकातीत मान (श्रेष्ठता) को सूचित करना है[6]। मथुरा के अनन्तर सर्वाधिक प्राचीन मानस्तम्भ कदाचित् देवगढ़ में ही उपलब्ध हुए हैं। यह परम्परा देवगढ़ में ही कई शताब्दियों तक चलती रही। अन्य स्थानों पर भी मानस्तम्भों का निर्माण हुआ और आज भी होता आ रहा है।

मानस्तम्भों का स्वरूप प्रायः सर्वत्र एक समान मिला है। भूमि पर एक के ऊपर एक निर्मित तीन पीठिकाओं (अधिष्ठानों) पर स्तम्भदण्ड स्थित रहता है जिसके शीर्ष पर एक 'सर्वतोभद्रिका' स्थापित होती है। पीठिकाएँ कभी-कभी अलंकृत भी होती हैं। स्तम्भदण्ड कहीं अलंकृत मिले हैं और कहीं अल्प-अलंकृत या अलंकरण-विहीन। सर्वतोभद्रिका

---

१. देखिए—दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि. १९१८, भाग दो : परिशिष्ट 'अ', पृ. १५, अभिलेख क्रमांक ४५। २. देखिए—विन्यास रूपरेखा चित्र सं. ३८। ३. देखिए—चित्र सं. ११७। ४. इन पंक्तियों के लिखे जाने तक वहाँ निकटवर्ती ग्राम खजुरिया (ललितपुर) से कुछ खण्डित-अखण्डित मूर्तियाँ आयी हैं, जिनमें से कुछ संगमरमर की भी हैं। ५. उदाहरणार्थ मन्दिर सं. ६ का निर्माण अब से लगभग ५०० वर्ष पूर्व हुआ होगा और समीपवर्ती ध्वस्त स्मारकों की मूर्तियाँ इसमें स्थापित कर दी गयी होंगी, क्योंकि इसका भवन स्थापत्य-कला की दृष्टि से बहुत ही आधुनिक प्रतीत होता है। —देखिए—चित्र सं. ६।

६. 'मानस्तम्भान् महामानयोगाद् त्रैलोक्यमाननात्। अन्वर्थसंज्ञया तज्ज्ञैर्मानस्तम्भाः प्रकीर्तिताः॥'

—आदिपुराण, ६२, १०२।

सर्वत्र अलंकृत ही प्राप्त हुई है। उसके चारों ओर एक-एक स्तम्भयुक्त देवकुलिका अंकित होती है, जिनमें सर्वतोभद्रिका या तो उसी पाषाण में उत्कीर्ण की गयी होती है या पृथक् रूप से स्थापित कर दी जाती है। इस सबके ऊपर एक लघु शिखराकृति का आलेखन होता है। सर्वतोभद्रिका चतुष्कोण ही होती है जबकि स्तम्भदण्ड वृत्ताकार या चतुष्कोण या अष्टकोण होता है। पीठिकाओं का आकार प्रायः स्तम्भदण्ड के समान होता है। सम्पूर्ण मानस्तम्भ कभी एक, कभी दो और कभी तीन पाषाणों द्वारा निर्मित होता है। मानस्तम्भों की ऊँचाई भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के समवसरणों के अनुपात में भिन्न-भिन्न होती है। उपलब्ध मानस्तम्भों की ऊँचाई विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं है और न ही सम्बद्ध मन्दिर की ऊँचाई से उसकी ऊँचाई का अनुपात मिलता है।

मध्यकालीन भारत में जैन-मन्दिर के सम्मुख विशाल स्तम्भ बनवाने की प्रथा विशेषतः दिगम्बर जैन समाज में रही है। दक्षिण-भारत और विन्ध्य प्रान्त में ऐसे स्तम्भों की उपलब्धि प्रचुर परिमाण में हुई है। प्राचीन वास्तु विषयक ग्रन्थों में कीर्तिस्तम्भों की आंशिक चर्चा अवश्य है, पर मानस्तम्भों के विषय में वे मौन हैं। यद्यपि जैन पौराणिक साहित्य तो इसका अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से बताता है, पर उतने प्राचीन या सापेक्षतः अर्वाचीन स्तम्भ उपलब्ध कम हुए हैं। उपलब्ध साधनों से तो यही कहा जा सकता है कि मध्यकाल में जैन वास्तुकला का वह एक अंग अवश्य बन गया था। यह मानस्तम्भ इन्द्रध्वज का प्रतीक होना अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है, जो भगवान् के विहार के आगे रहता था। देवगढ़ आदि में पाये गये मानस्तम्भ के अवशेषों से यह फलित होता है कि मानस्तम्भों की मौलिक परम्परा भले ही एक-सी रही हो, पर प्रान्तीय कला विषयक एवं निर्माण शैली सम्बन्धी पार्थक्य उनमें स्पष्ट है। देवगढ़ आदि में पाये जानेवाले अधिक मानस्तम्भ ऐसे है, जिनके ऊपर के भाग में शिखर-जैसी आकृति है[१]।

देवगढ़ में इस समय १९ मानस्तम्भ विद्यमान है[२]। परन्तु जैसा कि द्वितीय अध्याय के अन्त में स्पष्ट किया गया है, इनमें से सभी को मानस्तम्भ कहना उचित न होगा। कुछ मानस्तम्भ स्पष्ट रूप में स्थानान्तरित किये गये ज्ञात होते हैं। यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि देवगढ़ मानस्तम्भों की दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, जितना मन्दिरों और मूर्तियों की दृष्टि से। तथापि मानस्तम्भ क्रमांक ग्यारह (चित्र सं. ४५), बारह (चित्र सं. ४६), तेरह (चित्र सं. ४७) और सत्रह (चित्र सं. ४८) को कलागत सूक्ष्मता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए। मानस्तम्भ क्रमांक सत्रह (चित्र सं. ४८) आदि प्राचीनता की दृष्टि से भी उल्लेखनीय हैं।

●

१. मुनि कान्तिसागर : खण्डहरों का वैभव, (काशी, १९५९ ई.), पृ. ११९-२०। २. कुछ प्रमुख मानस्तम्भों के लिए देखिए—चित्र सं. ४३ से ४८ तक।

मूर्तिकला

(तीर्थंकर तथा देव-देवियाँ)

१—प्रास्ताविक

मूर्ति-निर्माण-केन्द्र

देवगढ़ में मूर्तियों का निर्माण प्रचुरता से हुआ। उनकी संख्या और विविधता से प्रतीत होता है कि यहाँ बहुत बड़ा मूर्ति-निर्माण-केन्द्र था, अन्यथा तीर्थंकरों तथा अन्य देवों-देवियों की सैकड़ों मूर्तियों के एक ही स्थान पर निर्मित होने का कारण दृष्टिगत नहीं होता। मथुरा की भाँति देवगढ़ में निर्मित मूर्तियाँ समीपवर्ती और कदाचित् दूरवर्ती स्थानों को भी भेजी जाती रही होंगी। यहाँ छोटी-बड़ी बहुसंख्यक मूर्तियों की उपलब्धि तथा कुछ अधगढ़ी मूर्तियों का पाया जाना यही सिद्ध करता है कि देवगढ़ मूर्ति-निर्माण-केन्द्र भी था। देवगढ़ के निकटवर्ती चाँदपुर, जहाजपुर, दूधई, आमनचार, ललितपुर-क्षेत्रपाल, सेरोन, बानपुर आदि स्थानों पर उपलब्ध सहस्रों मूर्तियों और उनके समीप मूर्ति-निर्माण सम्बन्धी किसी चिह्न के उपलब्ध न होने से भी उपर्युक्त मान्यता पुष्ट होती है।

उपादान

मूर्तियाँ निर्माण करने के लिए पाषाण देवगढ़ के पहाड़ से प्राप्त किया जाता था। साधारणतः यहाँ का 'लाल बलुआ' और 'ग्रे नाइट' पाषाण ही मूर्तियों के निर्माण में प्रयुक्त हुआ है। कुछ मूर्तियाँ काले, पीले और भूरे बलुआ पत्थर की भी प्राप्त होती हैं।

कलाकार

देवगढ़ के कलाकार स्थानीय थे या कहीं अन्यत्र से आये थे, यह निश्चित कहना कठिन है। यद्यपि कुछ मूर्तियों पर लेख उत्कीर्ण हैं, परन्तु उनसे प्रस्तुत प्रश्न पर प्रकाश नहीं पड़ता। कुछ मूर्तियों पर केवल नाम उत्कीर्ण हैं, पर वे कलाकारों की अपेक्षा समर्पण-कर्ताओं के प्रतीत होते हैं। यदि वे नाम कलाकारों के भी मान लिये जायें, तो भी उनसे कलाकारों के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। कलागत विशेषताओं को देखते हुए यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि देवगढ़ में स्थानीय कलाकारों के साथ बाहरी कलाकार भी काम करते थे। कुछ मूर्तियों पर गान्धार शैली का प्रभाव इस अनुमान को पुष्ट करता है।[१] कुछ मूर्तियों की मुखाकृति चीनी-मुखाकृति से बहुत अधिक मिलती-जुलती है।[२] अतः सम्भव है कि किसी चीनी कलाकार ने भी अपना कौशल दिखाया हो। मुग़लकाल में निर्मित मूर्तियों के कलाकार निश्चित ही स्थानीय नहीं थे। उनकी छैनी स्थानीय छैनी से स्पष्टतः भिन्न दीखती है।

विभिन्न कला-शैलियों का प्रभाव

मूर्तियों का निर्माण यहाँ दीर्घकाल तक हुआ। मौर्यकाल की मूर्तियाँ यद्यपि अब यहाँ दृष्टिगत नहीं होतीं या

१. दे.—चित्र सं. ६०। २. दे.—चित्र सं. ७३।

उनके लक्षण यहाँ की मूर्तियों में साधारणतः नहीं पाये जाते, तथापि यह मानना होगा कि उस समय यहाँ मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था।[1] गान्धार कला का प्रभाव तो निश्चित रूप से यहाँ की अनेक मूर्तियों पर देखा जा सकता है।[2] एक विशिष्ट मुखाकृति, जो गान्धार कला की विशेषता है, यहाँ की न केवल तीर्थंकर मूर्तियों बल्कि देव-देवियों और स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों में भी पर्याप्त सफलता से अंकित की गयी है। प्रत्युत यह मुखाकृति यहाँ की सर्वाधिक लोकप्रिय विशेषता रही है, जिसका प्रभाव परवर्ती मूर्तियों पर भी विद्यमान रहा है, यहाँ तक कि उसी के कारण चन्देलकालीन मूर्ति-कला यहाँ कम ही पनप सकी। गुप्तकाल की अनेक मूर्तियाँ यहाँ उपलब्ध हैं,[3] जिनका विस्तृत और सप्रमाण विवरण हम अग्रिम पृष्ठों में प्रस्तुत करेंगे। कलचुरि और चन्देल युग में यहाँ प्रचुरता से मूर्तियाँ निर्मित हुईं। मुग़लकाल तक यहाँ मर्तियों के निर्मित होते रहने के प्रमाण मिलते हैं।

स्वतन्त्र मूर्तिकला

मूर्तिकला की दृष्टि से देवगढ़ की अपनी स्वतन्त्र शैली थी, जो गुप्तकाल में स्पष्टतर हो उठी। इस शैली में मूर्तियों के चेहरे लम्बोत्तर होते हैं।[4] मथुरा, सारनाथ, अहिच्छत्र और कौशाम्बी से इस शैली में भिन्नता है।

देवगढ़ में ऐसी अनेक मूर्तियाँ विद्यमान हैं, जो मुख्यतया आध्यात्मिक हैं और बाह्य-संसार के प्रति उदासीनता का स्पष्ट भाव अभिव्यक्त करती हैं।[5] कुछ मूर्तियाँ तो अपनी सज्जागत समृद्धि एवं केन्द्रस्थित तथा चारों ओर स्थित मूर्तियों के एकीकरण की दृष्टि से गुप्तकला की सफलता को भी पीछे छोड़ गयी हैं।[6] शासन-देवियों[7] और विद्या-देवियों[8] की मूर्तियों में अलौकिक सौन्दर्य एवं अद्भुत चमत्कार की सृष्टि करने में कलाकार पूर्णरूप से सफल हुआ है। मूर्तियों के माध्यम से देवगढ़ में मानव जीवन के प्रायः सभी अंगों (पहलुओं) पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हम वहाँ एक ओर वीतराग उपदेश देते हुए उपाध्याय-परमेष्ठी[9] को देखते हैं तो दूसरी ओर परस्त्री लम्पट को पिटता हुआ[10] भी देखते हैं। पशु-पक्षियों,[11] लता-वृक्षों[12] और प्रतीकों[13] का अंकन करने में भी यहाँ का कलाकार पीछे नहीं रहा।

देवगढ़ की अधिकांश मूर्तियाँ शिलापट्टों पर उत्कीर्ण की गयीं। पाषाण को चारों ओर से कोरकर बनायी हुई स्वतन्त्र मूर्तियाँ यहाँ बहुत कम हैं।

परिकर और अलंकरण

देवगढ़ की प्रायः सभी मूर्तियाँ अपने परिकरों और अलंकरणों के साथ प्रस्तुत की गयी हैं, इसका कारण यही हो सकता है कि उन्हें शिलापट्टों पर उत्कीर्ण किया गया है। इससे जहाँ मुख्य-मूर्ति में भव्यता और जैन-प्रतिमा-शास्त्र में समृद्धि का उन्मेष हुआ है वहाँ वह कुछ बोझिल-सी बनकर रह गयी और कभी-कभी कलाकार भी इस अतिरिक्त कार्य से ऊबकर परिकर को मुख्य-मूर्ति की अपेक्षा कम सूक्ष्मता के साथ उत्कीर्ण करता है। शिलापट्टों के पृष्ठ भाग पर तो कलाकार की छेनी नहीं ही चली है, किनारे भी अनगढ़ छोड़ दिये गये हैं। इसलिए कभी-कभी तो यह भ्रम होने लगता है कि अमुक शिलापट्ट किसी बड़े शिलापट्ट का खण्ड तो नहीं है।

अलंकरण और परिकर की मर्यादा का निर्वाह करने में कलाकार को बहुत उलझन हुई है। शिलापट्ट के छोटे होने या अलंकरण और परिकर की अधिकता होने से कलाकार अनेक बार नियोग-पूर्ति-सी करता दीख पड़ता है। परिकर की मूर्तियों को वह अपेक्षाकृत लघु-आकार में और स्थूल रूप में गढ़कर ही छोड़ देता है। इसके विपरीत अनेक मूर्तियों में यह भी हुआ है कि अलंकरण और परिकर को अत्यधिक प्रधानता दे दी गयी है जिसमें मुख्य-मूर्ति छिपी हुई-सी दृष्टिगोचर

---

१. यहाँ के एक अभिलेख में अशोककालीन ब्राह्मी का भी प्रयोग हुआ है। दे. चित्र सं. ४६। २. दे.—चित्र सं. ५०। ३. दे.—चित्र सं. ५१, ५२, ५३, ५४ आदि। ४. दे. चित्र सं. ५३, ५४ आदि। ५. दे.—चित्र सं. ६१। ६. दे.—चित्र सं. ६१, इस मूर्ति का शिर इस समय साहु जैन संग्रहालय में सुरक्षित है। ७. दे.—चित्र सं. ६६ से ११० तक। ८. दे.—मन्दिर सं. ५, ६, १२ आदि के द्वारों पर आलिखित विद्या-देवियों की मूर्तियाँ। ९. दे.—दि. जैन चैत्यालय एवं साहु जैन संग्रहालय में प्रदर्शित उपाध्याय-मूर्तियाँ तथा चित्र सं. ८३ और ८४। १०. दे.—मं. सं. ४ के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर बायें तथा चित्र स. ११५। ११. इनके विस्तृत विवरण के लिए दे.—पाँचवाँ अध्याय। १२. इनके विस्तृत परिचय के लिए देखिए—पाँचवाँ अध्याय। १३. इनका सविस्तार परिचय दे. पाँचवाँ अध्याय।

होती है। भट्टारक-परम्परा का ही प्रभाव था कि तीर्थंकरों की मूर्ति समय के साथ क्रमशः छोटी होती गयी और उनकी शासन-देवियों की मूर्तियाँ बृहदाकार होती गयीं। प्रारम्भ में तीर्थंकरों की मूर्ति के साथ शासन-देवियों की मूर्तियाँ या तो अंकित ही नहीं होती थीं[१] या बहुत छोटे आकार में अंकित होती थीं[२]। जबकि भट्टारकों के प्रचार और प्रभाव की वृद्धि के साथ यह पूर्णतः विपरीत होता गया और स्थिति यहाँ तक आयी कि तीर्थंकर-मूर्ति की अपेक्षा शासन-देवी की मूर्ति बीस गुनी बड़ी तक बनायी जाने लगी[३]। शासन-देवियों की विराटता की यह परम्परा देवगढ़ में अपने सर्वोच्च रूप में देखने को मिलती है। यहाँ उनकी ऊँचाई मानवाकार तक हो गयी है जबकि उनके अधिष्ठाता तीर्थंकर मुकुट का एक अंग या प्रतीक-अंकन मात्र बनकर रह गये हैं[४]।

च्युतियाँ

कुछ मूर्तियाँ ऐसे कलाकारों द्वारा गढ़ी गयी हैं, जो शास्त्रीय विधानों से या तो अपरिचित थे या असावधान थे। उदाहरण के लिए—अम्बिका यक्षी की कुछ मूर्तियों का पेट काफ़ी बड़ा दिखाया गया है[५]। कलाकार यदि उसे गर्भवती दिखाना चाहता था तो निश्चित ही वह अशास्त्रीय था, क्योंकि जैन-देव-शास्त्र के अनुसार देवियाँ कभी गर्भवती नहीं होतीं[६]। यदि साधारण रूप में ही पेट को बड़ा दिखाया गया है तो वह भी उचित नहीं, देवियों के सौन्दर्य में बड़े पेट का विद्रूप-अंकन बाधक ही होगा। इसी प्रकार कुछ स्थानों पर एक देवी या स्त्री को मुनि-मूर्ति से सटी हुई दिखाया गया है।[७] यह भी शास्त्रीय मर्यादाओं के विरुद्ध है। कुछ कलाकार अत्यन्त नव-सिखिया रहे प्रतीत होते हैं, उन्होंने मूर्तियों के अंग-प्रत्यंगों के अनुपात का ध्यान नहीं रखा[८]। कुछ कलाकारों को या उनके निर्देशकों को—'चतुर्विंशति-पट्ट' निर्माण करने की सनक सवार थी। उनके निर्माण में कलाकार अत्यन्त असफल रहे। कुछ 'चतुर्विंशति पट्टों' में मूलनायक की मूर्ति तो अच्छी है, किन्तु शेषमूर्तियाँ कला की दृष्टि से बहुत ही निम्न स्तर की रह गयी हैं।[९] कभी-कभी शिलापट्टों पर स्थानाभाव ने भी कलाकार को असफल बनाया है, जब वह चौबीसवीं मूर्ति को मूलनायक के पैरों के नीचे अंकित करता है[१०] और कभी-कभी तो उसे तेईस मूर्तियाँ ही[११] अंकित करके रह जाना पड़ता है। इसका कारण उचित निर्देशन का अभाव, योजनाहीनता अथवा कलाकार का प्रमाद है।

वर्गीकरण

देवगढ़ में प्राप्त मूर्तियों का **वर्गीकरण** विविध प्रकार से सम्भव है। **आकार की दृष्टि से**—दो इंच से तेरह फ़ुट तक की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। **आसनों और मुद्राओं की दृष्टि से**—कायोत्सर्गासन, पद्मासन, ललितासन, राजलीलासन, अर्धपर्यंकासन तथा धर्मोपदेश मुद्रा, वितर्कमुद्रा, त्रिभंगमुद्रा, कटिहस्तमुद्रा, आलिंगनमुद्रा, नृत्यमुद्रा और सम्भोगमुद्रा आदि उल्लेखनीय हैं।

कालक्रम की दृष्टि से उन्हें मुख्यतः तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—(१) छठवीं शती ईसवी तक निर्मित, (२) सातवीं शती ई. से १२वीं शती ईसवी तक निर्मित और (३) बारहवीं शती से अठारहवीं शती ईसवी तक।

शैली की दृष्टि से—इन्हें आलंकारिक और अनालंकारिक वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। कुछ मूर्तियाँ आध्यात्मिक उद्देश्य से और कुछ लौकिक उद्देश्य से निर्मित हुई हैं,। इस दृष्टि से भी उन्हें दो भागों में रख सकते हैं। परन्तु यहाँ

---

१. दे.—चित्र सं. ५०, ५१, ५२ आदि। २. दे.—चित्र सं. ५८, ५९, ६०, ६१, ७४, ७५ आदि। ३. दे.—साहु जैन संग्रहालय में प्रदर्शित चक्रेश्वरी एवं पद्मावती की मूर्तियाँ तथा जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई एवं विभिन्न मन्दिरों में विद्यमान यक्षी-मूर्तियाँ। और दे.—चित्र सं. ९९, १००, १०६, १०३, १०९, १०४, १०७, १०८, ११० आदि। ४. दे. मं. सं. १२ के गर्भगृह में जड़ी हुई अम्बिका-मूर्तियाँ तथा साहु जैन संग्रहालय में प्रदर्शित चक्रेश्वरी-मूर्तियाँ और भी दे.—चित्र सं. १०५, ९९, १००, १०६, ९७ आदि। ५. दे.—जैन चहारदीवारी का बाहरी ओर उत्तर में जड़ी हुई अनेक अम्बिका-मूर्तियाँ तथा चित्र सं. १०३। ६. 'देवनारकाणामुपपादः।'—आ. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र (सूरत, २४७२ वीर सं.) २-३४। ७. दे.—मं. सं. एक के पृष्ठ भाग में जड़ी हुई मूर्तिमाला तथा मं. सं. १२ के अर्धमण्डप के आगे के स्तम्भों पर निर्मित मूर्तियाँ। और भी दे.—चित्र सं. ८०, १६ आदि। ८. दे.—मं. सं. ६, १२ (महामण्डप) तथा जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई अनेक मूर्तियाँ, तथा चित्र सं. ५५, ६३, ७० आदि। ९. दे.—मं. सं. ४, १२, २५, २६ और २९ में स्थापित चौबीस मूर्तियाँ तथा चित्र सं. ६४। १०. दे.—मं. सं. ४। ११. दे.—मं. सं. ४, १२, २५, २६ तथा चित्र सं. ६५।

की मूर्तियों का सुविधाजनक विभाजन हम दस वर्गों में करेंगे—

१. तीर्थंकर २. देव-देवियाँ ३. विद्याधर ४. साधु-साध्वियाँ ५. श्रावक-श्राविकाएँ ६. युग्म और मण्डलियाँ ७. प्रतीक ८. पशु-पक्षी ९. मुद्राएँ और आसन तथा १०. प्रकृति चित्रण।

अब हम क्रमशः प्रत्येक वर्ग की मूर्तियों का सूक्ष्म अध्ययन करेंगे।

२. देवगढ़ की तीर्थंकर मूर्ति-कलाका सामान्य अनुशीलन

देवगढ़ में अन्य मूर्तियों की अपेक्षा तीर्थंकरों की मूर्तियाँ कई गुनी अधिक हैं। मुख्य रूप से आदिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर और शान्तिनाथ की ही मूर्तियाँ हैं। बहुसंख्यक मूर्तियों पर लांछन अंकित नहीं हैं।[1] प्रायः सभी शिलापट्टों पर उत्कीर्ण की गयी हैं। द्वि-मूर्तिकाएँ,[2] त्रिमूर्तिकाएँ,[3] सर्वतोभद्रिकाएँ[4] और चतुर्विंशतिपट्ट[5] प्रचुरता से उपलब्ध हैं। द्वारों पर भी तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन हुआ है[6]। प्रायः सभी मूर्तियों के साथ भिन्न-भिन्न रूप से कुछ परम्पराओं का निर्वाह किया गया है।

गुप्तकाल

गुप्तकाल तक आते-आते देवगढ़ का कलाकार मूर्तियों में सजीवता और भावना का संचार करने में पूर्ण सफल हो जाता है[7]। यद्यपि अलंकरण की सादगी बनी रहती है। यूनानी प्रभाव लुप्त होकर भारतीय आकृति पूर्ण रूप से सामने आ जाती है।

गुप्तोत्तरकाल

परन्तु गुप्तोत्तरकाल मे कलाकार मूर्ति को अलंकरण और चमत्कार के घेरे में उलझाने लगते हैं, वे आकर्षण के नाम पर अपनी छैनी की सूक्ष्मता तो अवश्य प्रदर्शित करते हैं, परन्तु मूर्ति के मुखमण्डल पर वह शान्ति और वैराग्य का भाव नहीं उभार पाते जो गुप्तकालीन कला की विशेषता है। इस काल की अन्य धर्मों की कला में भी ये ही प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। इस तथा ऐसे ही अन्य कलागत दोषों के लिए न केवल कलाकार उत्तरदायी थे, बल्कि उनके आदेश-कर्ता भट्टारक या उनसे प्रभावित श्रावक भी थे। तत्कालीन समाज को भी अलंकरण की बोझिलता रुचिकर थी। आभूषण-प्रियता, अन्धविश्वास आदि भी इसमें सहायक थे। चमत्कार को महत्त्व देने की परम्परा भट्टारकों में प्रारम्भ से रही है। अतः बीसों अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक कथाओं को गढ़ने[8] के साथ ही साथ उन्होंने कला में भी ऐसे ही तत्त्वों का समावेश प्रारम्भ कर दिया। पार्श्वनाथ के साथ फणावलि के अंकन को प्रोत्साहन देना इनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। शिव के साथ नागों की फणावलि आदि और विष्णु की शेषशय्या आदि तथा भ. बुद्ध के पृष्ठ भाग में उभरे हुए लहरियादार

---

१. कुछ मूर्तियों पर उत्कीर्ण लांछन शास्त्रीय मान्यताओं के विरुद्ध प्रतीत होते हैं। जैसे—जटाधारी मूर्तियों के साथ बन्दर (दे.—मं. सं. ९, चित्र सं. ५१), शंख (दे.—मं. सं. १३, चित्र ९८.) फणावलि (दे.—मं. सं. दो की कायो. मूर्ति) तथा फणावलियुक्त मूर्तियों के साथ बकरा (दे.—जैन चहारदीवारी, चित्र संख्या ५६) और अम्बिका यक्षी (दे.—मन्दिर संख्या १२ का महामण्डप, चित्र सं. ६३) एवं आदिनाथ अभिलिखित होने पर भी सिंह लांछन (दे.—दिगम्बर जैन चैत्यालय में पीतल की मूर्ति) उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। २. मं. सं. १३, दो (शिलापट्ट क. ५-६), १७, २६ आदि में स्थित तथा मं. सं. १२ के अंग शिखर में जड़ी हुई मूर्तियाँ (चित्र २५)। ३. दे. मं. सं. एक के मण्डप में जड़ी मूर्ति (चित्र सं. एक) मं. सं. एक के पृष्ठभाग में जड़ी मूर्ति (चित्र ७६), मं. सं. चार के गर्भगृह की पश्चिमी भित्ति में (चित्र ७५), और भी देखिए—चित्र सं. २०, ३२ आदि। ४. सर्वतोभद्र-मूर्तियाँ यहाँ के मानस्तम्भों पर (दे. चित्र सं. ४३-४५ तथा ४८)। तो हैं ही, जैन चहारदीवारी के ऊपर भी बहुत बड़ी संख्या में देखी जा सकती हैं (दे. चित्र सं. ४७ में चहारदीवारी वाला भाग)। ५. चतुर्विंशति पट्टों के लिए दे.—मं. सं. चार, बारह, सत्ताईस, उनतीस और साहु जैन संग्रहालय में सुरक्षित मूर्तियाँ। तथा चित्र सं. ६४, ६५ और ७५। ६. दे.—दूसरे कोट का प्रवेश-द्वार, हाथी दरवाजा, तथा मं. सं. ४, ५, ८वें का बायाँ द्वार, ९, ११ के दोनों मंजिलों के प्रवेश-द्वार, १२, १५, १६, १९, २०, २४ से ३१ तक और लघु मन्दिर सं. ४, ५ तथा ८ के प्रवेश-द्वार और भी दे. चित्र सं. ६, १८, ३५, ८१, ८२। ७. दे.—चित्र सं. ५०, ५१, ५२, ५३, ५४ आदि। ८. (अ) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : न्याय कुमुद चन्द्रोदय, प्रथम भाग, (बम्बई, १९३८ ई.), प्रस्तावना पृ. २२। (ब) पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, (बम्बई, १९४२ ई.), पृ. ४०१। (स) पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य : न्याय विनिश्चय विवरण, प्रथम भाग, (वाराणसी, १९४९ ई.), प्रस्तावना पृ. ६१।

वस्त्र[1] ने निश्चय ही भट्टारकों को चमत्कार में डाल दिया होगा। अतः उन्होंने सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के साथ सर्प की फणावलि तो दिखायी ही,[2] उनको तकिया के रूप में (पृष्ठ भाग में) उसकी कुण्डली भी दिखायी[3]। इतना ही नहीं, इस सबके अतिरिक्त, देवगढ़ में पार्श्वनाथ की दो ऐसी मूर्तियाँ[4] भी मिली हैं, जिनके आसन के रूप में सर्प की कुण्डली[5] भी दिखायी गयी है[6]। इसे शेषशायी विष्णु का अनुकरण ही मानेंगे[7]। शेषशायी विष्णु का एक विचित्र किन्तु सराहनीय अनुकरण और किया गया। तीर्थंकर की माता एक आकर्षक मुद्रा में लेटी हैं।[8] और देवियाँ विभिन्न प्रकार से उनकी सेवा में संलग्न हैं।[9] माता के गौरव और स्नेह के प्रतीक चौबीसों तीर्थंकरों का भी अंकन इसमें द्रष्टव्य है।

कुछ तीर्थंकरों के साथ जटाओं के अंकन में तो भट्टारक शिव को भी पीछे छोड़ देते हैं। शिव की जटाएँ लम्बी अवश्य रहती हैं परन्तु वे प्रायः जूड़े में बँधी रहती हैं, किन्तु कुछ तीर्थंकरों की मूर्तियों के साथ जटाएँ इतनी अधिक और लम्बी दिखायी गयी हैं कि वे जूड़े में बँधने के बाद भी बहुत बड़ी मात्रा में कन्धों और पीठ पर बिखरी हुई रहती हैं[10] और कभी-कभी तो वे इतनी लम्बी होती हैं कि पिण्डलियों तक आ पहुँचती हैं।[11]

भट्टारकों की एक प्रवृत्ति शासन-देवों और शासन-देवियों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने की भी रही है। प्रारम्भ में तीर्थंकर मूर्तियों के साथ उनकी शासन-देव-देवियों का अंकन नहीं होता था परन्तु भट्टारकों की उक्त प्रवृत्ति के फलस्वरूप ऐसा होने लगा। इतना ही नहीं, जैसा कि पहले कह चुके हैं, स्थिति यहाँ तक आयी कि तीर्थंकर मूर्ति की अपेक्षा शासन-देवी की मूर्ति बीसगुनी बड़ी तक बनायी जाने लगी।[12] देव-देवियों के प्रति भट्टारकों का यह आग्रह यहाँ तक बढ़ा कि नवग्रहों का अंकन, जो सर्वत्र प्रवेश द्वारों पर ही उपलब्ध होता है,[13] तीर्थंकर-मूर्तियों के साथ कराना भी प्रारम्भ कर दिया गया,[14] इससे तीर्थंकर-मूर्तियों के ऐश्वर्य में वृद्धि न होकर विद्रूपता ही आयी है।

गुप्तोत्तर काल से चन्देल काल तक और उसके भी पश्चात् मुग़लकाल के पूर्व तक तीर्थंकर की मूर्ति में सौन्दर्य और आकर्षण में अभिवृद्धि भले ही हुई हो, पर वैराग्य और शान्ति की अभिव्यक्ति का निरन्तर ह्रास होता गया।

---

१. द्रष्टव्य—साँची पुरातत्त्व-संग्रहालय में ई. चौथी शती की बुद्ध की खड़ी प्रतिमा। २. यहाँ पर फणावलि सुमतिनाथ (जैन चहारदीवारी के प्रवेश-द्वार के दायीं ओर बाहर ऊपर दूसरे स्थान पर जड़ी हुई) तथा नेमिनाथ (मं. सं. १२ के महामण्डप में दायें से बायें तीसरी) की मूर्तियों के साथ भी दिखायी गयी है। दे.—चित्र सं. ५६ और ६३। ३. (अ) देखिए—चित्र सं. ६६ और ७०। (ब) ऐसी ही कुछ मूर्तियाँ दुधई, क्षेत्रपाल (ललितपुर) और सेरान में भी हैं, जो कदाचित देवगढ़ से भेजी गयी होंगी। (स) इसी प्रकार की एक कायोत्सर्ग दिगम्बर जैन मूर्ति (११वीं शती) (२ फी. ३ इं.) दक्षिण कनाडा के लेपीज लाजूली (बैन्दूर) में स्थित है, जिसके पृष्ठ भाग में एक मोटा कोबरा (सर्प) कुण्डली लगाये हुए तीर्थंकर के ऊपर सात फणों से छाया किये है। दे.— डॉ. एच. डी. सांकलिया : जैन आइकोनोग्राफी : ए वाल्यूम ऑफ़ इण्डियन एण्ड इरानियन स्टडीज़ : (बम्बई) पृ. ३४२ और फलक १,२ तथा ४। ४. मं. सं. १५ के गर्भगृह में मूलनायक के बायें, तथा मं. सं. २५ के गर्भगृह में (अभिलिखित) अवस्थित मूर्तियाँ। दे.—चित्र सं. ७१। ५ कुण्डली का विस्तार यहाँ तक बढ़ा कि वह तीर्थंकर के आसन में ही समाप्त न होकर पृष्ठ भाग में तकिया के रूप में भी विद्यमान रहने लगी। देखिए—विदिशा पुरातत्त्व-संग्रहालय में, पाषाण प्रतिमा दीर्घा क. एक, मूर्ति क्र. २४। ६. देवगढ़ में कुण्डली के मोड़ सघन और सर्प की मोटाई कम और अलंकृत दिखायी गयी है, जिससे उसके अंकन में कलाकार की विशेष अभिरुचि का पता चलता है, दूसरी ओर साँची के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित नागराज की कुण्डली विरल तथा सघन दिखायी गयी है। ७. हमारे इस कथन की पुष्टि विदिशा पुरातत्त्व-संग्रहालय (के बरामदे में सुरक्षित, प्रतिमा क्र. २४) की उस प्रतिमा से और भी अधिक होती है, जिसकी पृष्ठभागीय कुण्डली के मोड़ों में भी एक-एक नागी लिपटी दिखायी गयी है, जिसकी प्रेरणा स्पष्ट रूप से उन अनेक नागियों से प्राप्त हुई होगी जो शेषशायी विष्णु की सेवा में उपस्थित दिखायी जाती हैं। देखिए—उदयगिरि (विदिशा) की गुफ़ा सं. ६ के शेषशायी विष्णु का दृश्य तथा इस प्रकार की अन्य प्रतिमाएँ। ८. दे. चित्र सं. ६३। ९. यह मूर्ति मं. सं. चार के गर्भगृह की बायीं भित्ति में जड़ी है। ऐसी ही एक अन्य मूर्ति यहाँ के मं. सं. ३० में भी विद्यमान है, और इसी प्रकार की अनेक किन्तु कला की दृष्टि से कम आकर्षक मूर्तियाँ ग्वालियर के क़िले में भी उत्कीर्ण हैं। १०. दे. मं. सं. १३ के मण्डप में (बायें से दायें) बीसवीं मूर्ति तथा गर्भगृह की तीसरी वेदी पर अवस्थित मूर्ति. दे.—चित्र सं. ६८। मं. सं. १२ के प्रदक्षिणापथ में (बायें से दायें) पचीसवीं मूर्ति, दे. चित्र सं. ७३ तथा जैन चहारदीवारी (दक्षिणी) में जड़ी हुई मूर्तियाँ. दे. चित्र सं. ६६। ११. ऐसी मूर्तियाँ मन्दिर संख्या १२ के प्रदक्षिणापथ में (बायें से दायें) २५वें फलक पर (दे. चित्र सं. ७३) तथा मन्दिर संख्या १३ के मण्डप में (बायें से दायें) २०वें फलक (दे.—चित्र सं. ६८) पर निर्मित हैं। १२. देखिए—चित्र संख्या ९९, १००, १०३, १०४, १०६, १०७, १०८, ११० आदि। १३. यहाँ के भी अनेक द्वारों पर इनका अंकन हुआ है। दे.—चित्र सं. ६, १९-२०, ३५ आदि। १४. दे.—(अ) मं. सं. १३ के मण्डप में (बायें से दायें) २०वाँ फलक (चित्र सं. ६८) मं. सं. १२ के महामण्डप में (दायें से बायें) तीसरा फलक (चित्र संख्या ६३) तथा इसी मन्दिर के गर्भगृह के मूलनायक (चित्र सं. ५१)। (ब) यहाँ तीर्थंकर के अतिरिक्त देवी मूर्तियों में भी नवग्रहों के अंकन का प्रचलन था। दे.—जैन चहारदीवारी के बाहरी और उत्तर में (दायें से बायें) पाँचवें स्थान पर ऊपर जड़ी हुई खण्डित देवी मूर्ति।

इस प्रकार हमने देवगढ़ की तीर्थंकर मूर्तियों का यह सामान्य अनुशीलन प्रस्तुत किया है। अब हम कुछ प्रतिनिधि मूर्तियों का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

३. तीर्थंकर मूर्तियाँ

प्राचीनतम मूर्ति

मन्दिर संख्या १२ के महामण्डप में स्थित[1] एक पद्मासन मूर्ति[2] देवगढ़ की प्राचीनतम मूर्तियों में से एक है। इसका आकार ४ फ़ी. २ इंच × ३ फ़ी. ५ इंच है। इसका शिलाफलक वर्तमान में ३ फ़ी. ८½ इंच ऊँचे और २ फ़ी. ४½ इंच चौड़े सिंहासन पर स्थित है। और वर्तमान में दोनों को सीमेण्ट से जोड़ दिया गया है। इस सिंहासन में दोनों ओर एक-एक सिंह एवं उनके मध्य में एक धर्मचक्र उत्कीर्ण है। इस सबके ऊपर उलटे तिहरे कमल का मनोरम अंकन है। मूर्ति का शिलाफलक ५ फ़ी. ६ इंच × ३ फ़ी. ९ इंच है। आसन उष्णीष-नुमा है तथा उसपर उलटा दुहरा कमल आलिखित है। मूर्ति के दोनों घुटने और नाक अंशतः खण्डित हैं, और भी अनेक स्थानों पर छोटे-छोटे गड्ढे पड़ गये हैं। मूर्ति के आसनादि पर कोई चिह्न नहीं है। श्रीवत्स अत्यन्त समतल और सूक्ष्म दीख पड़ता है। ग्रीवा मे त्रिवली सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट है। ठोढ़ी किंचित् आगे को निकली हुई है, होंठ मोटे और सटे हुए हैं, नेत्र उभरे, फैले और लम्बे, कान लम्बे किन्तु कन्धों का स्पर्श न करते हुए तथा केश घुँघराले हैं। सज्जा में केवल भामण्डल ही है जो कम अलंकृत और कम उभरा हुआ है। डॉ. क्लाज ब्रून के शब्दों में—"यहाँ सिर खूब चौड़ा है, स्थूल अधर काफ़ी सटे हुए हैं, तथा अर्ध-निमीलित नेत्र कुछ अधिक बाहर की ओर झुके हुए हैं। उठी हुई भ्रुकुटियाँ दृढ़ता और आन्तरिक एकाग्रता के भाव को पुष्टि प्रदान करती हैं। यहाँ गौण प्रतिमाओं तथा सज्जा-तत्त्वों का प्रायः अभाव है।"[3]

पद्मासन तीर्थंकर

मन्दिर संख्या १५ के मण्डप में स्थित पद्मासन तीर्थंकर की एक मूर्ति[4] गुप्तकाल के तुरन्त बाद की कला का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करती है। नासाग्र दृष्टि, सांसारिकता से तीव्र विरक्ति आदि इस मूर्ति की विशेषताएँ हैं। अलंकरण में परम्परा के निर्वाह के साथ एक विशेषता यह है कि उसमें दोनों ओर शार्दूलों का आलेखन हुआ है। यह विशेषता देवगढ़ में भी अत्यन्त विरल है, अन्यत्र तो कदाचित् नहीं ही है। इस दृष्टि से यह मूर्ति भारतीय मूर्तिकला में अपने ढंग की अद्वितीय मानी जा सकती है। इसके अंग-प्रत्यंग का अंकन और भावों की अभिव्यक्ति बहुत आकर्षक है। ऐसा क्रम साँची, एरण और देवगढ़ के ही दशावतार मन्दिर की मूर्तियों में प्राप्त होता है।

विशालतम मूर्ति

मन्दिर संख्या १२ के गर्भगृह में इसी श्रृंखला की एवं देवगढ़ की विशालतम मूर्ति[5] स्थित है। इस मूर्ति की कुल ऊँचाई १२ फ़ी. ४ इंच, पैरों से कमर तक की ऊँचाई ७ फ़ी. ३ इंच, हाथ की नीचे की अँगुली से कन्धे तक की ऊँचाई ६ फ़ी. १ इंच, एक कन्धे से दूसरे कन्धे तक की चौड़ाई ३ फ़ी. ६ इंच और जटाजूट से छत्र तक की ऊँचाई १ फ़ी. ८ इंच है। काल के कराल थपेड़ों से यह महत्त्वपूर्ण मूर्ति बहुत कुछ खण्डित हो गयी है परन्तु भक्तों ने उसकी यथासम्भव जुड़ाई करा दी है, इसे सोलहवें तीर्थंकर 'शान्तिनाथ' की मूर्ति मानकर इस मन्दिर का नाम ही 'शान्तिनाथ मन्दिर' प्रचलित

---

१ बायें से दायें चौथी। २. दे. चित्र सं. ५०। इसका निर्माणकाल चौथी शती ई. माना जा सकता है, क्योंकि इसमें गुप्तकालीन ऐहिकता और आध्यात्मिकता का केवल समन्वय ही नहीं है बल्कि अंग-प्रत्यंगों का गठन, भावाभिव्यक्ति की उत्कृष्टता, ध्यानमग्नता आदि भी दर्शनीय हैं। ३. दे. 'जैनयुग' मई १९५९ में प्रकाशित ('मध्यदेश के जैनतीर्थ : देवगढ़'। ४. दे. चित्र सं. ५२। ५. दे. चित्र सं. ५१।

हो गया है जबकि शान्तिनाथ का चिह्न (हिरण) या यक्ष-यक्षी आदि कोई भी यहाँ दृष्टिगत नहीं होते।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि—चाँदपुर,[2] दूधई,[3] बानपुर,[4] मदनपुर,[5] अहार,[6] सेरोन,[7] खजुराहो[8] आदि निकटवर्ती स्थानों पर विद्यमान इसी प्रकार की कायोत्सर्ग और विशालाकार शान्तिनाथ की मूर्तियों की समानता के कारण भक्तों ने इसे भी 'शान्तिनाथ' की मूर्ति कहना प्रारम्भ कर दिया होगा। भक्तों ने इसके चिह्न या यक्ष आदि का अन्वेषण या तो किया ही नहीं या वे ऐसा करने में असफल रहे, क्योंकि अभी कुछ वर्ष पूर्व तक इस मूर्ति के सामने २ फ़ी. ३ इंच के अन्तर से एक भित्ति खड़ी थी जिसमें प्रवेश करने के लिए १ फ़ी. ९ इंच चौड़ी एक खिड़की थी।[9] इसमें से प्रवेश करके एक अन्धकार-पूर्ण, बदबूदार और सकरी कोठरी[10] में मूर्ति का चिह्न खोज निकालने का साहस कदाचित् ही किसी को होता। वर्तमान में इस भित्ति को हटा दिया गया है और एक 'गार्डर' (लोहे के सहतीर) द्वारा टूटी हुई कड़ी को सम्हालकर उस भित्ति का उद्देश्य पूरा कर दिया गया है[11]। इस मन्दिर के महामण्डप में, कुछ वर्ष पूर्व, गर्भगृह की ओर एक भित्ति खड़ी थी, इसमें पूर्व की ओर एक अभिलेख जड़ा[12] हुआ था, जिसमें एक शब्द है—'श्री शान्तिनाथ चैत्यालये'। इस शब्द ने भी प्रस्तुत मूर्ति के शान्तिनाथ की होने का भ्रम उत्पन्न किया दिखता है। वस्तुतः इस शब्द का प्रस्तुत विशालाकार मूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं, बल्कि यह अभिलेख ही अन्य मन्दिर से सम्बन्धित है। उस मन्दिर के नष्ट हो जाने पर, इसे सुरक्षा की दृष्टि से यहाँ लाकर उस भित्ति में जड़ दिया गया होगा जो उस समय महामण्डप की सुरक्षा की दृष्टि से बनायी जा रही होगी। दूसरी बात यह है कि इस अभिलेख में संवत् १४९३ का उल्लेख है जबकि प्रस्तुत मूर्ति उक्त संवत् से अनेक शताब्दियों पूर्व निर्मित हो चुकी थी। तीसरी बात यह है कि इसी मन्दिर के अर्ध-मण्डप में संवत् ९१९ का[13] और गर्भगृह में संवत् १०५१ का[14] अभिलेख उत्कीर्ण है, जिससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत अभिलेख (संवत् १४९३) में उल्लिखित 'शान्तिनाथ चैत्यालय', मन्दिर संख्या १२ से पृथक् ही कोई मन्दिर था, जो या तो पूर्णरूपेण धराशायी हो चुका है या वर्तमान मन्दिरों में से अन्य कोई हो सकता है।

इस विशालाकार मूर्ति के दोनों ओर, प्रवेश-द्वार के भीतर दोनों ओर तथा द्वार के बाहर ऊपरी भाग में (दायें) 'अम्बिका' यक्षी की मूर्तियों और द्वार के नीचे (बायें) 'पार्श्व' यक्ष की मूर्तियों के अंकन होने से यह सम्भावना अधिक है कि प्रस्तुत मूर्ति बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की होगी[15]। इस मूर्ति की प्रमुख विशेषताओं और निर्माण काल के सम्बन्ध में दो उद्धरण पर्याप्त होंगे : 'उसी मन्दिर के गर्भगृह में शान्तिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा की ओर ध्यान दीजिए, जो अपने कलात्मक गुणों के कारण विशेष गौरवशाली है। भामण्डल की सजावट तथा पार्श्वस्थ द्वारपालों का लावण्य व भाव-भंगिमा गुप्तकाल की कला के अनुरूप है; फिर भी परिकरों के साथ मूर्ति का तादात्म्य नहीं हो पाया। दर्शक के ध्यान का केन्द्र प्रधान मूर्ति ही है, जो अपने गाम्भीर्य व विरक्ति भाव युक्त कठोर मुद्रा द्वारा दर्शक के मन में भयमिश्रित पूज्य भाव उत्पन्न करती है,[16]। 'मन्दिर नं. १२ में रखी हुई खड़े शान्तिनाथ की महान् प्रतिमा (नं. १) ऊँचाई, समय और अपने कलात्मक गुणों के कारण इन स्मारकों में सबसे अधिक गौरवशालिनी है। इस जिनमूर्ति के भामण्डल पर बने हुए

---

१ (अ) इस विषय में श्री कनिंघम पूर्णतः मौन हैं। वे इसे मात्र विशालाकार दिगम्बर प्रतिमा कहते हैं। दे.—ए. एस. आइ. आर., जिल्द १०, पृ० १००। (ब) श्री फुहरर ने, पता नहीं किस आधार पर इसे ऋषभनाथ की प्रतिमा लिखा है। दे. मानुमेण्टल एंटिक्विटीज इन इण्डिया, (इलाहाबाद, १८८१), पृष्ठ १२०। (स) श्री दयाराम साहनी ने, कदाचित् परम्परा के आधार पर ही इसे शान्तिनाथ की प्रतिमा लिखा है। दे.—एनु. प्रो. रि.—१९१८, पृ. १०। २. ऊँचाई १६ फ़ी. २ इंच। ३. ऊँचाई १४ फ़ी. ६ इंच। ४. ऊँचाई १५ फ़ी.। ५. ऊँचाई ११ फ़ी.। ६. ऊँचाई १८ फ़ी.। ७. ऊँचाई १४ फ़ी. ४ इंच। ८ ऊँचाई १५ फ़ी.। ९. (अ) ए. कनिंघम : ए. एस. आइ. आर. जिल्द १०, पृ. १००। (ब) ए. फुहरर : मानु. एंटि. इं., पृ. १२०। १०. (अ) ए. कनिंघम : उपर्युक्त, पृ. १००। (ब) दयाराम साहनी : एनु. प्रो. रि. १९१८, पृ. १०। (स) श्री परमानन्द बरया ने भी इस भित्ति, खिड़की तथा अन्धकार आदि को स्वयं देखा था। ११. इन पंक्तियों के लिखे जाने के पश्चात् अभी-अभी देवगढ़ मैनेजिंग दि. जैन कमेटी के मन्त्री ने अपने पत्रांक १६१ दि. १५-१८-६७ द्वारा सूचित किया है कि दिसम्बर १९६७ में इस लोहे के 'गार्डर' को, गर्भगृह में स्थान, प्रकाश और शोभा आदि के विस्तार की दृष्टि से हटा दिया गया है। तथा टूटी हुई कड़ी को, उसके नीचे ही एक आड़ा 'गार्डर' डालकर सम्हाल दिया गया है। मैंने भी अपने जुलाई, १९६८ के देवगढ़ प्रवास में उक्त तथ्य की पुष्टि पायी है। १२. अब यह अभिलेख साहु जैन संग्रहालय में सुरक्षित है। दे. परि. दो, अभि. क्र. पाँच। १३. दे.—मं. सं. १२ के महामण्डप के सामने अवस्थित अर्धमण्डप में दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख। अभिलेख पाठ के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्र. एक। १४. यह अभिलेख मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेश द्वार की चौखट में बायें भीतरी पक्ष पर उत्कीर्ण है। १५. हमारी इस सम्भावना की पुष्टि के लिए दे.—श्री नीरज जैन : देवताओं का गढ़ : देवगढ़, अनेकान्त, वर्ष १७ किरण ४, पृ. १६८। १६. डॉ. हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, (भोपाल, १९६२), पृष्ठ ३४८।

सज्जा-तत्त्व तथा दक्षिण और वाम पार्श्व में स्थित दो–चौरीदारों की लावण्यपूर्ण भंगिमा आज भी गुप्तकला का स्मरण दिलाती है,[2] । इस प्रकार इस मूर्ति में गुप्तकाल की अनेक विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं । इसका निर्माणकाल छठवीं शती के अन्त या सातवीं शती के प्रारम्भ में निर्धारित किया जा सकता है । इसके परिकर में नवग्रहों का आलेखन विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

मन्दिर संख्या ६ के मूलनायक

मन्दिर संख्या ६ के गर्भगृह में अवस्थित पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति को ७०० ई. से कुछ पूर्व[3] निर्मित हुआ मानेंगे । वैराग्य, शान्ति और तपस्या की त्रिवेणी बहाती हुई यह महान् मूर्ति देवगढ़ की सुन्दरतम मूर्तियों में से एक है । इसमें एक ओर गुप्तकालीन कला की परम्परा का निर्वाह हुआ है और दूसरी ओर पूर्व मध्यकालीन साज-सज्जा के लक्षण दृष्टिगत होते हैं ।

मन्दिर संख्या १५ के मूलनायक

देवगढ़ की सर्वश्रेष्ठ मूर्तियों में से एक पन्द्रहवें मन्दिर के गर्भगृह में मूलनायक के रूप में विद्यमान है ।[4] ५ फ़ी. १ इंच × २ फ़ी. ११ इंच के शिलाफलक पर निर्मित २ फ़ी. १० इंच ऊँची और १ फ़ी. ७ इंच चौड़ी नेमिनाथ[5] की यह पद्मासन प्रतिमा अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है । इस मूर्ति में लावण्य, प्रसाद, अनुकम्पा आदि सद्गुण उतने ही सुस्पष्ट हैं जितने ध्यान और विरक्ति के भाव । ज्ञान, ध्यान और लोक-कल्याण की भावना इस मूर्ति के अंग-अंग से फूट-फूटकर निकल रही है । इस मूर्ति की सज्जा, परिकर और इन्द्र आदि बोलते-से प्रतीत होते हैं तथा मूर्ति की सौम्यता और मनोज्ञता में अनन्त-शान्ति के दर्शन होते हैं । इसके भामण्डल के चारों ओर अग्नि-शिखा का अंकन 'ध्यान-अगनि कर कर्म-कलंक सबै दहे'—का स्मरण दिलाता है । निःसन्देह यह प्रतिमा भी गुप्तकाल की कलागत परम्पराओं पर आश्रित है, इसका स्पष्ट प्रमाण सारनाथ में अवस्थित गुप्तकाल की बुद्ध प्रतिमा से इसकी समानता[6] है । साँची के मन्दिर सं. ४५ में स्थित बुद्ध-प्रतिमा (चौथी शती ई.) की प्रभावली का स्मरण प्रस्तुत प्रतिमा की प्रभावली को देखकर सहज ही हो आता है । इसी प्रकार की गुप्तकालीन दो पद्मासन प्रतिमाएँ मथुरा में भी प्राप्त हुई हैं । वे इस मूर्ति से बहुत साम्य रखती हैं ।[7]

इस मूर्ति की तुलना मन्दिर संख्या १२ की उपर्युक्त विशालाकार मूर्ति से करेंगे : दोनों मूर्तियों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल के पश्चात् कला की एकता का स्थान अपने आपको स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली प्रवृत्तियों की विविधता ने कैसे ले लिया । निस्सन्देह दोनों मूर्तियाँ आध्यात्मिकता और बाह्य संसार के प्रति उदासीनता का स्पष्ट भाव अभिव्यक्त करती हैं । परन्तु कायोत्सर्गासन मूर्ति अधिक कठोर और निष्क्रिय है, जबकि पद्मासनस्थ मूर्ति अधिक सजीव है, पहली भय का संचार सा करती है जबकि दूसरी करुणा का मूर्तिमान प्रवाह है । पहली संसार के प्रति स्पष्ट अवहेलना का भाव प्रकट करती है परन्तु दूसरी हर्षोत्फुल्ल और अनुप्राणित मूर्तियों से घिरी हुई है, जिनकी उपस्थिति के प्रति वह रंचमात्र भी असहिष्णु नहीं है । मूर्ति के ऊपरी भाग में विद्याधरों और विद्याधरियों का अंकन अत्यन्त आकर्षक-मुद्रा में हुआ है । छत्रों के ऊपर उद्घोषक और उसके दोनों पार्श्वों में उत्कीर्ण हाथी बहुत प्रभावोत्पादक हैं[8] । परिकर में यक्षी अम्बिका और यक्ष पार्श्व के अस्तित्व से स्पष्ट है कि यह मूर्ति नेमिनाथ की है, जबकि श्री नीरज जैन ने इसे सन्मति (महावीर) की लिखा है[9] और इसका चित्र भी इसी नाम से मुद्रित कराया है ।[10]

---

१. डॉ. क्लॉज ब्रून : मध्यदेश के जैनतीर्थ : देवगढ़, जैनयुग, मई १९५९ । २. दे.—चित्र सं. ५३ । ३. मं. सं. छह, जिसे हमने अबसे लगभग ५०० वर्ष प्राचीन ही माना है (दे.—पृ. १३६), में स्थित होने पर भी इस मूर्ति को सातवीं शती ई. से पूर्व की कृति मानना होगा क्योंकि देवगढ़ में मूर्तियों का स्थानान्तरण बहुत हुआ है । ४. दे.—चित्र सं. ५४ । ५. श्री नीरज जैन ने इस मूर्ति के यक्ष-यक्षी तथा मन्दिर में जीर्णोद्धार के समय के अभिलेख को कदाचित बारीकी से देखे बिना ही इसे सन्मति (महावीर) की लिखा है । तथा उसी नाम से इसका चित्र भी प्रकाशित कराया है । दे.—अनेकान्त, वर्ष १७, किरण ४, पृ.१६८ । ६. दे.—डॉ. क्लॉज ब्रून : वही । ७. दे.—विंसेंट स्मिथ : दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज़ ऑफ़ मथुरा, (इलाहाबाद, १९०१), फलक ९२ और ९३ तथा लखनऊ संग्रहालय क्र. जे।१०४ और जे।११८ । ८. दे.—चित्र सं. ५४ । ९. दे.—अनेकान्त, वर्ष १७, किरण ४, पृ. १६८ । १०. (अ) वही, मुखपृष्ठ । (ब) इस मन्दिर का जीर्णोद्धार रायबहादुर आदि अनेक उपाधिधारी सेठ कल्याणमल जी(इन्दौर) की धर्मपत्नी श्रीमती गुलाब बाई द्वारा सन् १९३६ में निष्पन्न हुआ । उस समय और उससे पूर्व भी यह मूर्ति नेमिनाथ तथा यह मन्दिर, 'नेमिनाथ-जिनालय' के नाम से विख्यात रहा होगा, तभी तो इसके जीर्णोद्धार सम्बन्धी अभिलेख में 'नेमिनाथ-

अभिनन्दननाथ

मन्दिर संख्या नौ के गर्भगृह में स्थित कायोत्सर्ग अभिनन्दननाथ की [1] मूर्ति स्निग्ध पालिश, अंग-प्रत्यंग के समानुपातिक अंकन तथा भावाभिव्यक्ति आदि के कारण गुप्तकाल की कला-परम्पराओं की रक्षा करती है। इसका निर्माणकाल ईसा की सातवीं-आठवीं शती प्रतीत होता है।

दो फ़ुट तीन इंच लम्बी इस तीर्थंकर मूर्ति के कन्धों पर जटाएँ लहरा रही हैं, जबकि इसके पादमूल में बन्दर का चिह्न स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जटाओं का अंकन केवल ऋषभनाथ के ही साथ हो; [2] यह परम्परा देवगढ़ में नहीं है। इस मूर्ति की एक और विशेषता यह है कि इसके कन्धों के पार्श्व में तीर्थंकर का अभिषेक करने हेतु दो इन्द्र कलश लिये हुए उपस्थित हैं। दुर्भाग्य से उनके शिर खण्डित हो गये हैं। पादपीठ पर भी (दोनों ओर) चँवरधारी इन्द्रों की भावपूर्ण मुखमुद्राएँ दर्शनीय हैं।

ऋषभनाथ

इसी प्रकार की अनेक मूर्तियाँ देवगढ़ में और भी देखी जा सकती हैं, जिनमें से मं. सं. तीन में अवस्थित कायोत्सर्गासन ऋषभनाथ की मूर्ति का विवेचन करेंगे। यह [3] मूर्ति २ फ़ी. ६ इंच ऊँचे और १ फ़ी. ९ इंच चौड़े शिलाफलक पर उकेरी गयी है। इसके हाथ, परिकर, अष्ट-प्रातिहार्य तथा कुछ अन्य अंश खण्डित हो गये हैं। सिंहासन में यक्ष-युगल, श्रावकयुगल, सिंहयुगल और वृषभ का अंकन अत्यन्त सूक्ष्मता और सुन्दरता के साथ किया गया है। पादमूल में दो कमल-धारी त्रिभंगी देव (दोनों ओर) खड़े हैं। इन्होंने अपने-अपने हाथ के विकसित कमल ऊपर उठाकर इस ढंग से ले रखे हैं कि वे तीर्थंकर की दोनों हथेलियों में ऐसे जा थमे हैं मानो उन्हें स्वयं तीर्थंकर ने ले रखा हो। परिकर में दोनों ओर तीन-तीन कायोत्सर्ग तीर्थंकरों की तीन-तीन पंक्तियाँ हैं। अनुमान है कि इस शिलाफलक के खण्डित अंश में शेष पाँच तीर्थंकर भी अंकित रहे होंगे। इस प्रकार इस शिलाफलक को चौबीसी कहना उपयुक्त होगा। इसका भामण्डल अशोकचक्र की अनुकृति पर बनाया गया है, जो इसकी अपनी विशेषता है। इसकी नाभि के नीचे की त्रिवली, नाभि की गहराई, श्रीवत्स की लघुता, ग्रीवा की त्रिवली, मुखमण्डल की सौम्यता और अब भी चमकते हुए 'पालिश' की स्निग्धता—ये सब मिलकर इसे गुप्तोत्तर युग की सिद्ध करते हैं। सिंहासन पर तीर्थंकर के पादमूल में उत्कीर्ण दो पंक्तियों के अभिलेख में उल्लिखित संवत् १२०९ के बावजूद हम इस मूर्ति को निर्माण-काल-सम्बन्धी अपनी उक्त धारणा क़ायम रखना चाहते हैं, क्योंकि (१) कला की यह सूक्ष्मता और सौम्यता गुप्तोत्तर काल में दृष्टिगत होती हैं, (२) बारहवीं शती तक आते-आते श्रीवत्स का अनुपात काफ़ी बड़ा हो जाता है जबकि यहाँ वह बहुत ही छोटे अनुपात में है, (३) लेख निश्चित ही बाद को उत्कीर्ण कराया गया होगा। क्योंकि जितनी भी मूर्तियों पर लेख उत्कीर्ण मिले हैं या मिलते हैं, वे सभी सिंहासन के सामने के हिस्से में मिलते हैं, सिंहासन के ऊपर तीर्थंकर के पादमूल में नहीं, (४) तीर्थंकर-मूर्ति की अपेक्षा गोमुख यक्ष की मूर्ति का लगभग पचासवाँ हिस्सा (लघु आकार में) होना भी इसे गुप्तोत्तर युग की सिद्ध करता है, जबकि भट्टारक प्रथा का प्रचार अधिक नहीं बढ़ा था, जिसके कारण तीर्थंकर मूर्ति क्रमशः छोटी होती गयी और यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ क्रमशः बड़ी होती गयीं।

मन्दिर संख्या २ में कायोत्सर्ग तीर्थंकर

इसी प्रकार मन्दिर संख्या २ में भी एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्ति विद्यमान है।[4] इसके सिंहासन का अग्रभाग खण्डित है अतः उसे पहचानना कठिन है। उसके कन्धों पर लगभग एक फ़ुट की जटाएँ आ पहुँची हैं। अतः उसे

जिनालय' पद का प्रयोग हुआ है। दे.—उसी मन्दिर में रखा हुआ जीर्णोद्धार सम्बन्धी श्रावण सुदी १५ वीर नि. सं. २४६२, विक्रम सं. १९९३, दि. ३ अगस्त १९३६ का अभिलेख। यह अभिलेख मेरी पूर्व-मान्यता (मूर्ति नेमिनाथ की है) की सम्पुष्टि करता है। यदि श्री नीरज जैन ने इस अभिलेख पर भी ध्यान दिया होता तो इसे सम्मति (महावीर) लिखने का भ्रम न होता।

१. दे. चित्र सं. ५८। २. 'चिरं तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभुस्तराम्। ध्यानाग्नि-दग्ध-कर्मेन्ध-निर्यद्-धूम-शिखा इव॥'—जिनसेन : आदिपुराण, १-९। ३. दे. चित्र सं. ५९। ४. यह फलक (बायें से दायें) नवमें स्थान पर है। तथा इसकी ऊँचाई ४ फी. ८ इंच और चौड़ाई १ फ़ी. ७ इंच है।

आदिनाथ की मूर्ति कहा जा सकता है परन्तु, इसके विरुद्ध उसके परिकर में फणावलि सहित देव (धरणेन्द्र) के अंकन से उसे पार्श्वनाथ कहना ही अधिक उपयुक्त होगा[1]। श्रीवत्स की आनुपातिक लघुता और कलागत अंकन की सूक्ष्मता के आधार पर इसे गुप्तकाल की माना जाना चाहिए।

पद्मासन तीर्थंकर

मन्दिर संख्या २१ के पश्चिमाभिमुख कक्ष में स्थित पद्मासन-तीर्थंकर-मूर्ति[2] (बायें से दायें, तीसरी) अपनी सज्जागत समृद्धि और केन्द्रस्थित तथा चारों ओर स्थित मूर्तियों के चित्ताकर्षक एकीकरण की दृष्टि से गुप्तकालीन कला में भी चार-चाँद लगाती प्रतीत होती है। इस मूर्ति के अंग-प्रत्यंगों के गठन में चारुता और कोमलता का अद्‌भुत समन्वय है। अलंकृत कमलासन पर आसीन तीर्थंकर मानो शान्ति और स्निग्धता का विस्तार कर रहे हैं। मस्तक के पीछे अत्यन्त अलंकृत त्रिवृत्त भामण्डल दर्शनीय है। गौण-मूर्तियों के अंकन में भी सुचारुता का प्रदर्शन उल्लेखनीय है। इसे आठवीं शती ई. के आसपास की कृति माना जा सकता है। यह अत्यन्त खेद का विषय है कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व की मूर्ति का मस्तक एक मूर्तिभंजक द्वारा काट लिया गया है।[3]

मन्दिर संख्या २८ के मूल नायक : नमिनाथ

ऐसी ही एक ८ फ़ी. ३ इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति[4] मन्दिर संख्या २८ में भी विद्यमान है। इसके पैरों से कमर तक की ऊँचाई ५ फ़ी. १ इंच, पैरों से कन्धों तक की ऊँचाई ६ फ़ी. १० इंच तथा एक कन्धे से दूसरे कन्धे तक की चौड़ाई २ फ़ी. १० इंच है। आसन में कमल का चिह्न स्पष्ट है। अतः इसे इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ की प्रतिमा कहना होगा। इसके परिकर और अलंकरण का संक्षेप, अष्ट-प्रातिहार्यों (भामण्डल के अतिरिक्त) की अनुपस्थिति और कलात्मकता आदि के साथ हाथों और पैरों की समतलता इसे आठवीं शती की कृति सिद्ध करते हैं।

आदिनाथ

इसी काल (आठवीं शती ई. के आसपास) की, आदिनाथ[5] की एक पद्मासन मूर्ति मन्दिर संख्या दो में (बायें से दायें, नवमें स्थान पर, ४ फ़ी. ७ इंच × २ फ़ी. ७ इंच के शिलाफलक पर उत्कीर्ण) अवस्थित है। अष्ट-प्रातिहार्यों के अतिरिक्त, इसके परिकर में दायें एक अन्य लघु पद्मासन तीर्थंकर का अंकन इस मूर्ति की विशेषता है। इसी मन्दिर के चौथे शिलाफलक (४ फ़ी. ५ इंच × २ फ़ी. ७ इंच) पर आदिनाथ की ही एक और पद्मासन मूर्ति उल्लेखनीय है। इसके सिंहासन के नीचे एक पंक्ति का लेख है।[6] जिसमें संवत् १०५२ और दाता का नाम उत्कीर्ण है।

आदिनाथ

यहीं (मं. सं. दो) दशवें शिलाफलक (४ फ़ी. ९ इंच × २ फ़ी. १० इंच) पर आदिनाथ की एक और पद्मासन मूर्ति निर्मित है।[7] इसके सिंहासन के नीचे एक पंक्ति के लेख में संवत् ११२२ अंकित है तथा परिकर में तीर्थंकरों की दो लघु-आकृतियाँ (पद्मासन में) अभिलिखित हैं। अष्ट-प्रातिहार्यों में, एक दूसरे की ओर सस्नेह देखते हुए दो विद्याधर-युगल हमें बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

वृषभनाथ

मन्दिर संख्या एक के मण्डप में सामने की ओर (पूर्व में) मध्य में स्थित वृषभनाथ की पद्मासन मूर्ति भी उल्लेखनीय कही जा सकती है, जिसका लम्बा श्रीवत्स उसके बारहवीं शती के होने की पुष्टि करता है।

---

१. जटाधारी तीर्थंकर मूर्तियों को आदिनाथ की ही मान लेना (दे.—अनेकान्त, वर्ष १७, किरण १, पृ. ४३-४४) निर्भ्रान्त नहीं होगा। क्योंकि देवगढ़ में ऐसी अनेक मूर्तियाँ विद्यमान हैं जिनके साथ जटाओं के अतिरिक्त विभिन्न तीर्थंकरों के लांछन भी स्पष्ट रूप से अंकित हैं। २. दे.— चित्र सं. ६१। ३. कटा हुआ शिर अब क्षेत्रीय प्रबन्धक समिति को प्राप्त हो गया है, जो शीघ्र ही स्थानीय जैन संग्रहालय में प्रदर्शित किया जायेगा। ४. दे.—चित्र सं. ६२। ५. दे.—चित्र सं. ६०। ६. सन् १९१७-१८ में श्री दयाराम साहनी ने भी इस मूर्ति का इसी मन्दिर में देखा था। द्रष्टव्य—ए. प्रो. रि., परिशिष्ट अ, अभिलेख क्र. १५. पृ. १३। ७. दे.—चित्र सं. ६७।

चतुर्विंशति पट्ट

चौबीसी (चतुर्विंशति) की दृष्टि से अनेक उल्लेखनीय मूर्ति-फलक मन्दिर संख्या १२ के महामण्डप में जड़े हुए हैं।[1]

कतिपय विशिष्ट मूर्तियाँ

(अ) जटाओं की दृष्टि से उल्लेखनीय

१. मन्दिर संख्या १३ के कायोत्सर्ग तीर्थंकर

अब हम कुछ ऐसी मूर्तियों का उल्लेख करेंगे जिनका महत्त्व प्राचीनता की दृष्टि से तो है ही, उनकी अपनी कुछ विशेषताओं के कारण भी है। उदाहरण के लिए मन्दिर संख्या १३ के मण्डप में विद्यमान ५ फ़ी. १० इंच के शिला-फलक (बायें से दायें बीसवाँ) पर उत्कीर्ण शान्तिनाथ की ४ फ़ी. ७ इंच ऊँची कायोत्सर्गासन मूर्ति[2] दर्शनीय है। इस मूर्ति की प्रथम विशेषता यह है कि उसके आसन में बायें सिंह और दायें हिरण का अंकन है जबकि अन्यत्र, दोनों ओर सिंह का ही अंकन मिलता है। सिंह को सिंहासन का प्रतीक और हिरण को तीर्थंकर का चिह्न मान लें तो यह मूर्ति सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की कही जानी चाहिए। या फिर सिंह और हिरण को एकत्र दिखाकर तीर्थंकर की तपस्या के अहिंसात्मक प्रभाव को प्रदर्शित करने की भावना भी इसमें सन्निहित हो सकती है। जटाओं की विशालता और विचित्रता इस मूर्ति की दूसरी विशेषता है।[3] जटाओं को सम्हालने में कलाकार ने कदाचित् सर्वाधिक अभिरुचि दिखायी है। जटाओं को पीछे की ओर सम्हालकर उनकी पाँच-पाँच लटें दोनों कन्धों पर झुलायी गयी हैं,[4] कुछ लटों की ऊपर को उठी हुई चोटी बाँधी गयी है और बहुत-सी जटाएँ पीछे दोनों ओर लटका दी गयी हैं जो इतनी लम्बी हैं कि पिण्डलियों के भी नीचे तक आ पहुँची हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार तीर्थंकर को हिमालय मानकर उनके जटा-शिखर से ज्ञान-गंगा को भूमण्डल पर अवतीर्ण करना चाहता हो, जैसा कि मध्यकालीन हिन्दी कवि श्री भूधरदास का कथन है :

'वीर हिमाचल तैं निकसीं
गुरु गौतम के मुख-कुण्ड ढरी है।
मोह-महाचल भेद चली
जग की जड़ता सब दूर करी है॥
ज्ञान-पयोनिधि माँहि रली
बहु-भंग-तरंगनि सौं उछरी है।
ता शुचि शारद गंग-नदी
प्रति मैं अँजुरी कर शीश धरी है॥[5]'

इस मूर्ति में कला-प्रदर्शन को ही नहीं, भावों को भी प्रधानता दी गयी है। यह आश्चर्य की बात है कि ललाट पर दर्शित अलकों की दो छोटी-छोटी घुँघराली लटें उसके भावात्मक सौन्दर्य में चार चाँद लगा रही हैं। वैसे भी उसका मुख-मण्डल अत्यन्त प्रशान्त और आत्म-सम्मुख बन पड़ा है।

२. नेमिनाथ

जटाओं की विचित्रता और लम्बाई की दृष्टि से उल्लेखनीय एक मूर्ति और भी इसी मन्दिर के गर्भगृह में तीसरी वेदी (बायें से दायें) पर स्थित ५ फ़ी. ३ इंच × १ फ़ी. ११ इंच के शिलाफलक पर अंकित है। मस्तक पर बीसों लटों को एक बड़े ही संयोजित और पेचीदा ढंग से गूँथा गया है। इतने पर भी कलाकार को सन्तोष नहीं हुआ तो उसने दो-दो लटें कन्धों पर और बीसों लटें पीछे दोनों ओर बिखेर दी हैं। यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि कलाकार

---

१. एक मूर्तिफलक के लिए दे.—चित्र सं. ६४। २. दे.—चित्र सं. ६८। ३. तुलना के लिए देखिए चित्र सं. ६९ और ७३। ४. कन्धों पर झूलती हुई जटाओंवाली कुछ मूर्तियाँ मथुरा-संग्रहालय में भी प्रदर्शित हैं। ५. दे.—बृहज्जिनवाणी संग्रह, पं. पन्नालाल बाकलीवाल सम्पा., (कलकत्ता, १९३७), पृ. ४७।

कला के भावपक्ष का भी मर्मज्ञ था। उसने जहाँ जटाओं की संयोजना में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है वहाँ मूर्ति के मुखमण्डल पर नासाग्र दृष्टि और वैराग्य की अपूर्व छटा बिखेर दी है।[1]

३. अन्य उल्लेखनीय मूर्तियाँ

जटाओं की लम्बाई की दृष्टि से कुछ अन्य मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं जिनमें से बारहवें मन्दिर के प्रदक्षिणापथ में अवस्थित पचीसवें (बायें से दायें) शिलाफलक[2] की तथा नवमें मन्दिर के गर्भगृह में अवस्थित[3] अभिनन्दननाथ[4] की और छठवें मन्दिर के गर्भगृह में विद्यमान आदिनाथ की तथा चौथे मन्दिर की उत्तरी और पश्चिमी[6] भित्तियों (भीतर) एवं जैन-चहारदीवारी[7] में जड़ी हुई मूर्तियाँ विशेष हैं।

(ब) फणावलि तथा सर्पकुण्डली की दृष्टि से उल्लेखनीय मूर्तियाँ

१. पार्श्वनाथ

कुछ मूर्तियाँ फणावलि और सर्पकुण्डली की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, जिनमें से पचीसवें मन्दिर के गर्भगृह में विद्यमान पाँचवें शिलाफलक की पार्श्वनाथ की[8] पद्मासन मूर्ति दर्शनीय है[9]। इसके सर्प की कुण्डली, अन्य मूर्तियों की भाँति[10] पीछे न होकर आसन के रूप में नीचे है। मूर्ति के दायें सर्प की पूँछ दीखती है,[11] फिर छह कुण्डलियाँ लगाकर वह मूर्ति के पीछे से ऊपर पहुँच जाता है और अपने सात फणों की आवलि फैलाकर तीर्थंकर को छाया प्रदान करता है।

सर्प की कुण्डली का विस्तार यहाँ तक बढ़ा कि वह तीर्थंकर के आसन में ही समाप्त न होकर पृष्ठभाग में तकिया के रूप में भी दिखायी जाने लगी। इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ विभिन्न मन्दिरों एवं जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई हैं।[12] मन्दिर संख्या छह में और बारह के महामण्डप में कुछ ऐसी मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं जिनमें मूर्ति के अनुपात में फणावलि काफ़ी बड़ी अतः भार-स्वरूप मालूम पड़ती है।

२. सुमतिनाथ

फणावलि का अंकन केवल पार्श्वनाथ के साथ ही सीमित नही रहा बल्कि सुमतिनाथ के साथ भी उसका अंकन हुआ है।[13] इस प्रकार की एक सुन्दर मूर्ति जैन-चहारदीवारी में (मं. सं. सात के पश्चिम मे) जड़ी हुई है। इसमें सुमतिनाथ का चिह्न 'चकवा' सुस्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है।

३. पार्श्वनाथ : पादपीठ के ऊपर सर्प

मन्दिर संख्या छह में पार्श्वनाथ की एक ऐसी भी मूर्ति विद्यमान है[14] जिसपर सर्प का आलेखन चिह्न, आसन, तकिया या मस्तकाच्छादन के रूप में न होकर पादपीठ के ऊपर मूर्ति के पैरों के दोनों ओर दो स्वतन्त्र सर्पों के रूप में हुआ है। वहाँ सर्प अपनी विकराल कुण्डली लगाये हुए आलिखित हैं।

(स) द्विमूर्तिकाएँ, त्रिमूर्तिकाएँ और सर्वतोभद्रिकाएँ

देवगढ़ में पर्याप्त मात्रा में द्विमूर्तिकाएँ, त्रिमूर्तिकाएँ और सर्वतोभद्रिकाएँ आदि भी निर्मित हुईं।

१. मन्दिर संख्या १३ की द्विमूर्तिका

मन्दिर संख्या १३ के मण्डप में स्थित एक द्विमूर्तिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है : ७ फ़ी. ७ इंच × २ फ़ी.

---

१. कुछ अन्य मूर्तियों की भाँति यह मूर्ति भी जटायुक्त होने पर भी आदिनाथ की नहीं, नेमिनाथ की है। क्योंकि उसके सिंहासन पर बायें पार्श्व यक्ष और दायें अम्बिका यक्षी का स्पष्ट अंकन है। २. दे.—चित्र सं. ७३। ३. इस मूर्ति की दूसरी विशेषता यह है कि जटाओं के रहते हुए भी इसका लाञ्छन बन्दर स्पष्ट अंकित है। ४. दे.—चित्र सं. ५८। ५. दे.—चित्र सं. ६५। ६. दे.—चित्र सं. ७५। ७. दे.—चित्र सं. ६६। ८. दे.—चित्र सं. ७१। ९. तुलना कीजिए—यहीं के पन्द्रहवें मन्दिर के मूलनायक के बायें अवस्थित पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति से। १०. दे.—जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई एवं मं. सं. १२ के महामण्डप में स्थित मूर्तियाँ तथा चित्र सं. ६९, ७०। ११. तुलना कीजिए—तेरापुर (महाराष्ट्र) की गुफा में स्थित पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति से। इसके चित्र और विवरण के लिए दे.—डॉ. ही. ला. जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, (भोपाल, १९६२), पृ. ३१२, फलक २४। १२. दे.—चित्र सं. ६९, ७०। १३. दे.—चित्र सं. ५६। १४. दे.—चित्र सं. ५५।

२ इंच के एक शिलाफलक के एक ओर ५ फ़ी. ६ इंच ऊँची तथा उसके ठीक पीछे (दूसरी ओर) ६ फ़ी. ऊँची कायोत्सर्ग मूर्तियाँ निर्मित हुई हैं। दोनों मूर्तियों के पृष्ठ भागों के बीच २.५ इंच का अन्तर छोड़ा गया है। इस द्विमूर्तिका के निर्माण में कलाकार के सामने एक विकट समस्या रही होगी। एक ओर की मूर्ति का निर्माण हो चुकने पर जब उसने उसी शिला के पृष्ठभाग में दूसरी मूर्ति के अंकन का कार्य प्रारम्भ किया होगा, तब पहली मूर्ति को पत्थर की छिलाई की चोट आदि से सम्भावित टूट-फूट से बचा सकना अत्यन्त बुद्धिसाध्य रहा होगा। इस प्रकार की मूर्तियों का अंकन ईसवी पूर्व प्रथम शती से मथुरा में होने लगा था, किन्तु अन्यत्र ऐसी द्विमूर्तिकाएँ अत्यल्प मात्रा में ही मिलती हैं।

२. द्विमूर्तिकाएँ और त्रिमूर्तिकाएँ

एक ही शिलाफलक पर, एक ही ओर एक दूसरे के पार्श्व में दो मूर्तियाँ[1] या तीन मूर्तियों[2] को उत्कीर्ण करने की परम्परा भी देवगढ़ में रही है।

३. सर्वतोभद्रिकाएँ

सर्वतोभद्रिकाएँ[3] प्रायः स्तम्भों या उनके खण्डित शीर्षों पर ही प्राप्त होती हैं।

(ड) चतुर्विंशति पट्ट

कुछ शिलाफलकों पर चौबीसियों[4] (चतुर्विंशति-पट्टों) का निर्माण भी, स्वतन्त्र रूप[5] में और मूल नायक के परिवार के रूप[6] में हुआ है। कला की दृष्टि से मं. सं. १२ के महामण्डप में स्थित कुछ चतुर्विंशति पट्ट (चित्र ६४) विशेष उल्लेखनीय हैं।

(इ) १७६ मूर्ति-अंकित स्तम्भ

एक स्तम्भ (संख्या १३) पर चारों ओर छोटी-छोटी १७६ मूर्तियाँ निर्मित हैं[7]। मूर्तियों की यह संख्या विचारणीय है, क्योंकि इसकी कोई शास्त्रीय संगति नहीं है। यदि यह संख्या १७० रही होती तो शास्त्रीय संगति मिल जाती[8]। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार को अभीष्ट रही होगी १७० की ही संख्या, परन्तु स्तम्भ पर स्थान और संयोजना की दृष्टि से विवश होकर उसे १७६ की निकटतम संख्या स्वीकार करनी पड़ी होगी। यही अंकन कुछ अन्य स्तम्भों पर भी देखा जा सकता है[9]।

(ई) सहस्रकूट

एक विशालाकार स्तम्भ[10] (मं. सं. ५ में स्थित सहस्रकूट) पर १००८ लघुकाय पद्मासन और कायोत्सर्गासन तीर्थंकर[11] मूर्तियाँ अंकित हैं, जो जिनेन्द्र देव के १००८ नामों[12] का भी प्रतीक माना जा सकता है।

---

१. दे.—मं. सं. एक, दो, सत्रह, छब्बीस, जैन चहारदीवारी, साहु जैन संग्रहालय तथा मं. सं. १२ के अंगशिखर में जड़ी हुई मूर्तियाँ (चित्र सं. ३५)। २. दे.—मं. सं. एक, दो, बारह का महामण्डप, अट्ठाईस का अंगशिखर एवं जैन चहारदीवारी आदि। तथा चित्र सं. १,७६,७५,२०,३२। अट्ठाईसवें मन्दिर के अंगशिखर में निर्मित देवकुलिका में जो त्रि-मूर्तिका जड़ी है—उसमें उसके दायें सप्त फणावलिसहित पार्श्वनाथ और बायें पंच फणावलि सहित सुपार्श्वनाथ कायोत्सर्गासन में दर्शित हैं, जबकि मध्य की मूर्ति के टूटकर गिर जाने से उसके स्थान पर एक अन्य पद्मासन तीर्थंकर प्रतिमा जड़ दी गयी है। दे.—चित्र सं. ४२। ३. इस प्रकार की २७ मूर्तियाँ जैन चहारदीवारी पर एक-दूसरे से बहुत अन्तर पर स्थापित हैं। दे.—चित्र सं. ४७। विभिन्न मानस्तम्भों पर भी इसी प्रकार की मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। दे.—चित्र सं. ४३-४५ तथा ४८। ४. मं. सं. ४,१२,२५,२६,२१ एवं जैन चहारदीवारी और जैन धर्मशाला में अनेक चतुर्विंशति-पट्ट देखे जा सकते हैं। चौबीसी के लिए दे.—चित्र सं. ६४, ६५ और ७५। ५. दे.—साहु जैन संग्रहालय में स्थापित चतुर्विंशति पट्ट। ६. दे.— चित्र सं. ६४, ६५ एवं ७५। ७. दे.—चित्र सं. ४७। ८. एक ही साथ यदि अधिक से अधिक तीर्थंकर विद्यमान रहें तो वे १७० हो सकते हैं। विदेह क्षेत्र पाँच होते हैं और प्रत्येक में ३२ नगरियाँ होती हैं। इन (५×३२=१६०) नगरियों में से प्रत्येक में भी एक-एक तीर्थंकर एक ही साथ हो सकते हैं। इसी तरह पाँच भरत क्षेत्रों और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में से प्रत्येक में भी एक-एक तीर्थंकर उसी समय हो सकते हैं। ये सब (१६०+१०=१७०) मिलाकर १७० हो जाते हैं। ९. दे.—स्तम्भ सं. १२, चित्र सं. ४६। १०. दे.—चित्र सं. ८। ११. तीर्थंकर के शरीर में १०८ मुख्य और ९०० सामान्य लक्षण (=१००८) सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से होते हैं। दे.—जिनसेन : महापुराण, पर्व १५, श्लोक ३७-४४। १२. दे.—उपर्युक्त, पर्व २५, श्लोक ६८-९९। तुलना कीजिए—(१) शिव सहस्रनाम स्तोत्र; श्लोक १६-१७ और ३५। (२) विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र, (गोरखपुर, २०२३ वि.), श्लोक २, ६, १२-१३। (३) गणेश सहस्रनाम स्तोत्र, (गोरखपुर, २०१५ वि.), श्लोक २-५।

४. देव-देवियाँ

जैन देव-शास्त्र में मौलिक और सर्वोपरि पूज्यता पंच-परमेष्ठियों को ही प्राप्त है। प्रारम्भ में तीर्थंकरों (अर्हन्त परमेष्ठी) की ही मूर्तियाँ बनती थीं, बाद में हिन्दू देवताओं और कदाचित् बोधिसत्त्वों की मूर्तियों के अनुकरण या प्रतिस्पर्धा के कारण जैन-देव-देवियों की भी मूर्तियाँ बनने लगीं। शास्त्रीय दृष्टि से चूँकि मोक्ष-प्राप्ति मानव-जन्म से ही सम्भव है, देवजन्म से नहीं[१]। अतः मानव को देवों से अधिक महत्त्व मिलता है। पंच[२]-परमेष्ठी[३] देव नहीं, मानव ही होते हैं। अतः देव-देवियों की मूर्तियाँ बनने तो अवश्य लगीं पर तीर्थंकरों के समान न तो उनकी पूजा ही होती थी और न मन्दिर में उन्हें मुख्य स्थान प्राप्त होता था। उन्हें तीर्थंकरों के चमरधारी, आराधक एवं सेवक आदि के रूप में स्थान दिया जाता था, जैसा कि अबतक होता आ रहा है। हिन्दू-देवताओं की भाँति अधिकांश जैन-देवताओं को भी मन्दिर के प्रवेश-द्वार आदि विभिन्न स्थानों पर भी अंकित किया जाने लगा।

भट्टारकों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आडम्बरप्रियता और भौतिकता के प्रति आकर्षण के फलस्वरूप अनेक ऐसे देव-देवियों की कल्पना की गयी, जिनका जैनधर्म के प्रारम्भिक और सर्वमान्य आचार्यों ने कोई उल्लेख नहीं किया है। ऐसे देव-देवियों में यक्ष तथा यक्षियों अर्थात् तीर्थंकर के शासनदेव और शासन-देवियों का विशेष महत्त्व है। कुछ हिन्दू देव-देवियों का जैनीकरण भी हुआ जिनमें सच्चिया माता आदि प्रमुख हैं[४]।

भट्टारकों में से अधिकांश मन्त्र-तन्त्र आदि पर विश्वास रखते थे, जिनकी सिद्धि के लिए विभिन्न देवियों की उपासना अनिवार्य बतायी गयी। फलतः देवियों की मूर्तियों का महत्त्व क्रमशः बढ़ता ही गया। अब ये देवियाँ मन्दिर के प्रवेश-द्वार से आगे बढ़ती-बढ़ती गर्भालय तक जा पहुँचीं। फिर उन्हें तीर्थंकर के पादमूल में ही स्थान मिल गया। इस स्थिति में इनकी मूर्ति तीर्थंकर की मूर्ति की अपेक्षा काफ़ी छोटी, कदाचित् पचासवाँ भाग होती थी। परन्तु देवियों की शक्ति पर विश्वास और कदाचित् सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक कमियों तथा दबावों के फलस्वरूप उनका महत्त्व इतना बढ़ा कि भले ही वे तीर्थंकर का स्थान न ले सकीं, पर इनकी मूर्ति अवश्य ही तीर्थंकर की मूर्ति से पचास-गुनी तक बड़ी बनने लगी।

सामान्य लक्षण—अब हम इन देव-देवियों की मूर्तियों के सामान्य लक्षणों पर दृष्टिपात करेंगे। इन मूर्तियों के 'मूर्ति-विज्ञान' सम्बन्धी अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनके विकास में तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ प्रमुख कारण थीं। अतः इनमें से कुछ के एक से अधिक मस्तक बनाये गये, जो उनके विशिष्ट बुद्धि-बल और प्रभाव के द्योतक थे। इसी प्रकार, एक ही देव या देवी के दो हाथ अपर्याप्त प्रतीत हुए क्योंकि उसे एक ही साथ अपने उपासकों को अभय और वर प्रदान करना था तथा अपने उपासक के शत्रुओं का हनन करना था, साथ ही उसे अपने विशिष्ट चिह्न के रूप में कुछ फल, फूल या आयुध आदि भी रखने होते थे। अतः चार[५], छह[६], दस[७], बीस[८] और यहाँ तक कि २४[९] हाथोंवाली देवियाँ भी कलाकार की छेनी से निर्मित होने लगीं। अब देवों और देवियों को पैदल दौड़ाना उनके भक्तों ने उचित न समझा। अतः किसी को गरुड़[१०], किसी को हंस[११], किसी को महिष[१२] और किसी को सिंह आदि वाहनों की योजना

१. (१) समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रवकाचार, जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, पद्य ३९-४१। (२) पं. दौलतराम छहढाला, (सोनगढ़, २०१३ वि.) पृ. ११७ और १७५। (३) पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री . जैनधर्मामृत, (काशी १९६० ई.) पृ. ३१५। २. अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनके लक्षणों आदि के लिए दे.—द्रव्यसंग्रह, गाथा ५०-५४। ३. इन्द्रादिक के द्वारा बन्दनीय परमपद में स्थित अरिहन्त आदि महापुरुष। दे.—वही, पृ. ५७ तथा रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, ६-८। ४. डॉ. प्रेमसागर जैन : जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, (काशी, १९६३ ई.) पृ. १६९-१७१। ५. दे.—चित्र सं. ९५ और १०१। मूर्ति विज्ञान सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों में रोहिणी, वज्रशृंखला, नरदत्ता, मनोवेगा, ज्वालामालिनी, महाकाली, मानवी, गौरी, अनन्तमती, महामानसी, विजया, अपराजिता और पद्मावती आदि के चार हाथ वर्णित हैं। ६. प्रज्ञावती, विराटा, मानसी और जया नामक देवियों के छह हाथ होने के उल्लेख अपराजितपृच्छा (पृ. ५६७-६८) में प्राप्त होते हैं। ७. दे.—चित्र सं. १११। चक्रेश्वरी की एक दशभुजी मूर्ति मं. सं. १९ में भी सुरक्षित है। मथुरा संग्रहालय में भी चक्रेश्वरी की दशभुजी मूर्ति प्रदर्शित है। दे.—मूर्ति सं. डी. छह। ८. दे.—चित्र सं. ९९ और १००। प्रतिष्ठातिलक (पृ. ३४०-४१) के अनुसार चक्रेश्वरी के बीस भुजाएँ होना चाहिए। देवगढ़ में इन दोनों मूर्तियों में वह विंशतिभुजी ही है। ९. कहीं-कहीं चौबीस भुजाओंवाली चक्रेश्वरी भी मिलती है। १०. अपराजितपृच्छा (पृ.५६६) तथा प्रतिष्ठा सारोद्धार (अ. ३ श्लोक १५६) के अनुसार चक्रेश्वरी का वाहन गरुड़ है। अपराजितपृच्छा (पृ. ५६८) के अनुसार महामानसी का वाहन भी गरुड़ है। ११. वज्रशृंखला तथा अनन्तमती नामक यक्षियों के वाहन हंस हैं। दे.—अपराजितपृच्छा, पृ. ५६७-५६८। १२. कालिका नामक सातवीं यक्षी का वाहन महिष है। दे.—अपराजितपृच्छा, पृ. ५६७।

की गयी, एक-दो देवियाँ तो पुरुष को ही अपना वाहन बना बैठीं।[1]

महत्त्व का आरोपण—इन देवियों के महत्त्व और प्रबल शक्ति पर जन-साधारण का विश्वास प्राप्त करने के लिए भट्टारकों ने तीर्थंकर की वीतरागता का पूरा-पूरा लाभ उठाया। शत्रु के चढ़ आने पर किसी राजा की या रोग-शोक आ पड़ने पर किसी दुखिया की मदद के लिए वीतराग तीर्थंकर भला क्या दौड़ते, दौड़ते आये—कोई देव, कोई देवी। यह सब कल्पना की वस्तु न रहकर इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य बन सके, इसके लिए इन देव-देवियों की अद्भुत और चमत्कारपूर्ण कहानियाँ रची गयीं, जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध तीर्थंकरों के जीवन से जोड़ा गया। फिर इन कहानियों के आधार पर सम्बद्ध देव-देवियों की मूर्तियों में तदनुरूप विशेषता लायी जाने लगी। उदाहरण के लिए—पद्मावती[2] के साथ सर्प दिखाया गया,[3] अम्बिका[4] के साथ दो बालक और आम का वृक्ष निर्मित हुआ[5] तथा चक्रेश्वरी[6] के साथ चक्र दिखाये गये।[7] विभिन्न उद्देश्यों और प्रसंगों के अनुसार इनके आसन और मुद्राएँ भी विभिन्न प्रकार की स्वीकृत हुईं।

स्थापत्य के विकास के साथ मूर्तिकला का भी विकास होता गया। देव-देवियों का सम्बन्ध मन्दिर-स्थापत्य से ही रहा है। उन्हें उनके पद और विशेषता के आधार पर मन्दिर के विभिन्न भागों में स्थान दिया गया। उदाहरण के लिए—इन्द्र-इन्द्राणी को तीर्थंकर के सिंहासन पर चमरधारी के रूप में, द्वारपालों को द्वारपक्षों पर तथा दिक्पालों को वेदी के या मन्दिर की बाह्य-भित्तियों के कोणों पर स्थान दिया गया।

देवगढ़ में यक्षियों की अपेक्षा यक्षों की मूर्तियाँ बहुत कम मिलीं और जो भी मिली हैं उनके साथ या समीप सम्बद्ध यक्षी की मूर्ति अवश्य मिलती है। जबकि स्वतन्त्र रूप में यक्षियों की मूर्तियाँ यहाँ सैकड़ों हैं। यह ध्यान देने की बात है कि एक ही तीर्थंकर के यक्ष और यक्षी के परस्पर दाम्पत्य का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। एक मात्र तेईसवें तीर्थंकर

---

१. विजया (१८वीं यक्षी) (दे. अपरा. पृ. ५६८), तथा अम्बिका (२२वीं यक्षी) (दे.—अपरा., पृ. ५६८ तथा प्रतिष्ठासारो., ३-१७६) का वाहन सिंह निरूपित किया गया है और भी दे.—चित्र सं. १०३ से १०५ तक। महामानसी नामक सोलहवीं विद्यादेवी का वाहन भी सिंह है। दे.—डॉ. द्वि. ना. शुक्ल : वास्तुशास्त्र, जि. दो. पृ. २७५। २. महाकाली नामक (आठवीं) विद्यादेवी ने अपने वाहन के रूप में पुरुष को स्वीकार किया। दे.—वास्तुशास्त्र, पृ. २७५।

३. (अ) देवेष्टुं कुर्कट सर्प गात्रिफणकोत्तंसा द्विषो यात षट्, पाशादिः सदसत्कृते च धृतशंखास्यादिदो अष्टका।
तां शान्तामरुणां स्फुरच्छृणि सरोजन्माक्षव्यालाम्बरां, पद्मस्थां नवहस्तकप्रभुनतां यायजिम पद्मावतीम्॥
—पं. आशाधर : प्र. सा., अ. ३, श्लोक १७७।

(ब) पाशाद्यन्वितषड्भुजारिजयदा ध्याता चतुर्विंशतिं। शंखास्यादियुतान्करांस्तु दधती या क्रूरशान्त्यर्थदा।
शान्त्यै साङ्कुशवारिजाक्षमणिसद्दानैश्चतुर्भिः करैर्युक्ता तां प्रयजामि पार्श्वविनतां पद्मस्थ पद्मावतीम्॥
—नेमिचन्द्र देव : प्रतिष्ठा तिलक, परि. ७, पद्य २३।

(स) पाशांकुशौ पद्मवरे रक्तवर्णा चतुर्भुजा। पद्मासना कुक्कुटस्था ख्याता पद्मावतीति च।
भुवनदेवाचार्यः अपराजितपृच्छा, पृ. ५६८।

४. दे. चित्र सं. १०६ से ११० तक।

५. (अ) सव्येकाङ्ग्युपगप्रियङ्करसुतं प्रीत्यै करे बिभ्रतीं दिव्याम्रस्तबकं शुभंकरकरश्लिष्टान्यहस्ताङ्गुलिम्।
सिंहे भर्तृचरेस्थितां हरितभामाम्रद्रुमच्छायगां वन्दारुं दशकर्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्बां यजे॥
—पं. आशाधर : प्र. सा., ३-१९६

(ब) धत्ते वामकटौ प्रियंकरसुतं वामे करे मञ्जरीमाम्रस्यान्यकरे शुभंकरतुजो हस्तं प्रशस्ते हरौ॥
आस्ते भर्तृचरे महाम्रविटपिच्छायं श्रिताभीष्टदा। यासौ तां नुतनेमिनाथपदयोर्नम्रामिहाम्बां यजे॥
—नेमिचन्द्र देव : प्र. ति., ७-२२।

(स) हरिद्वर्णा सिंहसंस्था द्विभुजा च फलं वरम्। पुत्रेणोपास्यमाना च सुतोत्संगा तथाम्बिका॥ भुवनदेवाचार्य : अपरा., पृ. ५६८

६. (अ) धर्माभ्रकरद्वयालकुलिशा चक्राङ्कहस्ताष्टका सव्यासव्यशयल्लसत्फलवरा यन्मूर्तिरास्तेऽम्बुजे।
तार्क्ष्ये वा सह चक्रयुग्मरुचकत्यागैश्चतुर्भिः करैः। पञ्चेष्वासशतोन्नतप्रभुनतां चक्रेश्वरीं तां यजे।
—पं. आशाधरः प्र. सा., ३-१५६

(ब) या देव्यूर्ध्वकरद्वयेन कुलिशं चक्राण्यधःस्थैः करैः अष्टाभिश्च फलं वरं करयुगेनाद्यम्म एवाथवा॥
धत्ते चक्रयुगं फलं वरमिमां दोर्भिश्चतुर्भिः श्रिता तार्क्ष्ये तां पुरुतीर्थपालनपरां चक्रेश्वरीं संयजे॥
—नेमिचन्द्र देव : प्र. ति., ७-१

(स) षट्पादा द्वादशभुजा चक्राण्यष्टौ द्विवज्रकम्। मातुलिङ्गाभये चैव तथा पद्मासनापि च॥
गरुडोपरिसंस्था च चक्रेशी हेमवर्णिका।—भुवनदेवाचार्य : अपरा., पृ. ५६६।

(ड) यतिवृषभ : तिलोयपण्णत्ति, भाग एक, डॉ. ए. एन. उपाध्ये तथा डॉ. हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित, (शोलापुर, १९४३), ४-९२७।७. दे.—चित्र सं. ९९, १००, १११ तथा ९८।

के यक्ष धरणेन्द्र और यक्षी पद्मावती के दाम्पत्य के प्रमाण मिलते हैं[1]। यही कारण है कि इन दोनों की मूर्तियाँ भी एक दूसरे से सटाकर या पद्मावती को धरणेन्द्र की गोद में बैठाकर अंकित की गयी हैं।

अंकन में शास्त्र-विधि की उपेक्षा : यह तथ्य विचारणीय है कि अन्य स्थानों की भाँति देवगढ़ का कलाकार भी देव-देवियों के अंकन में शास्त्रीय विधानों का कम और प्रचलित परम्पराओं तथा तात्कालिक परिस्थितियों का अधिक अनुगामी था। यही कारण है कि देवगढ़ या ऐसे ही अन्य अनेक स्थानों पर देव-देवियों की जो मूर्तियाँ मिलती हैं उनमें शास्त्रीय लक्षण शत-प्रतिशत कदाचित् ही घटित होते हों। इतना ही नहीं, एक कलाकार के विचार और शैली दूसरे कलाकार से प्रायः भिन्न ही होते थे तभी तो हमें एक ही देवी कभी दो हाथों सहित, कभी चार हाथों सहित, कभी आठ या सोलह या बीस हाथों सहित भी मिलती है[2]। कभी-कभी तो शास्त्र-विहित देवी और कलाकार द्वारा प्रणीत देवी में किसी भी प्रकार की समानता नहीं होती, परन्तु हमें फिर भी उन दोनों का समीकरण करना ही पड़ता है। उदाहरण के लिए—हम तेईसवें तीर्थंकर की यक्षी पद्मावती को लेंगे। प्रतिष्ठासारोद्धार[3] के अनुसार यह देवी कुर्कट (Cobra) सर्प पर आसीन, तीन फणों की आवलि सहित और छह हाथों में विभिन्न वस्तुएँ धारण किये हुए तथा अपराजितपृच्छा[4] के अनुसार उसे कुक्कुट (मुर्गा[5]) पर आसीन तथा चार हाथोंवाली होना चाहिए।[6] भैरव-पद्मावती-कल्प[7] के अनुसार अन्य विशेषताओं के साथ उसके तीन नेत्र और तीन फणों की आवलि होना चाहिए। परन्तु इन सबके विपरीत देवगढ़, चाँदपुर और खजुराहो आदि अनेक स्थानों पर प्राप्त पद्मावती की मूर्तियों में फणावलि कुछ के मस्तक पर और कुछ के साथवाले तीर्थंकर के मस्तक पर मिलती हैं, प्रायः दो हाथ मिलते हैं, तीन नेत्र किसी के नहीं मिलते तथा सबसे अधिक विचित्र बात यह है कि पद्मावती की प्रायः सभी मूर्तियाँ एक बालक को लिये हुए अंकित की गयी हैं[8]। इससे भी विचित्र बात यह है कि एक तीर्थंकर की यक्षी को दूसरे तीर्थंकर के साथ भी दिखाया गया है।[9] कहने का तात्पर्य यह है कि उपलब्ध मूर्तियों का समीकरण केवल शास्त्रीय-विधानों के आधार पर ही नहीं, प्रत्युत कलागत परम्पराओं और तात्कालिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भी किया जाना चाहिए।

वर्गीकरण : अब हम उक्त पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में देवगढ़ की जैन-देव-देवी मूर्तियों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। सुविधा की दृष्टि से हम इन्हें पाँच वर्गों में विभक्त करेंगे[10]—

(१) यक्ष (शासनदेव),
(२) यक्षी (शासनदेवी),
(३) विद्या देवी,
(४) प्रतीकात्मक देव-देवियाँ : लक्ष्मी, सरस्वती, नवग्रह, गंगा, यमुना, नागी और नाग।
(५) अन्य देव-देवियाँ :
(अ) इन्द्र-इन्द्राणी, (ब) उद्घोषक, (स) परिचारक-परिचारिकाएँ, (ड) कीर्तिमुख, (इ) कीचक, (ई) द्वारपाल, (उ) क्षेत्रपाल।

---

१. (अ) भावदेवसूरि : पार्श्वनाथ चरित्र, सर्ग ६, श्लोक ५०-६८। (ब) वादिराजसूरि : पार्श्वनाथ चरित्र, सर्ग १२, श्लोक ४२। २. उदाहरण के लिए चक्रेश्वरी के अपरा. (पृ० ५६६) के अनुसार १२, प्र. सा. (३-१५६) के अनुसार १६ तथा प्रतिष्ठातिलक (७-१) के अनुसार २० भुजाएँ होना चाहिए। ३. अध्याय तीन, श्लोक १७७। ४. भुवनदेवाचार्य की यह मूल कृति डॉ. बी. भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित होकर ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा से १६५० में प्रकाशित हुई है। ५. 'पद्मासना कुक्कुटस्था ख्याता पद्मावतीति च।'—सूत्र २११, पद्य ३७। ६. मुद्रित प्रति में कुक्कुट के स्थान पर 'कुर्कुट' या 'कर्कट' होना चाहिए था, जिसका अर्थ एक प्रकार का सर्प होता है। इस देवी का सम्बन्ध सर्प से ही है, कुक्कुट (मुर्गे) से नहीं। ७. (सूरत से प्रकाशित), अध्याय दो, श्लोक २ और १२। ८. कहीं-कहीं पद्मावती की मूर्तियाँ बिना बालक के भी प्राप्त हुई हैं। उदाहरणार्थ तेवर (त्रिपुरी) से प्राप्त पद्मावती की एक त्रिमूर्तिका, इसके ऊपर के दोनों हाथों में सनाल-कमल, निचला दायाँ अभय मुद्रा में और निचले बायें हाथ में कलश है। देखिए—सागर विश्वविद्यालय पुरातत्त्व-पत्रिका (सं. एक, १६६७), फलक २०। ९. दे.—चित्र. सं. ६३, यह मं. सं. १२ महामण्डप में (बायें से दायें) तीसरी मूर्ति है, जिसमें तीर्थंकर तो फणावलिसहित हैं, किन्तु परिकर में नवग्रह तथा दोनों पार्श्वों में अम्बिका यक्षी के आलेखन हैं। यहाँ और भी दे.—फणावलिधारी सुमतिनाथ (चित्र सं. ५६)। तथा चित्र सं. ७५ में आदिनाथ के साथ एक ओर अम्बिका तथा दूसरी ओर चक्रेश्वरी का अंकन हुआ है। १०. कुछ मूर्तियों का समीकरण सम्भव नहीं था, क्योंकि कुछ बहुत अधिक खण्डित हैं और कुछ न तो प्रायः किसी शास्त्रीय विधान के अन्तर्गत आती हैं और न किसी परम्परा या परिस्थिति से उनका सम्बन्ध जुड़ता है।

(अ) यक्ष (शासनदेव)

देवगढ़ में केवल तीन यक्षों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं : गोमुख, पार्श्व और धरणेन्द्र ।

गोमुख

गोमुख के एक मात्र ऐसा यक्ष है जिसका मुख मनुष्य के समान न होकर बैल के समान है[१] । इसकी कुछ मूर्तियाँ यहाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से मं. सं. तीन, बारह (चित्र सं. ९८), उन्नीस और बाईस की उल्लेखनीय हैं। मन्दिर संख्या तीन की गोमुख यक्ष की मूर्ति, आदिनाथ की जिस मूर्ति के साथ[२] उत्कीर्ण की गयी है, वह इतिहास और कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गोमुख-मूर्ति की आनुपातिक लघुता ने इस सम्पूर्ण मूर्ति-फलक को गुप्तोत्तर काल का सिद्ध करने में बड़ा बल दिया है। मं. सं. १२ की उपर्युक्त गोमुख-मूर्ति (चित्र सं. ९८) १ फ़ी. १ इंच ऊँची और ९ इंच चौड़ी है। उसका मुख गौ (बैल) के समान और शेष शरीर मनुष्य के समान है। वह अपने चार हाथों में माला और कलश आदि लिये है। पायल, कटिबन्ध, हार, शीशमुकुट आदि आभूषण तथा यज्ञोपवीत अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। खजुराहो में इस यक्ष की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका आकार-प्रकार प्रायः ऐसा ही है।

पार्श्व

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष पार्श्व[3] का अंकन देवगढ़ में बहुत हुआ है। उसकी कुछ मूर्तियाँ मन्दिर संख्या १२, १३, १५ और २३ में देखी जा सकती हैं। जैन-मूर्ति-शास्त्र के ग्रन्थों में इसका नामान्तर गोमेध भी प्राप्त होता है।[४]

धरणेन्द्र

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के यक्ष धरण या धरणेन्द्र[५] का आलेखन भी यहाँ प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसकी मूर्तियाँ मं. सं. २४, २८ और अनेक स्तम्भों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से (पद्मावती के साथ) शताधिक निर्मित हुई।[६]

पद्मावती की गोद में दिखाये गये बालक के अतिरिक्त, कभी-कभी इसकी गोद में भी एक बालक निर्दशित किया गया है।[७] कभी-कभी इसके मस्तक पर फणावलि भी अंकित की गयी है।[८]

---

१. (अ) सव्येतरोर्ध्वकरदीप्रपरश्वधाक्षसूत्रं तथाधरकराङ्कफलेष्टदानम् ।
प्राग्गोमुखं वृषमुखं वृषगं वृषाङ्कभक्तं यजे कनकभं वृषचक्रशीर्षम् । —पं. आशाधर : प्र. सा., ३-१२९ ।
(ब) वामान्योर्ध्वकरद्वयेन परशुं धत्तेऽक्षमालामधः । सव्यासव्यकरद्वयेन ललितं यो बीजपूरं वरम् ।
तं मूर्ध्ना कृतधर्मचक्रमनिशं गोवक्त्रकं गोमुखम् । श्री नाभेयजिनेन्द्रपादकमला लोलालिमालापये ॥
—नेमिचन्द्र देव : प्र. ति., ७-१, पृ. ३३१ ।
(स) वराक्षसूत्रे पाशश्च मातुलिङ्गं चतुर्भुजः । श्वेतवर्णो वृषमुखो वृषभासनसंस्थितः ॥—भुवनदेवाचार्य : अपरा. पृ. ५६६ ।
(ड) चतुर्भुजः सुवर्णाभः गोमुखो वृषवाहनः । हस्तेन परशुं धत्ते बीजपूराक्षसूत्रकम् ॥
वरदानपरः सम्यक् धर्मचक्रं च मस्तके ।—बी. सी. भट्टाचार्य : जैन आइकोनोग्राफ़ी, (लाहौर, १९३९), प. ६४ ।

२. दे.—चित्र सं. ५६ ।

३. (अ) श्यामस्त्रिवक्त्रो द्रुघणं कुठारं दण्डं फलं वज्रदरौ च बिभ्रत ।
गोमेदयक्षः क्षितशङ्खलक्ष्मा पूजां नृवाहोऽर्हतु पुष्पयानः ॥ — पं. आशाधर, प्र. सा., ३-१५० ।
(ब) घनं कुठारं च बिभर्ति दण्डं सव्येः फलैर्वज्रवरौ च योऽन्यैः । हस्तैस्तमाराधितनेमिनाथं गोमेधयक्षं प्रयजामि दक्षम् ॥
—नेमिचन्द्रदेव : प्र. ति., पृ. ३३७-३८ ।
(स) पार्श्वो धनुर्बाणमृण्डि मुद्गरश्च फलं वरः । नरारूपः श्यामवर्णः कर्तव्यः शान्तिमिच्छता ॥
—भुवनदेवाचार्य : अपरा. पृ. ५७० ।

४. प्रतिष्ठासारोद्धार (३-१५०) तथा प्रतिष्ठातिलक (पृ. ३३७-३८) पर । ५. धरण या धरणेन्द्र का लक्षण इस प्रकार प्राप्त होता है :
(अ) ऊर्ध्वद्विहस्तधृतवासुकिरुद्भटाधः सव्यान्यपाणिफलपाशवरप्रणन्ता ।
श्रीनागराजककुदं धरणो भ्रूनीलः कूर्मश्रितो भजतु वासुकिमौलिरिज्याम् ॥ —पं. आशाधर : प्र. सा., ३-१५१ ।
(ब) सव्येतराभ्यामुपरिस्थिताभ्यां यो वासुकीपाशवरौ पराभ्याम् ॥ धत्ते तमेनं फणिमौलिकूलं पार्श्वेशयक्षं धरणं धिनोमि ॥
—नेमिचन्द्रदेव : प्र. ति. पृ. ३३८ ।

६. देखिए—चित्र सं. १०७ से ११० तक। ७. दे.—मं. सं. २४ में जड़ी मूर्तियाँ तथा चित्र सं. १०७ से ११० तक। ८. दे.—जैन चहारदीवारी तथा मं. सं. २४ आदि में जड़ी हुई मूर्तियाँ तथा चित्र सं. १०९, ११० ।

पद्मावती के साथ किये गये इसके अंकन विशेष रूप से विचारणीय हैं।[1]

(अ) यक्षी (शासन देवी)

देवगढ़ के कलाकार ने तीर्थंकर-मूर्तियों के पश्चात् सर्वाधिक मूर्तियाँ शासन देवियों की ही निर्मित कीं। शासन देवियों में भी चक्रेश्वरी, अम्बिका और पद्मावती के अतिरिक्त किसी अन्य की मूर्तियाँ वहाँ नहीं मिली हैं। ये मूर्तियाँ तीर्थंकर-मूर्तियों के साथ कम और स्वतन्त्र रूप से अधिक निर्मित की गयी हैं। कुछ को प्रवेश-द्वारों पर और मानस्तम्भों की देवकुलिकाओं में भी उत्कीर्ण किया गया है। सभी एक ही युग की देन नहीं हैं। सभी में, अपने-अपने वर्ग में भी लाक्षणिक समानता नहीं है। प्रायः सभी बहुमूल्य वस्त्रों और रत्नाभूषणों से अलंकृत हैं। अधिकांश को ललितासन या राजलीलासन में आसीन या कुछ को खड़ी हुई दिखाया गया है। वे बैठी हों या खड़ीं, उनके अंग-प्रत्यंग संयम की सीमा नहीं तोड़ सके हैं। खजुराहो या अन्य स्थानों की भाँति उनके शरीर पर यौवन का उभार तो है, पर उन्माद नहीं है। उनके दर्शन से हमारा मन विकारों से नहीं, बल्कि भक्ति से भर उठता है। अपने पति की गोद में बैठी रहकर भी पद्मावती अपने साथ बैठे पुत्र के प्रति जिस वात्सल्य और मातृत्व की भावना को अभिव्यक्त करती है, वह अलौकिक रूप में न सही, पर लौकिक रूप में समाज को निश्चित ही प्राणवान् बनाती है।

इनमें से कुछ मूर्तियों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

चक्रेश्वरी

विभिन्न मन्दिरों और स्तम्भों के अतिरिक्त, चक्रेश्वरी[1] की दो मूर्तियाँ[2] स्थानीय साहु जैन संग्रहालय में भी प्रदर्शित हैं,[3] दोनों विंशतिभुजी हैं।[4] दोनों ही मूर्तियाँ (चित्र ९९ और १००) साजसज्जा और कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय बन पड़ी हैं। दोनों के आसनों पर तिथिरहित लेख हैं। कलागत विशेषताओं और लेखों की लिपि के आधार पर ये दोनों मूर्तियाँ नवमी-दशमी शताब्दी की प्रतीत होती हैं।[5] दोनों का वाहन गरुड और परिकर विस्तृत है। दोनों के ऊपर तीर्थंकर की पद्मासन लघु आकृति अंकित है। दोनों के गरुड़ों की सशक्त उड़ान और ओजस्वी आकृति मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को क्षण-भर में ही नाप लेने की ठान बैठी है। स्वयं देवियाँ जहाँ एक ओर सौन्दर्य और गरिमा की साक्षात् मूर्ति बनी हैं वहाँ दूसरी ओर वे प्रचण्ड तेज और विश्व-नियामक शक्ति की अवतार प्रतीत होती हैं। उनके हाथों के गतिमान् चक्र मानो सम्पूर्ण विश्व से पापियों का दमन करके ही चैन लेंगे। जबकि अक्षमाला के साथ अभयमुद्रा में दिखने-वाले एक देवी के हाथ मानो समग्र बराबर विश्व के सन्ताप और दारिद्रय को क्षण-भर में ही शान्ति कर देंगे।

चक्रेश्वरी की अनुपम मूर्ति

देवगढ़ में चक्रेश्वरी का अंकन अनेक स्थानों पर हुआ है पर बारहवें मन्दिर के अन्तराल की बायीं मढ़ियाँ से लाकर साहु जैन संग्रहालय में स्थापित की गयी मूर्ति[6] में जो अलौकिक भाव-भंगिमा समाविष्ट है वह देवगढ़ में ही नहीं, कदाचित् सम्पूर्ण भारतीय कला में दुर्लभ है। चार फ़ुट ऊँचे एवं दो फ़ुट छह इंच चौड़े शिलाफलक पर उत्कीर्ण दो फ़ुट ग्यारह इंच ऊँची और एक फ़ुट ग्यारह इंच चौड़ी यह गरुडवाहिनी देवी अपने एक हाथ में अक्षमाला, एक में शंख और सात में चक्र धारण किये हैं। उसके शेष ११ हाथ खण्डित हो गये हैं। गरुड़ की आकृति पंखधारी मनुष्य के समान है। उसका श्मश्रुयुक्त तेजस्वी मुखमण्डल, उसकी सशक्त उड़ान का परिणाम प्रतीत होता है। बायें हाथ और मस्तक द्वारा वह देवी को धारण कर रहा है। विभिन्न आभूषणों के अतिरिक्त उसका यज्ञोपवीत और सेनापति की सी टोपी उल्लेखनीय है। देवी के परिकर में ऊपर दायें लक्ष्मी और बायें सरस्वती तथा मालाधारी विद्याधर-युगल उल्लेखनीय हैं। संगीत-

---

१. दे.—आगे पद्मावती का विवरण, पृ. १८९ से १९३ तक। २. दे.—चित्र सं. ९९ और १००। ३. मं. सं. २ के सामने (पूर्व में) ध्वंसावशेषों में भी विंशतिभुजी चक्रेश्वरी की एक शिरहीन किन्तु ऐसी ही मनोज्ञ मूर्ति पड़ी है। ४. म. प्र. के देवास जिले के गन्धावल नामक स्थान में भी विंशतिभुजी गरुडासना चक्रेश्वरी की एक ऐसी ही मूर्ति उपलब्ध है। ५. इनकी तुलना मथुरा-पुरातत्त्व-संग्रहालय में प्रदर्शित चक्रेश्वरी की दशभुजी मूर्ति (सं. डी. ६) (९ वीं १० शती) से की जा सकती है। और भी द्रष्टव्य—नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी: मथुरा की मूर्तिकला, (मथुरा, १९६५), प. ३४ तथा आकृति ९३। ६. दे.—चित्र सं. ९९।

मण्डली द्वारा पूजित होते हुए तीन तीर्थंकर इस यक्षी के मस्तक पर विराजमान हैं। चक्रेश्वरी स्वयं भक्ति की अवतार-सी प्रतीत होती है। उसके आभूषण और वेशभूषा के कलात्मक अंकन दर्शक की दृष्टि को आकृष्ट किये बिना नहीं रहते।

चक्रेश्वरी की सुन्दर मूर्ति

साहु जैन संग्रहालय में ही स्थित एक अन्य शिलाफलक पर अंकित चक्रेश्वरी भी कला का श्रेष्ठ निदर्शन है। ४ फी. ४ इंच ऊँचे और २ फी. ७ इंच चौड़े शिलाफलक पर उत्कीर्ण इस गरुडवाहिनी यक्षी[1] के सभी (बीस) हाथ सुरक्षित हैं, जिनमें चक्र, खड्ग, मुद्गर, त्रिशूल, धनुष आदि विविध आयुध दिखाये गये हैं। परिकर में दोनों ओर एक-एक चँवरधारिणी परिचारिका अंकित है। मस्तक पर पद्मासन तीर्थंकर को मालाधारी विद्याधरों द्वारा अर्चित दिखाया गया है। ऊपर के दोनों कोणों पर एक-एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्ति आलिखित हैं।

मं. सं. १९ की दशभुजी चक्रेश्वरी

मन्दिर संख्या १९ में स्थित चक्रेश्वरी मूर्ति का भी उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इस दशभुजी देवी के सभी हाथ खण्डित हो चुके हैं। उसका वाहन गरुड अपनी विशिष्ट मुखाकृति के कारण हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। परिकर आदि की दृष्टि से यह ऊपर वर्णित दोनों मूर्तियों से समानता रखती है।

मानस्तम्भ पर चक्रेश्वरी

स्तम्भ सं. ११ (चित्र ४५) पर पूर्वी ओर दशभुजी चक्रेश्वरी का मनोरम अंकन है (दे. चित्र १११)। इसके गरुड की सशक्त उड़ान दर्शनीय है।

अम्बिका

अम्बिका को हम मातृतत्त्व की देवी कहें तो अत्युक्ति न होगी। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन-देवी यह यक्षी कदाचित् देवगढ़ की भी अधिष्ठातृ देवी रही प्रतीत होती है, तभी तो उसकी मूर्तियों की संख्या यहाँ कई सौ है[2] और तभी तो वह केवल नेमिनाथ के साथ न दिखायी जाकर ऋषभनाथ[3] और पार्श्वनाथ[4] के साथ भी अंकित की गयी है।[5]

मं. सं. १२ की अम्बिका मूर्तियाँ

मन्दिर संख्या १२ के गर्भगृह में प्रवेश द्वार के दायें सात फ़ी. ऊँचे और तीन फ़ी. दो इंच चौड़े शिलाफलक पर निर्मित पाँच फ़ी. सात इंच ऊँची तथा दो फ़ी. नौ इंच चौड़ी अम्बिका की मूर्ति[6] अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इसका वाहन सिंह अपेक्षाकृत विशाल, सशक्त और स्वाभाविक बन पड़ा है। पार्श्व में खड़ा उसका एक बालक वस्त्राभूषणों से भव्यता के साथ अलंकृत दिखाया गया है। गोद में स्थित दूसरा बालक एक हाथ में आम्रफल धारण किये है और दूसरे से अपनी माँ के कर्णाभरण से खेल रहा है। यक्षी के आभूषण और वस्त्र आदि तो कलागत समृद्धि के द्योतक हैं ही, उसकी क्षीणकटि, भावपूर्ण मुद्रा आदि भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। पृष्ठभाग में आम्रगुच्छक भी सूक्ष्मता के साथ आलिखित है, जिसके ऊपर पद्मासन में एक तीर्थंकर (लघु आकृति) निर्मित है। इस लघु-तीर्थंकर आकृति के दोनों ओर मालाधारी विद्याधरों की सशक्त उड़ान भी दर्शनीय है।

इस मूर्ति के अतिरिक्त, इसी गर्भगृह में इस यक्षी की तीन मूर्तियाँ और भी हैं। कला की दृष्टि से ये भी प्रथम श्रेणी में रखी जायेंगी। इन तीनों की टोपियाँ, उक्त अम्बिका की टोपी से, जो सेनापति की टोपी से मिलती-जुलती है,

---

१. दे.—चित्र सं. १००। २. कुछ उल्लेखनीय-अम्बिका मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. १०३ से १०५ तक तथा १०६। ३. दे.—मं. सं. ४ की भीतरी पश्चिमी दीवार में जड़ी हुई एवं चित्र सं. ७५। ४. दे. मं. सं. १२ के महामण्डप में (बायें से दायें) तीसरी मूर्ति तथा चित्र सं. ६३। ५. ऋषभनाथ के साथ अम्बिका का अंकन कम से कम छठवीं शती में भी होता था। अकोटा में प्राप्त मूर्ति-राशि में से एक काँस्य-प्रतिमा ऐसी ही है। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—डॉ. उ. प्रे. शाह : स्टडीज इन जैन आर्ट; (बनारस, १९५५) पृ. १६। ६. दे.—चित्र सं. १०५।

भिन्न हैं। इन्होंने उक्त यक्षी के समान चूड़ियाँ न पहनकर कंकड़ पहन रखे हैं। इनके अधोवस्त्र (साड़ियाँ) विशेष आकर्षण की वस्तु हैं।

अम्बिका यक्षी की अन्य मूर्तियाँ

इस यक्षी की सैकड़ों मूर्तियाँ जैन चहारदीवारी[1], विभिन्न मन्दिरों में तथा उनके द्वारपक्षों पर और स्तम्भों आदि पर देखी जा सकती हैं।[2] इसकी बहुत सी मूर्तियाँ द्वितीय कोट के प्रवेश द्वार से मन्दिरों की ओर जानेवाले मार्ग के दोनों ओर प्रस्तर-निर्मित छोटे-छोटे चबूतरों पर भी दर्शनीय हैं। कुछ मूर्तियाँ साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

पद्मावती

देवगढ़ के कलाकार ने, यक्षियों में अम्बिका के पश्चात् पद्मावती की ही मूर्तियाँ सर्वाधिक उत्कीर्ण की हैं। यहाँ उनकी भी संख्या कई सौ तक पहुँच गयी है।[3] ये सभी मूर्तियाँ दो भागों में रखी जा सकती हैं : एक वे जिनमें केवल पद्मावती गोद में एक बालक को लिये हुए बैठी होती हैं[4] और दूसरी वे जिनमें वह अपने पति के वाम-पार्श्व में या गोद में बैठी होती हैं[5] तथा उन दोनों की गोद में या उनमें से किसी एक की गोद में एक-एक बालक होता है। कभी-कभी इन दोनों प्रकार[6] की मूर्तियों में वे खड़े भी दिखाये जाते हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कलाकार ने धरणेन्द्र-पद्मावती के मूर्त्यंकन में अत्यधिक स्वेच्छाचारिता से काम लिया है। उसने धरणेन्द्र-पद्मावती के शास्त्रीय स्वरूप को पूर्ण रूप से तिलाजलि देकर उसका एक सर्वथा नवीन परन्तु अत्यन्त व्यावहारिक रूप गढ़ डाला है। धरणेन्द्र-पद्मावती के इस रूप-परिवर्तन ने अनेक कला-मर्मज्ञों और इतिहासकारों को भी भ्रम में डाल दिया है। उन्होंने इसके समीकरण में कुछ विचित्र कल्पनाओं का आश्रय लिया है। श्री दयाराम साहनी ने इन्हें कल्पद्रुम के नीचे स्थित सुषमा-सुषमा काल (अवसर्पिणी काल का प्रथम भाग) का सुखी-युगल माना है, पर यह निरी कल्पना है क्योंकि इस प्रकार की मूर्तियाँ बनाने का न तो कोई विधान है और न परम्परा। श्री साहनी का ध्यान उस वृक्ष के शिखर पर अंकित तीर्थंकर-मूर्ति की ओर गया प्रतीत नहीं होता, अन्यथा उसके रहते हुए एक साधारण वृक्ष को वे कल्पवृक्ष की संज्ञा न देते। डॉ. स्टैला क्रेमरिश ने, चाँदपुर (ललितपुर) में उपलब्ध एक ऐसे ही युगल को गोमेध और अम्बिका माना है।[7] उन्होंने देव और देवी दोनों की गोद में एक-एक बालक को देखकर यह समीकरण कर दिया है। परन्तु यह विचारणीय है कि अम्बिका के दो बालक (कभी-कभी एक ही) केवल उसी के साथ दिखाये जाते हैं और वह स्वयं किसी अन्य देव के साथ बैठी हुई कभी नहीं दिखायी जाती। इसका कारण यह है कि तेईसवें तीर्थंकर के यक्ष-यक्षी धरणेन्द्र-पद्मावती परस्पर पति-पत्नी भी थे, जबकि अम्बिका और गोमेध (पार्श्व) नहीं। अतः यहाँ एक सम्मान्य और उत्तरदायित्वपूर्ण देवी को, विशेष रूप से साक्षात् तीर्थंकर के चरणों में (वृक्ष पर तीर्थंकर की तीन मूर्तियाँ) एक पराये देव के साथ सटकर बैठा हुआ दिखाया जाना भारतीय संस्कृति और परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है। डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह के अनुसार यह युगल-मूर्ति तीर्थंकर के माता-पिता की होनी चाहिए।[8] यह कल्पना उस समय हास्यास्पद लगती है जब पति और पत्नी दोनों की गोद में एक-एक बालक होता है जबकि तीर्थंकर अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान होते हैं। डॉ. क्लॉज ब्रून ने इस युगल का सम्बन्ध संकोच से अम्बिका और गोमेध से जोड़ा है,[9] पर वे इसके लिए कोई तर्क नहीं दे सके हैं। डॉ. उर्मिला अग्रवाल ने भी कदाचित् डॉ. स्टैला क्रेमरिश के अनुकरण पर इस युगल को गोमेध-युगल कहा है।[10] डॉ. हीरालाल जैन ने नैगमेश की मूर्तियों के प्रसंग में देवगढ़ की इस युगल-मूर्ति पर भी उल्लेखनीय विचार दिया है।[11] किन्तु नैगमेश से इसका सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं, क्योंकि उसकी कल्पना केवल श्वेताम्बर

---

१. कुछ उल्लेखनीय अम्बिका मूर्तियों के लिए देखिए—चित्र सं. १०३-१०५ तथा १०६। २. एक सुन्दर अम्बिका मूर्ति के लिए दे.—चित्र सं. १०४। ३. कुछ उल्लेखनीय पद्मावती-मूर्तियों के लिए देखिए—चित्र सं. १०६ से ११० तक। ४. दे.—चित्र सं. १०६। ५. दे.—चित्र सं. १०७ से ११० तक। ६. एनुअल प्रो. रि., भाग दो, (लाहौर, १९१८ ई.), पृ. ९। ७. दी हिन्दू टेम्पल, जिल्द दो, (कलकत्ता, १९४६), पृ. ३९७, फलक ५४। ८. स्टडीज इन जैन आर्ट, (बनारस, १९५५), पृ. २१, फलक १७, आकृति ४५-४६। ९. सन् १९५९ के देवगढ़-मेला में पढ़े गये एक भाषण से, (पृ. ५)। १०. खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देयर सिग्नी फिकन्स, (दिल्ली, १९६४), पृ. ११०, आकृति ८२। ११. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, (भोपाल, १९६२), पृ. ३६१, आकृति ३३-३४।

जैन साहित्य में ही है। और देवगढ़ में केवल दिगम्बर जैन-धर्म का ही प्रचार रहा है। वास्तव में ये मूर्तियाँ[1] धरणेन्द्र-पद्मावती की ही हैं। क्योंकि—(१) देवगढ़, खजुराहो और चाँदपुर आदि स्थानों पर प्राप्त ऐसी अनेक मूर्तियों पर सर्प की फणावलि द्रष्टव्य है, (२) इनके पृष्ठवर्ती वृक्ष के शिखर पर अंकित तीर्थंकर के मस्तक पर भी प्रायः फणावलि देखी गयी है, (३) गोद में स्थित बालक से देवी की पुत्रदामिनी शक्ति का बोध होता है, भैरव-पद्मावती-कल्प में उसे बन्ध्या को भी पुत्र देनेवाली कहा गया है।[2]

धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्तियाँ

धरणेन्द्र की मूर्तियाँ अधिकांशतः पद्मावती के साथ ही प्रदर्शित की गयी हैं। यह राजलीलासन में आसीन होता है और उसकी बायीं गोद में पद्मावती आसीन होती है। इसका बायाँ हाथ कभी-कभी पद्मावती के दायें या बायें कन्धे पर स्थित रहता है। दोनों के एक-एक हाथ में नारिकेल या मातुलिंग होता है और कभी-कभी दोनों की या केवल पद्मावती की गोद में एक बालक होता है।

मं. सं. २४ में जड़ी मूर्तियाँ : (धरणेन्द्र-पद्मावती)

मं. सं. २४ की पश्चिमी बहिर्भित्ति में जड़े हुए एक शिलाफलक पर यह युगल[3] अत्यन्त भव्यता से आलिखित है। दोनों की परस्पर स्नेहसिक्त किन्तु इष्टदेव के प्रति समर्पण की मुद्रा और भव्य वेश-भूषा दर्शनीय बन पड़ी हैं। दोनों की गोद में बालक और दायें हाथ में नारिकेल हैं। पृष्ठभाग में आलिखित वृक्ष पर फणावलि-सहित पार्श्वनाथ का अंकन है। इसी मन्दिर के गर्भगृह में स्थित इस युगल की एक अन्य मूर्ति[4] भी इसलिए उल्लेखनीय है कि धरणेन्द्र और पद्मावती दोनों की गोद में आसीन बालक अधोवस्त्र (धोती) पहने हैं। इस युगल की इन दोनों मूर्तियों को देवगढ़ की ऐसी शताधिक मूर्तियों का प्रतिनिधि माना जा सकता है।[5]

पद्मावती की स्वतन्त्र मूर्ति

पद्मावती की स्वतन्त्र (धरणेन्द्र के बिना) मूर्तियाँ भी देवगढ़ में बहुत हैं। साहु जैन संग्रहालय में स्थित उसकी एक मूर्ति[6] २ फ़ी. ५ इंच ऊँचे और २ फ़ी. २ इंच चौड़े शिलाफलक[7] पर अंकित है। उसका वाहन सिंह और गोद में बैठा बालक सदा की भाँति उपस्थित हैं। वह ललितासन में दर्शित है। वह बायें हाथ से बालक को सम्हाले है और दायें हाथ में वज्र धारण किये है। भाव-भंगिमा और वेशभूषा उच्चकोटि की है। आसन पर दोनों ओर एक-एक स्त्री-आकृति, उसके ऊपर एक-एक चमरधारी पुरुषाकृति और उसके भी ऊपर उड़ान भरता हुआ मालाधारी विद्याधर-युगल आलिखित हैं। इन सबके ऊपर, मध्य में पार्श्वनाथ और उनके दोनों ओर एक-एक कायोत्सर्गासन और एक-एक पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। पद्मावती की यह मूर्ति इस सम्पूर्ण संयोजना के परिप्रेक्ष्य में इतनी भव्य बन पड़ी है कि उसे भारतीय कला के कतिपय निदर्शनों में से एक मानना होगा।

चौबीस यक्षियों की मूर्तियाँ

इन सबके अतिरिक्त देवगढ़ में **मं. सं. १२** की बाह्यभित्तियों पर यक्षी मूर्तियों के अलग-अलग २४ शिलाफलक[8] जड़े हुए हैं। प्रत्येक शिलाफलक पर ऊपर तीर्थंकर की पद्मासन मूर्ति और नीचे यक्षी की खड़ी मूर्ति अंकित है। कुछ के

---

१. ऐसी कुछ मूर्तियों के लिए द्रष्टव्य चित्र सं. १०९ से ११० तक। २. मल्लिषेण : पद्मावती दण्डकः के. वी. अभ्यंकर सम्पादित, (अहमदाबाद, १९३७) परिशिष्ट ५, पृ. ३९।

लक्ष्मी सौभाग्यकरा जगत्सुखकरा वन्ध्यापि पुत्रायिता, नानारोगविनाशिनी अघहरा (त्रि) कृपाजो रक्षिका।
रङ्कानां धनदायिका सुफलदा वाञ्छार्थि-चिन्तामणिः, त्रैलोक्याधिपतिर्भवार्णवत्राता पद्मावती पातु वः ॥१२॥

३. दे.—चित्र सं. ११०। ४. दे.—चित्र सं. १०७। ५. इस युगल को अन्य आकर्षक मूर्तियों के लिए द्रष्टव्य-चित्र सं. १०८ तथा १०९। ६. दे.—चित्र सं. १०६। ७. जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, यह प्रतिमा मं. सं. १२ के अन्तराल की दायीं मढ़ियाँ से यहाँ स्थानान्तरित की गयी है। ८. बहिर्भित्तियों पर इसी ढंग से जड़ी हुई मूर्तियों वाले मन्दिरों में—'पट्टदकल' के 'संगमेश्वर मन्दिर' और 'मल्लिकार्जुन-मन्दिर' उल्लेखनीय हैं। देखिए—लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर, पृ. २१३ और २१५, आकृति १९३ और १९९। इसी परम्परा में और भी देखिए—'पट्टदकल' में ही 'विरूपाक्ष' के दो मन्दिर, जिनका निर्माण क्रमशः ६८० ई. और ७४० ई. में हुआ था। द्रष्टव्य-आर्केओलाजी इन इण्डिया, (दिल्ली, १९५०), फलक २९ तथा ३०।

वाहन भी प्रदर्शित है, जिनपर देवी को आसीन दिखाया गया है या जो देवी के निकट ही कहीं आलिखित हैं। यक्षी के नीचे उसका नाम और कभी-कभी तीर्थंकर के नीचे उसका नाम उत्कीर्ण है। इनमें से कुछ अस्पष्ट हो जाने से पढ़े नहीं जा सकते, और जो पढ़े जा सकते हैं, वे क्रमशः अग्रलिखित हैं—

१. चक्रेश्वरी,[1] ४. भगवती सरस्वती, ६. सुलोचना,[2] ८. सुमालिनी,[3] ९. बहुरूपिणी, १०. श्रीयदेवी, ११. वाहिनी, १२. अभोगरोहिनी, १३. सुलक्षणा, १४. अनन्तवीर्या, १५. सुरक्षिता, १६. श्रीयदेवी, (अनन्तवीर्या), (मयूर-वाहिनी), १७. अरकरमी, १८. तारादेवी, १९. भीमदेवी, २०. (नामरहित), २१. (नामरहित), २२. अम्बिका, २३. पद्मावती २४. सिद्धायिका।

इन यक्षी मूर्तियों का महत्त्व

यक्षियों की यह सूची कई कारणों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रथम कारण यह है कि यक्षियों की मूर्तियों के साथ उनके नाम भी उत्कीर्ण मिलनेवाले केवल दो स्थानों में से यह एक है, दूसरा स्थान सतना ज़िले के पतौरा ग्राम के निकट पतियानदाई-मन्दिर है,[4] जिसमें प्राप्त हुई अम्बिका-मूर्ति[5] के साथ अंकित यक्षी मूर्तियों के नाम भी उत्कीर्ण हैं। इन नामों से यक्षियों की विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त नामावली से तुलना करने पर कई तथ्य सामने आते हैं। यह नामावली प्रस्तुत करनेवाले प्रतिनिधि ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति, प्रतिष्ठासारोद्धार, प्रतिष्ठातिलक और अपराजितपृच्छा आदि ग्रन्थों की तथा यहाँ उत्कीर्ण नामावली में यक्षियों के नामों, क्रम, वाहनों, हाथों की संख्या और आयुधों आदि में अत्यधिक विषमता है। इस विषमता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूर्तियों के कलाकार के सामने कोई ऐसा ग्रन्थ रहा होगा, जो अब अप्राप्त है। दूसरी ओर यह सन्देह भी होता है कि उक्त कलाकार पर्याप्त शिक्षित और सावधान नहीं था, क्योंकि उसने कुछ नामों को अशुद्ध उत्कीर्ण किया है और कुछ को दो-दो बार उत्कीर्ण कर दिया है। नामों के अक्रम से पाये जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि कलाकार द्वारा तैयार किये जाकर एकत्र रखे हुए मूर्ति-फलकों को स्थपति ने ही अक्रम से जड़ दिया हो।

(स) विद्या-देवियाँ

देवगढ़ के कलाकार ने विद्यादेवियों[6] के अंकन में भी पर्याप्त अभिरुचि दिखायी है।

महाकाली : महाकाली नामक आठवी विद्यादेवी को तो उसने तीन बार अंकित किया है। मं. सं. पाँच के पूर्वी द्वार के ऊपर दायें[7] इस महाकाली[8] नामक आठवीं, नरवाहनी विद्यादेवी का अंकन है। उसके तीन हाथों में वज्र, घण्टिका और फल विद्यमान है जबकि चौथा अभयमुद्रा में है।

गौरी : इसी (मं. सं. ५) द्वार के बायें गौरी[9] नामक नौवी विद्यादेवी का आलेखन है, जिसके हाथों में कमल,

---

१. ये अंक तीर्थंकरों के क्रमांक हैं। २. दे.—चित्र सं. १०१। ३. दे.—चित्र सं. १०२। ४. इस मन्दिर और उसमें प्राप्त यक्षी मूर्तियों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—पं. गोपीलाल अमर 'पतियानदाई : एक गुप्तकालीन जैनमन्दिर', अनेकान्त, वर्ष १९, किरण ६, पृ. ३४०-४६। ५. यह मूर्ति अब प्रयाग-संग्रहालय में प्रदर्शित है।

६. (अ) विद्या प्रिया. षोडश दृग्विशुद्धि-पुरोगमार्हन्त्यकृदर्थरागा। यथायथं साधु निवेश्य विद्या-देवीर्यजे दुर्जयदोश्चतुष्काः॥
—पं. आशाधर : प्र. सा., ३-३२।

(ब) स्फुरितकरचतुष्कास्तीर्थकृन्नामपुण्यावहबिदितविशिष्टद्व्यष्टसद्भावनोत्थाः। प्रकटितजिनमार्गाः संहृतैकान्तमार्गाः, विबुध-विनुत-विद्यादेवताः व्याहरामः॥
—पं. नेमिचन्द्रदेव : प्रतिष्ठातिलक, (बम्बई, १९१४), पृ. २८३।

७. दे.—चित्र सं. ६।

८. (अ) महाकाली तमालाभा पुरुषवाहनस्थिता। अक्षसूत्रं तथा वज्रं धत्तेऽभयं च घण्टिकाम्॥
—डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल : वास्तुशास्त्र, जिल्द २, संस्कृत पाठ, (लखनऊ, मुद्रणवर्ष नहीं दिया), पृ. २७५।

(ब) चक्रेधिकं साधुषु यः समाधिं तं सेवमाना शरमाधिरूढा। श्यामा धनुः खड्गफलास्त्रहस्ता। बलिं महाकालि जुषस्व शान्त्यै॥ —पं. आशाधर : प्र. सा. ३-४४।

(स) भक्त्यान्विता साधुसमाधि रूप सद्भावनासिद्धजिनाङ्घ्रि पद्मे। चापं फलं बाणमसिं बभार या तां महाकालिमहं यजामि॥
—पं. नेमिचन्द्रदेव : प्र. ति., पृ. २८६-८७।

९. (क) गौरी कनकवर्णाभा गोधावाहनसंस्थिता। वरदमुसलाक्षाब्जसमन्वितचतुष्करा॥ —डॉ. द्वि. ना. शुक्ल : वही, पृ. २७५।

(ख) तपस्विनां संयमबाधवर्जं प्रसिद्ध्यधत्तात्मवदापदो यः। गोधागता हेमरुगब्जहस्ता गौरि प्रमोदस्व तदर्धनाशैः॥
—पं. आशाधर : प्र. सा., ३-४५।

(ग) यस्तीर्थकृन्नाम बबन्ध वैयावृत्त्ये स्फुरद्भावनयाग्रपुण्यम्। तं सेवमानामरविन्दहस्तामाराधयामो वरगौरि-देवीम्॥
—पं. नेमिचन्द्रदेव : वही, पृ. २८७।

अक्षमाला, कुम्भ और मुसल हैं। उसका वाहन गोधा भी दिखाई देता है।[1]

महाकाली : मन्दिर संख्या ९ के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर मध्य में महाकाली विद्यादेवी उत्कीर्ण हैं। उसके ऊपर के दायें हाथ में वज्र, बायें में घण्टिका तथा नीचे दायाँ हाथ अभयमुद्रा में और बायें में अक्षमाला है। उसका वाहन नर भी अंकित हुआ है। इसी देवी का एक और अंकन मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर (बायें) दर्शनीय है, वहाँ इसका एक हाथ अभयमुद्रा में और दूसरा कुछ खण्डित हो गया है। उसके शेष दो हाथों में वज्र और घण्टिका हैं। वाहन नर स्पष्ट देखा जा सकता है।

महामानसी : मन्दिर संख्या पाँच के पश्चिमी द्वार के सिरदल पर (बायें)[2] महामानसी नामक सोलहवीं विद्यादेवी अंकित हुई है। उसके ऊपर के दायें हाथ में कृपाण और बायें में खेटक (ढाल) एवं नीचे के बायें में कलश है तथा दायाँ वरदमुद्रा में है, और उसके दायें सिंह बैठा है।

(ड) प्रतीकात्मक देव-देवियाँ

अन्य स्थानों की भाँति देवगढ़ में भी कुछ ऐसे देव-देवियों की भी मूर्तियाँ गढ़ी गयी हैं, जिन्हें हम प्रतीकात्मक कह सकते हैं। उदाहरण के लिए लक्ष्मी को सम्पत्ति का और सरस्वती को श्रुतदेवता का प्रतीक कहा जा सकता है।[3]

(अ) सरस्वती की मूर्तियाँ

१. मं. सं. एक के पीछे की सरस्वती मूर्ति : मं. सं. एक के पृष्ठभाग में बायें से दायें (उत्तर से दक्षिण) जो सातवीं मूर्ति जड़ी है, उसके बायें पार्श्व में उत्कीर्ण की गयी मूर्ति सरस्वती (खड़ी) है[5]। उसके ऊपर के हाथों में अक्षमाला और कमल हैं तथा नीचे के बायें में पुस्तक और दायाँ अभयमुद्रा में है।[6] मं. सं. ११ के दूसरे खण्ड के प्रवेश द्वार

---

१. दे.—चित्र सं. १८ और १९।

२. (क) सिंहासन-समासीना धवला महामानसी। वरासि-खेटकैर्युक्ता कुण्ड्या चैव चतुर्भुजा॥
—डॉ. द्वि. ना. शुक्ल : वही, पृ. २७५।

(ख) योधात् सधर्मस्वितिवत्सलत्वं रक्ता महामानसि तत्प्रणामे।
रक्ता महाहंसगतेक्षसूत्र-वराङ्कुशास्त्रसहितां यजे त्वाम्॥—पं. आशाधर : वही, ३-५२।

(ग) सधार्मिकेष्वाहितवत्सलत्वमाराधयन्तीं बिभुमक्षमालाम्। मालां वरं चाङ्कुशमादधानां मान्ये महामानसि मानये त्वाम्॥
—पं. नेमिचन्द्रदेव : वही, पृ. २७६।

३. (अ) धीदायिनि नमस्तुभ्यं ज्ञानरूपे नमोऽस्तु ते। सुरार्चिते नमस्तुभ्यं भुवनेश्वरि ते नमः॥
—जिनप्रभसूरि : भैरव पद्मावतीकल्प (शारदा स्तवन), (अहमदाबाद, १९३७), परिशिष्ट १५, श्लोक ६।

(ब) 'देवि श्रीश्रुतदेवते भगवति त्वत्पादपङ्केरुहद्वन्द्वे यामि शिलीमुखत्वमपरं भक्त्या मया प्रार्थ्यते।
मातश्चेतसि तिष्ठ मे जिनमुखोद्भूते सदा त्राहि माम्। दृग्दानेन मयि प्रसीद भवतीं सम्पूजयामोऽधुना॥'
—देवशास्त्र गुरु पूजा : बृहज्जिनवाणी संग्रह, पं. पन्नालाल बाकलीवाल सम्पादित, (कलकत्ता, १९३७), पृ. ८३-८४।

४. यहाँ मं. सं. १२ की बाह्यभित्तियों पर जो चौबीसी यक्षियों का अंकन हुआ है, उनमें से चौथी (अनन्तनाथ की) यक्षी का नाम भी 'सरस्वती' उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त जयसेन प्रतिष्ठा पाठ (शोलापुर, वी. सं. २४५२) के अनुसार श्रीआदि १० देवियों में 'दशवीं' देवी का नाम भी 'सरस्वती' (श्लोक सं. ७५२) दिया गया है। ५. दे.—चित्र सं. ७६। ६. (अ) यह देवी वीणाधारिणी न होने पर भी सरस्वती ही है, जैसा कि निम्नलिखित लक्षण से स्पष्ट है :—

'अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी। त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता॥'
—मल्लिषेण : सरस्वतीकल्प : भैरवपद्मावतीकल्प, (अहमदाबाद, १९३७), परिशिष्ट ११, पृ. ६१।

(ब) मुनि कान्तिसागरजी को बिलहरी (म. प्र.) से प्राप्त हुई सरस्वती-मूर्ति भी ऐसी ही है। उन्होंने महाकोसल की मूर्तियों का परिचय देते हुए उल्लेख किया है कि इस ओर की सरस्वती-मूर्तियों में वीणा नहीं पायी जाती। —द्रष्टव्य—खण्डहरों का वैभव, (काशी, १९५९), पृ. ४०४। (स) इसी प्रकार की सरस्वती की एक खड़ी धातु मूर्ति, जो वीणा धारण नहीं किये है, केन्द्रीय संग्रहालय इन्दौर में भी सुरक्षित है। वहाँ इसका आकार ३ फ़ी. ४ इंच×८ इंच है। इसके दायें निचले वरदमुद्रावाले हाथ में अक्षमाला है तथा ऊपर के में सनाल कमल, बायें नीचे के में पुस्तक है जबकि ऊपरी हाथ की वस्तु अस्पष्ट है। —देखिए—प्रभाकर गोविन्द परांजपे : केन्द्रीय संग्रहालय इन्दौर की संक्षिप्त मार्गदर्शिका, (१९६१), पृ. ५ तथा फलक ७। (ड) सरस्वती की खड़ी, संगमरमर की अत्यन्त सुन्दर एक प्रतिमा बीकानेर में भी प्राप्त हुई है (जो आजकल न्यू एशियन एण्टिक्वेरियन म्यूज़ियम, दिल्ली में सुरक्षित है), वीणाधारिणी नहीं है। इसके दायें निचले हाथ में माला, ऊपर में सनाल कमल तथा बायें निचले हाथ में कलश और ऊपरवाले में पुस्तक प्रदर्शित हैं। पादपीठ पर इसका वाहन हंस आलिखित है। इसकी एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसके पादपीठ के दोनों पार्श्वों में एक-एक सेविका वीणा सम्हाले हुए प्रदर्शित है। इसके लिए और भी देखिए—आर्कओलाजी इन इण्डिया, (दिल्ली, १९५०), फलक ५७, चित्र (ब)। (इ) बानपुर (झाँसी) के सहस्रकूट-जिनालय में एक ऐसी सरस्वती आलिखित है, जिसके केवल दो हाथ हैं।

पर बायें आलिखित सरस्वती के हाथों में पुस्तक, वीणा और कलश हैं तथा एक हाथ अभयमुद्रा में है।

२. मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर सरस्वती : मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार[1] पर दायें जो सरस्वती उत्कीर्ण हैं, वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक, कलामय तथा भव्य बन पड़ी हैं।[2] इसके ऊपर के दायें हाथ में सूत्र से मजबूती के साथ लपेटी गयी पुस्तक और नीचेवाले में वीणा के तार हैं। ऊपर का बायाँ हाथ वीणा साधे हुए है और दायें में कलश विद्यमान है। इसके आभूषणों में पग में पायल, पाँव-पोश, करधनी, हथफूल, बघमा के चूरा, बाजूबन्द, मोहनमाला, बोरला,[3] कण्ठश्री, कर्णफूल और बैंदी तथा वस्त्र सूक्ष्मता के साथ निदर्शित हैं। इसकी केशराशि घुँघराली है और जूटा ऊपर को सम्हाल कर बांधा गया है।[4]

३. मं. सं. १९ में स्थित सरस्वती मूर्ति : मन्दिर संख्या १९ में सरस्वती[5] की एक विशाल (५'×२' २") खड़ी मूर्ति अवस्थित है। इस अत्यन्त सुन्दर देवी का शिर मूर्ति-भंजक द्वारा खण्डित कर दिया गया है, तथापि उसकी मनोहर वेश-भूषा और प्रभावोत्पादक अलंकरण आदि उसकी पूर्वस्थिति का आभास देने में पूरी तरह समर्थ हैं। इसके पादपीठ में हंस वाहन के रूप में दिखाया गया है। और उसके पार्श्व में एक दम्पति देवी की उपासना में रत है। उसके ऊपर दो-दो चौरीधारी सेविकाएँ सेवा में प्रवृत्त अंकित की गयी हैं। उनके भी ऊपर (दायें) अपने दायें हाथ में ग्रन्थ और बायें में माला धारण किये आचार्य और (बायें) पीछी-सहित आर्यिका उपासना में लीन हैं। उनके ऊपर दोनों ओर एक-एक कायोत्सर्गासन और उनके भी ऊपर एक-एक पद्मासन तीर्थंकर अंकित हैं। तत्पश्चात् दोनों ओर सशक्त उड़ान भरते हुए मालाधारी विद्याधरों के मध्य पद्मासन में एक तीर्थंकर का मनोरम आलेखन हुआ है। देवी के पायल, पायजेब, कटिबन्ध, भुजबन्ध, चन्द्रहार और स्तनहार के अतिरिक्त मुकुट भी भव्यता से निदर्शित है। इसके चारों हाथ खण्डित हो गये हैं।

४. सरस्वती की खड़ी मूर्ति : सरस्वती की एक खड़ी मूर्ति[6] मन्दिर संख्या १२ के अन्तराल की दायीं-मढ़िया में अभी-अभी, पास के किसी ध्वस्त अवशेषों में से लाकर स्थापित कर दी गयी है। चतुर्भुजी इस देवी के दायें ऊपरी हाथ में माला है और नीचे का वरदमुद्रा में है, बायें ऊपरी हाथ में सनाल कमल है जबकि नीचे का ताड़पत्रीय ग्रन्थ सम्हाले हुए हैं। इसके पायल, पायजेब, कटिबन्ध, कंगन, बोंहटा, आरसी, कण्ठश्री, स्तनहार, कर्णाभरण और मुकुट अत्यन्त सुन्दरता से निदर्शित हैं। पाठपीठ के ऊपर इसके पार्श्व में दोनों ओर दो-दो सेविकाएँ उत्कीर्ण हैं तथा ऊपर तीन पद्मासन तीर्थंकरों का अंकन है। देवी की मुखमुद्रा सौम्य और प्रसन्न है।

५. अन्य सरस्वती मूर्तियाँ : सरस्वती के उक्त मूल्यांकनों के अतिरिक्त यहाँ के साहु संग्रहालय में विद्यमान विंशतिभुजी चक्रेश्वरी की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति के ऊपरी भाग में (बायें) सरस्वती की भी एक मनोज्ञ और नयनाभिराम मूर्ति अलिखित है।[7] इसी प्रकार यहाँ के मन्दिर संख्या ११ और ३१ (दे. चित्र ३५) के प्रवेश-द्वारों पर भी सरस्वती की सुन्दर मूर्तियाँ अंकित हुई हैं।

(ब) लक्ष्मी

लक्ष्मी,[8] धन-धान्य आदि सर्व-प्रदात्री देवी मानी गयी है।[9] प्राचीनकाल से ही इसकी उपासना और मान्यता

यद्यपि वह वीणा-धारिणी है किन्तु उसका वाहन और पुस्तक अदृश्य है। (ई) राजनापुर खिनखिनी (अकोला) से प्राप्त सरस्वती की एक धातु-मूर्ति सम्प्रति नागपुर के संग्रहालय में प्रदर्शित है। इसके केवल दो हाथ हैं। वह बायें हाथ में पोथी और दायें में वर्तिका धारण किये है। वह ललितासन में कमलासीन है। उसके शरीर पर कोई आभूषण नहीं दिखाया गया है। उपर्युक्त अंकनों के परिप्रेक्ष्य में यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कलाकार 'जैन वास्तुशास्त्र और मूर्ति विज्ञान' की रक्षा करते हुए, सामयिक परिवर्तन करते गये हैं।

१. प्रवेश-द्वारों पर सरस्वती की मूर्ति अंकित करने की परम्परा देवगढ़ में ही थी हो (दे. —मं. सं. १२ के अतिरिक्त ११ और ३१ के प्रवेश-द्वार) निकटवर्ती कलाकेन्द्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ा था। देखिए—बानपुर के सहस्रकूट-जिनालय का उत्तरी प्रवेश-द्वार। २. दे.—चित्र स. १८ और २०। ३. एक प्रकार का मारवाड़ी आभूषण। ४. बुन्देलखण्ड के शिल्पी की रूपसज्जा और अलंकरण-चारुता को प्रदर्शित करने वाली ऐसी ही एक प्रतिमा, अहार (टीकमगढ़) शान्तिनाथ संग्रहालय में सुरक्षित है। वह ललितासन में आसीन है। चतुर्भुजी है। उसके दायें ऊपरी हाथ में ग्रन्थ, नीचे में कलश तथा बायें ऊपरी में सनाल कमल है जबकि नीचे का खण्डित हो गया है। ५. दे.—चित्र सं. ९६। ६. दे.—चित्र सं. ९५। ७. दे.—चित्र स. ९९। ८. इसके विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए देखिए—डॉ. राय गोविन्दचन्द्र : प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, (वाराणसी, १९६४ ई.), सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध। ९. (अ) भोज : समरांगण सूत्रधार, म. म. टी. गणपति शास्त्री सम्पादित, (बड़ौदा, १९२४ ई.), खण्ड एक, प. १२२. ८। (ब) प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, पृ. ३७ तथा ११४।

प्रमुख देवियों में होती आयी है। कला में इसका अंकन बहुत प्राचीनकाल से प्राप्त होता है। साँची, भरहुत, मथुरा, कौशाम्बी, भाजा, बसाढ़ (वैशाली), अमरावती, देवगढ़, बेसनगर, राजघाट, एलौरा प्रभृति अनेक प्राचीन कला-केन्द्रों में लक्ष्मी के मनोरम अंकन उपलब्ध हुए हैं।[१] विदेशों में भी लक्ष्मी से सम्बन्धित मूर्तियों तथा मन्दिरों का निर्माण हुआ।[२] इससे निष्कर्ष निकलता है कि सुदूर पूर्व तक इसकी पूजा का प्रचार हुआ था।

उपनिषद्,[३] पुराणों,[४] साहित्यिक ग्रन्थों,[५] अभिलेखों[६] और मूर्ति-विज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों[७] में लक्ष्मी के मूर्ति-निर्माण-विधान का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। किन्तु उनमें विविधता दिखाई पड़ती है।

देवगढ़ में उपलब्ध लक्ष्मी-मूर्तियाँ

लक्ष्मी[९] की मूर्तियाँ[१०] देवगढ़ में कुछ ही स्थानों पर प्राप्त हुई हैं।[११] उनमें से मन्दिर संख्या १२ के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर (बायें) उत्कीर्ण मूर्ति (चित्र सं. १९) बहुत ही मनोरम और महत्त्वपूर्ण है। प्रसन्नमुख इस देवी का आलेखन वेषभूषा, रत्नाभरण आदि की दृष्टि से भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। चतुर्भुजी इस देवी के ऊपर के दायें हाथ में सनाल कमल है जबकि नीचे का वरदमुद्रा में है। इसका बायाँ ऊपरी हाथ खण्डित है और नीचेवाले में सुन्दर कमल है। सुन्दर वस्त्रों के अतिरिक्त इसके पायल, पाँवपोश, कटिबन्ध, चूड़ियाँ, भुजबन्ध, चन्द्रहार, एकावली, स्तनहार, कण्ठश्री, कर्णकुण्डल और रत्नजटित मुकुट दर्शनीय बन पड़े हैं। वरदमुद्रा में स्थित उसके दायें हाथ से मानो भक्त आशान्वित हो उठते हैं। जैसा भाव हाथ की मुद्रा से प्रदर्शित किया गया है वैसा ही भाव मुख पर भी कलाकार ने उत्पन्न किया है, अंगलावण्य भी उसीके अनुरूप प्रदर्शित है।

(स) नवग्रह

नवग्रहों[१२] का अंकन भारतीय कला में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। देवगढ़ में इनका आलेखन मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर[१३] तो हुआ ही है, मूर्तिफलकों[१४] पर भी प्राप्त होता है। ये कभी खड़े[१५] और कभी बैठे[१६] अंकित किये गये

---

१. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : भारतीय साहित्य और कला में लक्ष्मी : त्रिपथगा, (नवम्बर, १९५५), पृ. २५-२६। २. विदेशों में विद्यमान लक्ष्मी-मूर्तियों और मन्दिरों के विवरण के लिए देखिए—(अ) डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल : लम्पसकस से प्राप्त भारत लक्ष्मी की मूर्ति : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, (वैशाख-माघ, २००० विक्रम सं., पृ. ३९-४२। (ब) हेनरिक जिम्मर : दी आर्ट आफ़ इण्डियन एशिया, (न्यूयार्क, १९५५), भाग दो, फलक ५६४ बी.। (स) भिक्षु चिम्मनलाल : जब शिवजी ने जापान को चीन के हमले से बचाया : धर्मयुग (१२ फरवरी, १९६१ ई.), पृ. ९ पर मुद्रित लक्ष्मी की मूर्ति। ३. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् : ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, (बम्बई, १९२५ ई.), १, २८-२९। ४. दे.—डॉ. राय गोविन्दचन्द्र : पुराणों में लक्ष्मी का स्वरूप : प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, पृ. ३३-५७। ५. दे.- (अ) प्राचीन बौद्ध तथा जैन साहित्य में लक्ष्मी का स्वरूप : वही, पृ. २९-३२। (ब) प्राचीन संस्कृत साहित्य में लक्ष्मी का स्वरूप : वही, पृ. ५८-७५। ६. दे.—(अ) भारतीय मुद्राओं और मोहरों पर तथा अभिलेखों में लक्ष्मी तथा श्री : वही, पृ. ७६-७८। (ब) भारतीय अभिलेखों में लक्ष्मी : वही, पृ. ८६-९१। ७. (१) भोज : समरांगणसूत्रधार, खण्ड १, पृ. ४७-२१८। (२) पी. के. आचार्य : मानसार आन आर्किटेक्चर एण्ड स्कल्पचर (लन्दन, १९३२), परिवार विधान अध्याय ३२-७२ (पृ. १९७), तथा अध्याय ५४, १९-३१ (पृ. ३५६-५७) (३) सोमेश्वर देव : मानसोल्लास, (बड़ौदा, १९३९ ई.) प्रथम प्रकरण ७७-९७। (४) श्रीकुमार : शिल्परत्नम् : के. साम्बशिव शास्त्री सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, १९२९ ई.), पृ. १४३-४४। (५) टी. ए. गोपीनाथ राव : एलीमेन्ट्स आफ़ हिन्दू आइकोनोग्राफी, प्रथम खण्ड, (मद्रास, १९१४ ई.) पृ. २३५-३७। ८. कभी इसे द्विभुजी और कभी चतुर्भुजी कहा गया है। कहीं-कहीं इसकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ निर्माण करने के विधान हैं जबकि अन्यत्र उसकी मूर्ति, विष्णु के पार्श्व में उत्कीर्ण करने के उल्लेख मिलते हैं। दे.—पी. के. आचार्य : मानसार आन आर्किटेक्चर एण्ड स्कल्पचर, पृ. ३५६-५७। इसके वर्ण, आसन तथा हस्तस्थित-वस्तुओं के सम्बन्ध में भी विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दे.—मत्स्य महापुराणम् (पूना, १९०७ ई.) अध्याय २६०, पद्य ४०-५०। ९. (अ) जैन दर्शन में इस नाम की एक भवनवासी कुमारी देवी का उल्लेख मिलता है—"तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः। दे.—आ. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, पं. पन्नालाल (साहित्याचार्य) सम्पादित, सूरत, २४७२ वीर नि. सं., अध्याय ३, सूत्र १९। (ब) जयसेन : प्रतिष्ठापाठ में भी श्री आदि १० देवियों में इसे छठवें स्थान पर गिनाया गया है। दे.—वही: (शोलापुर, १९२५ ई.) श्लोक सं. ७४२। १०. दे.- चित्र सं. १९। ११. मं. सं. १२ के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर बायें तथा जैन धर्मशाला में चक्रेश्वरी (चित्र ९९) के ऊपर दायें आदि। १२. नवग्रह अग्रलिखित हैं—रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। (१) इनके लक्षण और महत्त्व आदि के लिए दे.—(अ) अपराजित पृच्छा, पृ. ५४७-४८। (ब) प्रतिष्ठासारोद्धार, अ. २, श्लोक २७-३६। (स) ठक्कुर फेरु : वास्तुसार प्रकरण, पृ. १७२-७४। (द) दि. जैन व्रतोद्यापनसंग्रह : फूलचन्द्र सूरचन्द्र दोशी सम्पादित, (ईडर १९१४), पृ. २९०-३३०। (इ) अगरचन्द्र नाहटा : भारतीय वास्तु शास्त्र में जैन प्रतिमा सम्बन्धी ज्ञातव्य, अनेकान्त, वर्ष २० कि. ५, पृ. ११४-१५। (२) इनकी गति, मान तथा मुहूर्त आदि के विस्तृत विवरण के लिए दे.—अपराजितपृच्छा, पृ. ४१-४२। १३. दे.—मं सं. चार, पाँच (चित्र सं. ६), ग्यारह, बारह (चित्र सं. १८-२०), तीस, इकतीस (चित्र सं. २५) आदि। १४. दे.—चित्र सं. ५१,६१,६८। १५. खड़े प्रायः द्वारों और तोरणों पर। १६. बैठे प्रायः मूर्तिफलकों पर।

हैं। नवग्रहों को मूर्तिफलकों पर, देवगढ़ के अतिरिक्त अन्य जैन कला केन्द्रों पर कदाचित् ही पाया गया है।[1]

मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों और तोरणों पर इन्हें अंकित करने की प्रथा मध्यकाल में बहुत प्रचलित थी। उदयगिरि की अमृत-गुफा (संख्या ९) तथा रहली (सागर) के सूर्य मन्दिर[2] के अतिरिक्त सेरोन[3], बानपुर[4], बजरंगगढ़[5], खजुराहो[6] आदि के जैन-मन्दिरों में इन्हें स्थान दिया गया है।

(ढ) गंगा-यमुना और नाग-नागी

गंगा-यमुना और नाग-नागी का स्थापत्य से सम्बन्ध लगभग ३०० ई. से द्वार-स्तम्भों पर प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने गंगा और यमुना के मूर्तरूप का उल्लेख किया है :

"मूर्ते च गङ्गा-यमुने तदानीं, समाचरे दैवमसेविषताम् ॥[7]"

अतः स्पष्ट है कि उनके युग में गंगा-यमुना के मूर्त्यंकन होने लगे थे। यद्यपि पौराणिक दृष्टि से गंगा-यमुना के साथ नाग-नागी का कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि गंगा-यमुना के साथ नाग-नागियों का सामीप्य भी गुप्तकाल से विशेष रूप से मिलने लगता है।[8] गुप्तकाल के द्वार-स्तम्भों पर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा रूढ़-सी हो गयी थी।[9]

गंगा-यमुना दो धाराओं में बहती हुई उदयगिरि, एरण प्रभृति में दिखायी गयी हैं और अन्त में उनका विलय समुद्र में हुआ है। गुप्तकाल में यह भावना जागृत हुई थी कि अन्तर्वेदि पर जिसका अधिकार होगा, वही 'एकराट्' हो सकता है। अतः गंगा और यमुना की मूर्तियाँ वास्तुकला में राष्ट्रीय चिह्न बन गयी थीं।

गुप्तकालीन कतिपय प्राचीन मन्दिरों तथा उदयगिरि, साँची, तिगवाँ आदि और देवगढ़ के ही दशावतार मन्दिर में गंगा-यमुना के अंकन प्रवेश-द्वार के सिरदल के किनारों या द्वारपक्षों के ऊपरी भाग पर हुए हैं। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर और जैन मन्दिर संख्या ४,५,११,१२,२८ और ३१ में उनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, अनोखे और प्रभावोत्पादक चित्रण हैं।[10] उनके केशपाश और मुखाकृतियाँ बहुत सुन्दर हैं।

जैन स्थापत्य में भी इन प्रतीकात्मक देवियों का समावेश प्रारम्भ से ही हुआ है, जैसा कि हम देवगढ़, चाँदपुर, दूधई, खजुराहो, पतियानदाई (पतौरा, सतना), भूमरा, नचना, मढ़ई, पाली और बानपुर आदि में देखते हैं। देवगढ़ की जैनकला में गंगा-यमुना के अंकन—मं. सं. ४,५ (२ बार), ९,११ (२ बार), १५ (२ बार), १६,१८ (२ बार), १९,२०,२३,२४,२८,३१ तथा मढ़िया सं. ४ में आकर्षक ढंग से हुए हैं। इसी प्रकार नाग और नागी के अंकन यहाँ के मं. सं. १२,१५,१८,१९ और ३१ में प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। नाग-नागियों का अंकन प्रवेश-द्वार की पूरी पट्टिकाओं पर भी कहीं-कहीं मिलता है।[11] मथुरा में प्राचीन काल से ही नाग-नागियों के अंकन आकर्षक ढंग से हुए हैं। वहाँ इनकी अनेक मूर्तियाँ विभिन्न रूपों में तो मिली ही हैं, ब्रज में इनके स्वतन्त्र मन्दिर बनाने का भी प्रचलन था।[12]

(ण) अन्य देव-देवियाँ

यक्ष-यक्षियों, विद्या-देवियों, सरस्वती, लक्ष्मी, नवग्रह, गंगा-यमुना और नाग-नागी की मूर्तियों के अतिरिक्त भी देवगढ़ में देव-देवियों की ही कुछ ऐसी मूर्तियाँ विद्यमान हैं, जिन्हें हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। तीर्थंकर के दोनों ओर (१) चँवर डुलाते हुए यक्षेन्द्र और उनकी इन्द्राणियाँ, (२) तीर्थंकर की वाणी को दुन्दुभि पीट-पीटकर तीन लोक

---

१. (अ) मथुरा संग्रहालय में एक ऐसी मूर्ति (सं-ओ. ७५) प्रदर्शित है जिसके पृष्ठभाग में कुबेर और नवग्रहों का आलेखन हुआ है। (ब) सिंहपुर(जिला शहडोल, म. प्र.) के एक जैन मन्दिर (नवीं शती) में स्थित मूर्तिफलक पर भी नवग्रह अंकित हैं। २. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : सागर थ्रू दी एजेज, (सागर, १९३५) फलक १० आकृति (अ)। ३ दे.—मं. सं. पाँच के प्रवेश द्वार का तोरण। ४. दे.—सहस्रकूट जिनालय के पूर्वी और पश्चिमी द्वारों के तोरण। ५. दे.—बजरंगगढ़ (गुना) के जैनमन्दिर का प्रवेश द्वार। ६. दे.—पार्श्वनाथ मन्दिर आदि। ७. कुमारसम्भव : कालिदास-ग्रन्थावली, पाण्डेय तेजराम शास्त्री सम्पादित, (काशी, १९६१ ई.) सर्ग ७, पद्य ४२। ८. आनन्दकुमार स्वामी : यक्षाज : भाग एक, (वाशिंगटन, १९२८ ई.) ९. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : म. प्र. की कला का ऐतिहासिक परिशीलन : मध्यप्रदेश सन्देश, (दि. २६ जनवरी, १९६३ ई.), पृ. १९। १०. दे.—चित्र सं. ६,१८,३२,३५ और ११७। ११. मथुरा में एक ऐसी द्वार-शाखा प्राप्त हुई है जिसपर अनोतप्त झील में स्नान करते हुए नाग-नागी आलिखित हैं। दे.—प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : मथुरा कला में नाग : त्रिपथगा. (जुलाई, १९६२ ई.), पृ. ६५ से पूर्व मुद्रित चित्र। १२. वही, पृ. ६३-६६।

में गुँजा देनेवाला उद्घोषक,[1] (३) उच्च श्रेणी के देव-देवियों की, छाया की भाँति साथ रहकर सेवा-टहल करनेवाले परिचारक-परिचारिकाएँ, (४) स्तम्भों, गवाक्षों और देवकुलिकाओं आदि के अलंकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करनेवाले कीर्तिमुख, (५) भवन की छत का विपुल भार धारण करनेवाले शक्तिशाली कीचक, (६) अनधिकारियों और आततायियों को मन्दिर के भीतर प्रवेश का निषेध करनेवाले दण्डधारी द्वारपाल और (७) समग्र तीर्थ-क्षेत्र की रक्षा करनेवाले क्षेत्रपाल[2] आदि की मूर्तियाँ अन्य स्थानों की भाँति देवगढ़ में भी यथास्थान प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार, इस अध्याय में देवगढ़ में मूर्तिकला के क्रमिक विकास और मुख्य विशेषताओं का प्रदर्शन करके तीर्थंकरों तथा देव-देवियों की मूर्तियों पर प्रकाश डाला गया है। शेष मूर्तियों और प्रतीकों का विश्लेषण तथा इस प्रकरण का उपसंहार अग्रिम अध्याय में किया जायेगा।

---

१. (अ) उद्घोषक के साधारणतः दो हाथ दिखाये जाते हैं, परन्तु यहाँ के मं. सं. २८ के शिखर पर (दक्षिण की ओर) एक उद्घोषक के चार हाथ भी दिखाये गये हैं। (ब) देवगढ़ के ही एक प्रतिनिधि उद्घोषक के विवरण सहित चित्र के लिए देखिए—प्रो. स्टेला क्रेमरिश : दी हिन्दू टेम्पल्स : जिल्द दो, पृ. ३३७ तथा फलक ५५। २. (अ) देवगढ़ में इसकी दो मूर्तियाँ मिली हैं, (१) मं. सं. एक के पीछे स्थित मानस्तम्भ पर (दे. चित्र स. ११३) और (२) मं. सं. १२ के अर्धमण्डप के स्तम्भ पर। (ब) क्षेत्रपाल की मूर्ति के शास्त्रीय लक्षण के लिए देखिए (१) 'ओम् नमः क्षेत्रपालाय कृष्णगौरकाञ्चनधूसरकपिलवर्णाय विंशतिभुजदण्डाय बर्बरकेशाय जटाजूटमण्डिताय वासुकीकृतजिनोपवीताय तक्षककृतमेखलाय प्रेतासनाय कुक्कुरवाहनाय त्रिलोचनाय च।'' (२) 'क्षेत्रपालं क्षेत्रानुरूपनामानं श्यामवर्णं बर्बरकेशमावृत्तपिंगनयनं विकृतदंष्ट्रं पादुकाधिरूढं नग्नं कामचारिणं षड्भुजं मुद्गरपाशडमरुकान्वितदक्षिणपाणिं श्वानांकुशगेडिकायुतवामपाणिं श्रीमद्भगवतो दक्षिणपार्श्वे ईशानाश्रितं दक्षिणाशामुखमेव प्रतिष्ठाप्यम्।'—डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल : वास्तुशास्त्र : (भाग २), आचार दिनकर से उद्धृत, पृ. २७५।

मूर्तिकला

(अन्य मूर्तियाँ)

५. विद्याधरों की मूर्तियाँ

विद्याधर[1] वे मनुष्य होते थे, जो साधना या तपस्या के फलस्वरूप आकाशगामिनी आदि विद्याएँ सिद्ध कर लेते थे। ये, जैसा कि धर्मकथाओं के अध्ययन से प्रकट होता है, अत्यन्त रसिक और पर्यटन-प्रेमी होते थे। पर जिनेन्द्र-देव के भक्त भी ये बहुत होते थे। देवगढ़ में उनका यही रूप अंकित किया गया है। उन्हें उड़ान भरते हुए[2] तथा तीर्थंकर के मस्तक पर चँवर डुलाते हुए[3] अंकित किया गया है। कभी-कभी वे अपनी प्रेयसियों के साथ[4] यह कार्य करते थे। उस समय वे स्नेहासक्त दृष्टि से एक दूसरे को निहारते भी जाते थे। कुछ स्थानों पर उनके हाथों में चँवर न देकर माला दी गयी।[5] खजुराहो की भाँति अपनी प्रेयसियों के साथ उड़ान भरते-भरते विभिन्न आकृतियों और चेष्टाओं में संलग्न विद्याधरों की लम्बी-लम्बी पंक्तियाँ यहाँ चाहे न हों, पर तोरणों आदि पर अंकित पंक्तियों में विद्याधरों की सशक्त उड़ान कभी भक्ति-विभोर और कभी स्नेहाधीन-दृष्टि तथा उनके अंग-प्रत्यंग की भंगिमा निश्चय ही आकर्षण की वस्तु है। इससे स्पष्ट है कि देवगढ़ का कलाकार विद्याधरों के अंकन के प्रति आसक्ति नहीं, अपितु अभिरुचि रखता था।

६. साधु-साध्वियाँ

साधु-साध्वियों को मूर्तरूप देने का विधान जैन-प्रतिमा-शास्त्रों में नहीं मिलता। उनकी 'चरणपादुकाओं' और 'निसई' (निषेधिका) के निर्माण का विधान अवश्य है।[6] जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त—निसिदिया, निषीदिका, निसीधि, निशिद्धि, निषिद्धि और निषिद्धिगे आदि शब्द उक्त एक ही अभिप्राय को व्यक्त करते हैं।[7] इस विधान का सर्वप्रथम अपवाद तीर्थंकर ऋषभनाथ के द्वितीय पुत्र बाहुबली की मूर्ति-रचना में हमें मिलता है। द्वितीय अपवाद भी कदाचित् उनके अग्रज भरत की मूर्ति रचना में प्राप्त होता है। भरत और बाहुबली की युगल-मूर्तियाँ देवगढ़ में अनेक स्थानों पर प्राप्त हुई हैं।[8] ग्वालियर में इन दोनों भाइयों की जो युगल-मूर्ति है, वह सम्भवतः संसार की सबसे बड़ी युगल-मूर्ति है। ये दोनों भाई उसी शरीर से मुक्त हो गये थे।[9] उक्त अपवादात्मक परम्परा तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब हमें राम-लक्ष्मण, सप्तर्षियों तथा कुछ अन्य मुनियों जो चरम शरीरी थे, की भी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। और फिर देवगढ़ के कलाकार के समक्ष तो शास्त्रीय विधान से बढ़कर भक्ति का उद्रेक था। उसकी छैनी जब चलती थी तब भक्ति की अथाह और अटूट गंगा बहा

---

१. पायार गोउरट्ठल चरियासरवण विराजिया तत्थ। विज्जाहरा तिविज्जा वसंति छक्कम्मसंजुता॥

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : त्रिलोकसार (बम्बई, १९१८ ई.), गाथा ७०६।

२. मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के तोरण पर (दे.—चित्र सं. १९-२०) तथा मं. सं. २८ के अंगशिखर पर (दे.—चित्र सं. ३२)। ३. मं. सं. एक तथा चित्र सं. ६२। ४. मं. सं. दो के दशवें फलक पर। और भी दे.—चित्र सं. ६६, ६७, ७४ आदि। ५. जैन चहारदीवारी (मं. सं. ८ के दायें) भीतर की ओर। और भी दे.—चित्र सं. ५२, ५३, ५४, ५७, ६०, ६१ आदि।

६. ध्यात्वा यथास्वं गुर्वादीन् न्यसेत् तत्पादुकायुगे। निषेधिकायां संन्यास-समाधिमरणादि च॥

—पं. आशाधर : प्रतिष्ठासारोद्धार, (बम्बई, विक्रम सं. १९७४), पद्य १,१०८।

७. मुनि कान्तिसागर : खण्डहरों का वैभव, पृ. ८१। ८. देखिए—मं. सं. दो आदि। ९. (अ) जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), पं. पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित, (काशी, १९५१ ई.) भाग दो, ३६।२०३ तथा ४७।३८८। (ब) रविषेण : पद्मपुराण, पं. पन्नालाल जैन सम्पादित, (काशी, १९५८ ई.), प्रथम भाग, ४।७७।

देती थी, उसकी राह में परम्पराओं एवं शास्त्रीय विधानों के छोटे-मोटे पर्वत क्या करते। तभी तो वह भरत-बाहुबली की महान् प्रेरक मूर्तियाँ गढ़ता है,[1] आचार्य महाराज को उपदेशरत दिखाता है,[2] अध्यापन में संलग्न उपाध्याय परमेष्ठी को अंकित करता है[3] और आत्मसाधना में तन्मय साधु-साध्वियों को भी मूर्तरूप प्रदान करता है।[4] कलाकार की इस अद्भुत, अपूर्व भक्ति-भावना ने देवगढ़ को, अन्य तीर्थक्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षण प्रदान किया है। निस्सन्देह साधु-साध्वियों की इतनी अधिक और विविध मूर्तियाँ किसी भी तीर्थक्षेत्र में उपलब्ध नहीं हुई हैं।

(अ) आचार्य

देवगढ़ में आचार्य[5] परमेष्ठी को प्रायः उपदेश मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है[6]। उनके समक्ष साधु-साध्वियाँ और कभी-कभी श्रावक-श्राविकाएँ भी बैठकर उपदेशामृत का पान करती थीं[7]। चतुर्विध-संघ को उनके समक्ष भक्तिपूर्वक बैठा देखकर उनके आचार्यत्व अर्थात् सन्मार्ग पर स्वयं चलते हुए दूसरों को भी चलाने की योग्यता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। ज्ञान के भण्डार उपाध्याय परमेष्ठी को जब हम उनकी वन्दना करते हुए देखते हैं तब हमारी भक्ति-भावना उमड़ ही पड़ती है।

(ब) उपाध्याय

यहाँ उपाध्यायों[8] की मूर्तियाँ भी दर्शनीय बन पड़ी हैं[9]। उनके हाथ का ग्रन्थ उनके उपाध्याय पद का प्रतीक है। वे कभी स्वयं पढ़ते दिखाई देते हैं,[10] कभी दो या अधिक मिलकर तत्त्वचर्चा करते हुए दिखाये गये हैं।[11] और कभी साधुओं तथा श्रावकों को धर्मोपदेश देते हुए अंकित हैं[12] तो कभी पाठशालाओं में शिक्षा देते हुए दृष्टिगत होते हैं।[13] उनकी पाठशालाओं में विनयावनत साधुओं से लेकर बालकों की टोली भी उपस्थित होती थी,[14] परन्तु कभी भी वे उद्विग्न होकर क्रुद्ध नहीं होते थे। उनके इन सभी क्रियाकलापों से प्रकट होता है कि वे स्वाध्याय नामक तप के पाँचों अंगों का भली-भाँति पालन करते थे।[15]

---

१. मं. सं. दो, ग्यारह, साहु जैन संग्रहालय आदि में सुरक्षित। और भी दे.—चि. सं. ८६, ८७, ८८, ८६। २. मं. सं. एक, चार, तथा मं. १२ के सामने के अवशेष और मानस्तम्भ सं. ११ एवं द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार। और भी दे.—चित्र सं. ७७, ७८, ७६, ८०, ८१, ८२। ३. हाथी दरवाज़ा, द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार, मं. सं. एक, चार, साहु जैन संग्रहालय आदि तथा चित्र सं. ७५ और ७७ से ८५ तक। ४. मं. सं. १० के विभिन्न स्तम्भों पर। दे.—चित्र सं. ८६ से ८६ तक तथा ६२, ६४। ५. (अ) आचरन्ति यस्माद् व्रतानि इत्याचार्यः। यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिगुणाधारादाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखामृतबीजानि भव्या हितार्थमाचरन्ति स आचार्यः। अकलंकदेव : तत्त्वार्थ वार्तिक (राजवार्तिक) : पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य सम्पादित, (काशी, १६५७ ई.), द्वितीय भाग, पृ. ६२३।

(ब) 'दंसणणाण पहाणे, वीरिय चारित्त-वरतवायारे। अप्पं परं च जुंजइ, सो आइरियो मुणी भेओ॥'

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह, (जबलपुर, २४६२ वीर नि. संवत्), गाथा ५२।

(स) 'पञ्चधाचरन्त्याचारं शिष्यानाचरयन्ति च। सर्वशास्त्रविदो धीरास्तेऽत्राचार्याः प्रकीर्तिताः॥'

—मुनि आदिसागर : त्रिकालवर्ती महापुरुष, (बारासिवनी, १६५६ ई.), पृ. २२४।

६. दे.—द्वितीय कोट का प्रवेशद्वार, मं. सं. एक, चार आदि तथा मानस्तम्भ सं. ११। और भी दे.—चित्र सं. ७७ से ८२ तक।

७. मं. सं. एक, चार, द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार तथा विभिन्न मानस्तम्भ। और भी दे.—चित्र सं. ७७ से ८२ तक।

८. (अ) 'उपेत्य यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः। विनयोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाधिष्ठानादागमं श्रुताख्यमधीयते स उपाध्यायः।'

—अकलंकदेव : तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) द्वि. भाग, पृ. ६२३।

(ब) जो रयणत्तयजुत्तो, णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो। सो उवझाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स॥'

—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह, गाथा ५३।

(स) 'दिशन्ति द्वादशाङ्गादि-शास्त्रं लाभादिवर्जिताः। स्वयं शुद्धव्रतोपेता उपाध्यायास्तु ते मताः॥'

—मुनि आदिसागर : त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. १२५।

६. साहु जैन संग्रहालय, दि. जैन चैत्यालय, मं. सं. एक, चार आदि तथा विभिन्न मानस्तम्भ और हाथी दरवाज़ा। और भी दे.—चित्र सं. ८३, ८४, ८५ तथा ७७ से ८२ तक। १०. द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार, मं. सं. एक, चार तथा मं. सं. १२ के सामने पड़े हुए अवशेष। दे.—चित्र सं. ७६, ८१ और ८२। ११. मं. सं एक का पृष्ठभाग, चार तथा मं. सं. १२ के सामने पड़े हुए अवशेष और विभिन्न मानस्तम्भ। और भी दे.—चित्र सं. ७५, ८२। १२. मं. सं. एक, चार तथा मं. सं. १२ के सामने पड़े हुए अवशेष, द्वितीय कोट का प्रवेश द्वार एवं विभिन्न मानस्तम्भ। दे.—चित्र सं. ७७ से ८२ तक। १३. दे.—चित्र सं. ७७ से ८२ तक। १४. द्वितीय कोट का प्रवेश द्वार, मं. सं. चार तथा मं. सं. १२ के सामने पड़े हुए अवशेष। दे.—चित्र सं. ७६, ८१ और ८२। १५. 'वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।' —उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६ सूत्र २५।

(स) साधु

साधुओं[१] के अंकन देवगढ़ में बहुत हैं। साधुओं में जिनकी मूर्ति का उल्लेख सर्वप्रथम होना चाहिए, वे हैं चक्रवर्ती[२] भरत[३] और कामदेव[४] बाहुबली[५]। भरत की मूर्ति के साथ उनकी चक्रवर्तित्व की सूचक नौ निधियाँ[६] (नौ घड़ों के रूप में) (दे. चित्र सं. ८९) अंकित की गयी हैं। यह स्मरणीय है कि उनकी मूर्ति जहाँ भी मिली है, प्रायः द्विमूर्तिका के रूप में ही है।[७] जिनमें दूसरी उनके अनुज बाहुबली की होती है।[८] इसके विरुद्ध बाहुबली की मूर्ति स्वतन्त्र रूप से भी बल्कि अपेक्षाकृत अधिक मिली है।[९] ये कामदेव के अवतार माने जाते हैं। भरत ने अपनी दिग्विजय के सन्दर्भ में जब इनपर भी आक्रमण कर दिया[१०] तब विजेता होकर[११] भी ये संन्यासी बन गये।[१२] और फिर इन्होंने निरन्तर एक-वर्ष[१३] पर्यन्त मेरु-पर्वत की भांति अडिग[१४] रहकर जो अनुपम तपस्या की उसके मूल्यांकन में दक्षिण[१५] का कलाकार कितना ही सफल रहा हो, पर देवगढ़[१६] के कलाकार की सफलता पर भी सन्देह नहीं किया जा सकता। वह उनके शरीर का आलिंगन-करती हुई लताएँ[१७] तो अंकित करता है, उसपर रेंगते हुए सर्प, वृश्चिक और छिपकुलियाँ[१८] आदि भी अंकित करता है।

१. साहु जैन संग्रहालय में प्रदर्शित बाहुबली : बाहुबली की एक मूर्ति[१९] यहाँ ऐसी बन पड़ी है कि उसकी समानता कदाचित् कहीं न मिलेगी।[२०] बाहुबली के दोनों ओर एक-एक स्त्री (खड़ी हुई) उनके शरीर पर चढ़ी हुई लताओं को एक-एक करके दूर कर रही हैं।[२१] अपने भक्तों की इस तन्मयता का तनिक भी भान उन्हें नहीं है। यह

---

१. (अ) 'चिरप्रव्रजितः साधुः । चिरकालभावितप्रव्रज्यागुणः साधुरित्याम्नायते।'

—अकलंकदेव : तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), पृ. ६२३।

(ब) 'दंसणणाणसमग्गं, मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं। साधयदि णिच्चसुद्धं, साहू सो मुणी णमो तस्स॥'

—नेमिचन्द्र सि. च. : द्रव्यसंग्रह, गाथा ५४।

(स) 'ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददति दीक्षादिकं च शिष्याणाम्। कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः॥'

—मुनि आदिसागर : त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. २२५।

२. छह खण्ड पृथ्वी के स्वामी। चक्रवर्ती से सम्बन्धित अन्य ज्ञातव्य बातों के लिए देखिए—(अ) त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. १७४-१८६। (ब) बृहत् जैन शब्दार्णव, द्वितीय खण्ड, पृ. ४५१।

३. 'मनुश्चक्रभृतामाद्यः षट्खण्डभरताधिपः। राजराजोऽधिराट् सम्राडित्यस्योद्घोषितं यशः॥'

—जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), पं. पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित, (काशी, १९५१ ई.), भाग दो, ३७-२०।

४. अनुपम सौन्दर्य सम्पन्न महापुरुष। इनके नामों तथा अन्य विशेषताओं के लिए द्रष्टव्य—(अ) मुनि आदिसागर ; त्रिकालवर्ती-महापुरुष, पृ. २००-२०४। (ब) बृहत् जैन शब्दार्णव, द्वितीय खण्ड, पृ. ४१९।

५. 'तत्कालकामदेवोऽभूद् युवा बाहुबली बली। रूपसम्पदमुत्तुङ्गां दधानोऽसुमतां मतात्॥'

दे.—जिनसेन : वही, भाग १, पृ. १६-९ कामदेव-बाहुबली के सौन्दर्य वर्णन के लिए द्रष्टव्य—वही, १६, १०-२६।

६. (अ) 'कालाख्यश्च महाकालो नैःसर्प्यः पाण्डुकाह्वयाः। पद्ममाणव-पिङ्गाब्ज-सर्वरत्न-पदादिकाः।

—जिनसेन : म. पु., ३७-७३।

(ब) नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : त्रिलोकसार, पं. मनोहरलाल शास्त्री सम्पादित, (बम्बई, १९१८ ई.), गाथा ६८२। (स) नव-निधियों के विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य—जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), ३७, ७३-८२। ७. साहु जैन संग्रहालय में चक्रवर्ती भरत की अकेली मूर्ति भी प्रदर्शित है। दे.—चित्र सं. ८९। ८. मं. सं. दो, दे.—चित्र सं. ८८। ९. मं. सं. दो, ११, साहु जैन संग्रहालय आदि में। दे.—चित्र सं. ८६, ८७। १०. (अ) महापुराण (आदिपुराण), भाग दो, ३६-६०। (ब) रविषेण : पद्मपुराण, पं. पन्नालाल जैन सम्पादित, (काशी, १९५८ ई.), प्रथम भाग, ४-६८। ११. (अ) महापुराण (आदिपुराण), भाग दो, ३६-६०। (ब) पद्मपुराण, प्रथम भाग, ४-७२। १२. वही दोनों, क्रमशः ३६-१०४ और ४।७४-७५।

१३. (अ) 'गुरोरनुमतेऽधीती दधदेकविहारिताम्। प्रतिमायोगमावर्षम् आतस्थे किल संवृतः॥'

—दे.—महापुराण (आदिपुराण), भाग दो, ३६-१०६।

(ब) 'संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः। वर्षं प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निःप्रकम्पकः॥'

दे—पद्मपुराण, प्रथम भाग, ४-७५।

१४. पद्मपुराण, प्रथम भाग, ४-७५। १५. गंगवंशी राजा राचमल्ल (वि. सं. १०३१-४१) के मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोल (मैसूर) में निर्मापित गोम्मटेश्वर बाहुबली की जगत्प्रसिद्ध मूर्ति। १६. दे.—साहु जैन संग्रहालय, मं. सं. दो और ११ में विद्यमान बाहुबली स्वामी की मूर्तियाँ। १७. दे.—मं. सं. दो एवं साहु जैन संग्रहालय में स्थित बाहुबलि-मूर्तियाँ, तथा चित्र संख्या ८६ और ८८। १८. दे.—मं. सं. २, ११ तथा साहु जैन संग्रहालय में स्थित बाहुबलि-मूर्तियाँ तथा चित्र सं. ८६, ८७, ८८। १९. साहु जैन संग्रहालय में सुरक्षित। २०. दे.—चित्र संख्या, ८६। २१. एलोरा की इन्द्रसभा गुफा (संख्या ३३) में बाहुबली की एक ऐसी ही मूर्ति का आलेखन हुआ है। उसपर लताएँ चढ़ी हैं और उसके भी दोनों ओर खड़ी दो स्त्रियाँ उसकी लताओं को एक-एक कर हटा रही हैं (जबकि देवगढ़ में लताओं के साथ सर्प और छिपकुली भी चढ़े हैं) ऊपर विद्याधर-युगल मालाएँ लिये उड़ रहे हैं। एलोरा मूर्ति के लिए दे.—हेनरिच जिम्मर : दी आर्ट आफ़ इंडियन एशिया, जिल्द एक तथा दो, (न्यूयार्क, १९५५ ई.), विवरण (जिल्द एक) पृ. २६७, और फलक (जिल्द दो) २४५।

दृश्य देखकर हमें भगवान् महावीर के समय की उस कथा का स्मरण हो आता है, जिसके अनुसार अपने पति महाराज श्रेणिक द्वारा डाले गये मृत सर्प को एक तपस्वी मुनि के गले से महारानी चेलना बड़ी ही भक्ति और सावधानी से अलग कर रही है।[1] कन्धों तक आ पहुँची जटाएँ और सादा भामण्डल इस मूर्ति की अन्य विशेषताएँ हैं। कला की सूक्ष्मता, मुखाकृति की सजीव शान्ति, श्रीवत्स की लघुता और परिकर का अभाव इसे[2] गुप्तकाल के बाद निर्मित हुई कृति सिद्ध करते हैं। इस दृष्टि से बाहुबली की प्राचीन मूर्तियों में एक इसे भी स्वीकार करना पड़ेगा।

२. मं. सं. ११ में स्थित बाहुबली—यहाँ बाहुबली की ऐसी मूर्ति भी उपलब्ध है[3] जिसपर सर्प, बिच्छू आदि तो रेंगते हुए अंकित हैं परन्तु लताओं का आलेखन नहीं है।

३. भरत-बाहुबली—इनके अतिरिक्त भरत-बाहुबली की दो उल्लेखनीय द्विमूर्तिकाएँ[4] और भी दर्शनीय हैं। पहली द्विमूर्तिका किसी भित्ति के कोने का अंग है, क्योंकि उसके दो ओर मूर्तियाँ हैं। एक ओर बाहुबली की कायोत्सर्ग मूर्ति है,[5] जिसपर लिपटी हुई लताएँ, रेंगते हुए सर्प और एक छिपकुली अंकित है, दूसरी ओर चक्रवर्ती भरत का अंकन है, उनके दायें उनके विशेष चिह्न नव-निधियाँ आदि अंकित हैं। दूसरी द्विमूर्तिका भी किसी भित्ति के कोने का अंग है और उसमें भी इसी प्रकार के अंकन हैं।

४. भरत की मूर्ति—साहु जैन संग्रहालय में चक्रवर्ती भरत की नवनिधि सहित एक मनोरम मूर्ति प्रदर्शित है।[6] सादे प्रभामण्डल के अतिरिक्त नौ घड़ों के रूप में नवनिधियों को प्रदर्शित किया है। केशराशि और मुखमुद्रा अत्यन्त सुन्दर है।

७. आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के मूर्त्यंकन

(अ) आचार्य-मूर्तियाँ

आचार्य-मूर्तियाँ और पाठशालाएँ

१. मं. सं. एक के पीछे जड़ी आचार्य मूर्ति (छत्रधारी श्रावक सहित)—आचार्य परमेष्ठी[7] की मूर्तियों में वह सर्वाधिक उल्लेखनीय है। जिसमें, मध्य में एक हृष्ट-पुष्ट आचार्य[8] विराजमान हैं। उनके दोनों ओर एक-एक पुस्तकधारी उपाध्याय परमेष्ठी बैठे हैं, जिनके दायें हाथ खण्डित हैं। आचार्य की मुद्रा किंचित् क्रुद्ध प्रतीत होती है और उपाध्याय भी खिन्न या आतंकित-से लगते हैं।[9] उपाध्यायों द्वारा किसी त्रुटि के हो जाने पर आचार्य ने कदाचित् उन्हें प्रायश्चित्त दिया होगा। आचार्य के दायें और उपाध्याय के पीछे एक अंजलिबद्ध साधु बाजू में पीछी दबाये विनय से झुका है, दूसरी ओर एक छत्रधारी श्रावक खड़ा है। छत्र की छड़ी खण्डित हो गयी है।

२. मं. सं. एक के पीछे जड़ी आचार्य मूर्ति—एक विशाल शिलापट्ट[10] पर जिसके दोनों कोनों पर एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति अंकित है, मध्य में एक हृष्ट-पुष्ट पुस्तकधारी आचार्य बैठे हैं,[11] उनके दोनों ओर एक-एक उपाध्याय पुस्तक लिये हुए निदर्शित हैं। उपाध्यायों के पीछे खड़े हुए एक-एक अंजलिबद्ध साधु आचार्य को नमस्कार कर रहे हैं। उपाध्यायों का एक-एक हाथ वितर्क मुद्रा में है जो हमें महात्मा बुद्ध की धर्म प्रवर्तन मुद्रा का स्मरण कराती है।

३. अशोक वृक्ष के नीचे आचार्य का अंकन—एक अन्य शिलाफलक[12] पर अशोक वृक्ष का अंकन है, उसके नीचे हृष्ट-पुष्ट आचार्य एवं उनके दोनों ओर एक-एक उपाध्याय बैठे हैं। अशोक वृक्ष के ऊपर मध्य में पद्मासन पार्श्वनाथ तथा उनके दोनों ओर तीन-तीन साधु कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित हैं।

४. आचार्य की विरल मूर्ति : (छत्रधारिणी श्राविका सहित)—मं. सं. एक के मण्डप (पूर्व) में आचार्य की एक महत्त्वपूर्ण तथा विरल मूर्ति जड़ी हुई है।[13] यद्यपि इस पद्मासन मूर्ति के दोनों हाथ खण्डित हैं तथापि दायें हाथ में

---

१. डॉ. कामताप्रसाद जैन : महारानी चेलनी, (सूरत, १९६७ ई.), पृ. १०५-१२२। २. दे.—चित्र संख्या ८६। ३. मं. सं. ११ के दूसरे खण्ड के गर्भगृह में स्थित। इसपर सर्पों को हटाते हुए कुछ भक्त भी अंकित हैं। दे.—चित्र सं. ८७। ४. मं. सं. दो में अवस्थित फलक क. पाँच और छह पर। ५. दे.—चित्र सं. ८८। ६. दे.—चित्र, सं, ८९। ७. मं. सं. एक के पृष्ठभाग (पश्चिम) में जड़ी हुई। ८-९. दे.—चित्र सं. ७७। १०. दे.—मं. सं. एक के पृष्ठ भाग में जड़ा हुआ। ११. दे.—चित्र सं. ७८। १२. दे.—मं. सं. एक के पृष्ठ भाग में (दायीं ओर) जड़ा हुआ। १३. दे. चित्र सं. ८०।

ग्रन्थ स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पादपीठ में उनकी पीछी का सुस्पष्ट अंकन हुआ है। आचार्य की केशराशि ऐसी उगी हुई दिखाई पड़ती है जैसी कि केशलुंचन के पश्चात् उगती है। इनके दायें तथा बायें दो उपाध्याय पद्मासन और उपदेश मुद्रा में स्थित हैं तथा अपने हाथ में ग्रन्थ लिये हुए हैं। आचार्य के दायें (पार्श्व में) एक श्रावक का अंकन है। उसका दायाँ हाथ खण्डित है और उसके दायें कन्धे पर पीछे की ओर एक झोली टँगी हुई है। इस श्रावक के दोनों हाथ कलाइयों से टूट गये हैं किन्तु उनके शेष भाग की स्थिति से ज्ञात होता है कि वह विनयपूर्वक हाथ जोड़े हुए था। कदाचित् वह अपने हाथों में चँवर लिये हुए था। इसका मस्तक झुका हुआ किन्तु खण्डित है।

आचार्य के बायें ओर उपाध्याय के पीछे एवं आचार्य के कमण्डलु के पास एक श्राविका आचार्य के ऊपर छत्र लगाये हुए खड़ी है। यह छत्र किंचित् खण्डित होकर भी अपनी कलागत विशेषता और विरलता के लिए उल्लेखनीय है।

इस आचार्य मूर्ति के पादपीठ में आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ वन्दना करती हुई अंकित की गयी हैं। आर्यिकाओं की बाजू में पीछियाँ दबी हैं तथा श्राविकाएँ नारियल लिये हुए हैं। आचार्य की मुखमुद्रा अत्यन्त प्रशान्त और प्रभावोत्पादक है। सम्पूर्ण अंकन अत्यन्त नयनाभिराम है।

५. कुलपति के रूप में आचार्य—एक शिलाफलक[1], (१' १०" × ५' ३") और भी अधिक उल्लेखनीय है। इसपर एक पाठशाला का अनुपम दृश्य अंकित है,[2] जिसके अन्तर्गत एक आचार्य अपने विशाल परिकर के साथ अंकित हुए हैं। इस शिलाफलक में दो पंक्तियाँ हैं। नीचे की पंक्ति में सर्वप्रथम (बायें से दायें) चार कमण्डलु रखे हुए दिखाये गये हैं, जिनके अधिकारी साधु ऊपर की पंक्ति में अध्ययनरत हैं। तत्पश्चात् एक स्तम्भ के अन्तर से चार आर्यिकाएँ और श्राविका हाथ जोड़े हुए विनय से झुकी खड़ी है। आर्यिकाओं के सामने उनके कमण्डलु रखे हैं तथा बाजू में पीछियाँ दबी हैं। श्राविका के हाथ में कमलपुष्प-जैसी कोई वस्तु है। फिर दो स्तम्भों के मध्य एक टूटदार मेज रखी है जिसके दोनों ओर एक-एक कमण्डलु रखा है। इनमें से एक कमण्डलु के अधिकारी साधु तो ऊपर की पंक्ति में बैठे वितर्क कर रहे हैं परन्तु दूसरे के अधिकारी अनुपस्थित हैं। इसके पश्चात् पुनः पूर्व की भाँति एक श्राविका हाथ में नारियल-जैसा कुछ लिये हुए एवं चार आर्यिकाएँ पूर्ववत् किन्तु कुछ अधिक झुकी हुई अंकित हैं। इन सभी श्राविकाओं तथा आर्यिकाओं के शारीरिक एवं भावात्मक अंकन में कलाकार अत्यन्त सफल हुआ है। 'चतुर्विंशति पट्टों' का अंकन करनेवाले कुछ कलाकारों की भाँति उसने प्रमाद या अकुशलता का परिचय नहीं दिया है। आर्यिकाओं के अनन्तर एक स्तम्भ के अन्तर से पुनः चार कमण्डलु रखे हैं, जिनके अधिकारी साधु ऊपर की पंक्ति में अध्ययनरत हैं। ऊपर की पंक्ति में अंकित सभी आकृतियों के मस्तक तथा कुछ के हाथ खण्डित हैं। मध्य में एक हृष्ट-पुष्ट आचार्य बायें हाथ में पुस्तक लिये हुए बैठे हैं तथा दायें हाथ की सामने खुली हुई हथेली (वरदमुद्रा में) उनकी जाँघ पर रखी है। उनके दायें पुस्तकधारी उपाध्याय बैठे हैं जिनका दायाँ हाथ वितर्क मुद्रा में है। इनका आचार्य की ओर किंचित् मुड़कर बैठना और उनकी आकृति का आचार्य की आकृति से अपेक्षाकृत छोटी होना इनके विनयशील होने की सूचना देता है। इनके दायें चार साधु इन्हीं की ओर मुख किये हुए और बायें हाथ में पुस्तक लिये बैठे हैं। उनके पीछे उनकी पीछियाँ टिकी हुई दीखती हैं। इन चारों के दायें हाथ खण्डित हैं। आचार्य की बायीं ओर भी ठीक यही दृश्य अंकित है, परन्तु उसमें दो उपाध्यायों की पीछियाँ अदृश्य हैं, जो एक समस्या है।

६. पाठशालाओं के अन्य अंकन—पाठशालाओं के और भी अंकन[3] यहाँ तथा मथुरा, अजन्ता, गान्धार, भुवनेश्वर, खजुराहो आदि में भी पाये गये हैं, परन्तु इतनी सूक्ष्मता, विविधता और विस्तार कहीं नहीं है। पाठशाला के इस प्रकार के दृश्यों को अंकित करने की प्रेरणा खजुराहो के कलाकार ने निःसन्देह देवगढ़ के कलाकार से प्राप्त की थी।

(ब) उपाध्याय मूर्तियाँ

देवगढ़ में उपाध्याय परमेष्ठी का अंकन आचार्यों के सान्निध्य में तथा विभिन्न पाठशाला दृश्यों में तो हुआ ही है, स्वतन्त्र रूप से भी उनकी अनेक मूर्तियों का निर्माण यहाँ हुआ है। उनमें से कुछ का विवरण प्रस्तुत है।

---

१. मं. सं. ४ के भीतर उत्तरी भित्ति में जड़ा हुआ। २. दे.—चित्र सं. ७६। ३. देवगढ़ के अन्य पाठशाला दृश्यों के लिए देखिए—द्वितीय कोट के प्रवेश-द्वार का सिरदल, मं. सं. एक चार, तथा स्तम्भ ३, ११ आदि।

१. पद्मासनस्थ उपाध्याय मूर्ति—उपाध्याय परमेष्ठी की एक सुन्दर मूर्ति[1] सम्प्रति साहु जैन संग्रहालय में सुरक्षित है[2]। १ फुट ११ इंच ऊँचे तथा १ फुट ७ इंच चौड़े शिलाफलक पर १ फुट २ इंच ऊँचे और ११ इंच चौड़े उपाध्याय परमेष्ठी पद्मासन में अंकित हैं। उनके बायें हाथ में ग्रन्थ है जबकि दायाँ वितर्क मुद्रा में है। यह देखकर धर्मप्रवर्तन मुद्रा का स्मरण सहज ही हो आता है। इनके दायें एक बालक हाथ जोड़े हुए विनय-भाव प्रदर्शित कर रहा है। उपाध्याय की मुखमुद्रा प्रसन्न, शान्त और प्रभावोत्पादक है। इनके पृष्ठभाग में पत्रावलि का सुन्दर अलंकरण है। इसका निर्माणकाल नवीं-दसवीं शताब्दी प्रतीत होता है। इस मूर्तिफलक में सबसे ऊपर लघु आकार में पाँच तीर्थंकर (दो कायो. + एक पद्मा. + दो कायोत्सर्गासन) भी अंकित हुए हैं।

२. अभिलिखित उपाध्याय मूर्ति—शिल्पचातुर्य, भावभंगिमा, कलाप्रियता आदि अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपाध्याय परमेष्ठी की सर्वांग सुन्दर एक मूर्ति[3] यहाँ[4] और भी प्राप्त हुई है[5]। उपाध्याय एक ऊँची चौकी पर उत्थित पद्मासन में बैठे हैं। उस चौकी से जुड़ी हुई एक छोटी चौकी पर उनका बायाँ चरण तथा बायें चरण की अँगुलियाँ रखी हैं। इनका दायाँ हाथ उपदेशमुद्रा में वक्ष तक ऊपर उठा है तथा बायाँ जंघा पर रखा है। उसकी खुली हथेली पर ग्रन्थ रखा है, जिसे तर्जनी दबाये हुए है। मुखमुद्रा शान्त, सौम्य और गम्भीर बन पड़ी है। उनके दायें पार्श्व में पीछी और कमण्डलु दिखाये गये हैं। चौकी के समतल पर दोनों ओर एक-एक श्राविका हाथ जोड़े हुए बैठी है। चौकी के नीचे सं. १३३३ का पाँच पंक्तियों में एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें नन्दिसंघीय बलात्कार गण के आचार्य कनकचन्द्र देव, उनके शिष्य लक्ष्मीचन्द्र देव और उनके भी शिष्य हेमचन्द्र देव तथा कुछ अन्य नाम अभिलिखित हैं[6]। इस मूर्ति की ऊँचाई २ फुट १½ इंच तथा चौड़ाई १ फुट ६ इंच है।

३. तीर्थंकर के परिकर में उपाध्याय मूर्तियाँ—उपाध्याय की दो मूर्तियाँ एक शिलाफलक पर एक तीर्थंकर मूर्ति के परिकर के रूप में भी प्रस्तुत की गयी हैं।[7] दोनों उपाध्यायों के[8] बीच एक टूटदार मेज रखी है। दायीं ओर के उपाध्याय जी का दायाँ हाथ ऊपर को उठा है, वे दूसरे उपाध्याय से या तो कुछ माँग रहे हैं या उन्हें कुछ समझा रहे हैं। दूसरे उपाध्याय के बायें हाथ में पुस्तक है जबकि दायाँ हाथ खण्डित है।

४. तोरण पर अध्यापनरत उपाध्याय—एक तोरण एक ही साथ छह अध्यापनरत उपाध्यायों को प्रस्तुत करता है।[9] यह तोरण द्वितीय कोट के प्रवेश-द्वार पर संयोजित किया गया है, जो परकोटे के निकट ही नदी की ओर से लाया गया था। इसके सामने की ओर मध्य में तीर्थंकर की एक कायोत्सर्ग मूर्ति है। इस मूर्ति के दोनों पार्श्वों में एक-एक आकृति उसकी उपासना में मग्न दिखायी गयी है। उसकी बायीं ओर पाठशाला का एक मनोज्ञ दृश्य अंकित है। उपाध्याय परमेष्ठी अपने बायें हाथ में पीछी लिये हैं तथा दायाँ वरदमुद्रा में किये आसीन हैं। इनकी दायीं ओर पाँच मुनि अंजलिबद्ध दिखाये गये हैं, जो कदाचित् अपने उपाध्याय से अग्रिम पाठ हेतु अभ्यर्थना कर रहे हैं। उपाध्याय की बायीं ओर हाथ जोड़े हुए दो अन्य मुनियों का अंकन है जो एक अन्य उपाध्याय की ओर उन्मुख हैं। दूसरे उपाध्याय की ठीक बायीं ओर भी उन्हीं की ओर मुख किये एक मुनि निदर्शित हैं। इस मुनि के बाद एक तीसरे उपाध्याय का अंकन है, जिनकी बायीं ओर एक अंजलिबद्ध साधु अंकित है। तीर्थंकर मूर्ति की बायीं ओर भी उपर्युक्त दृश्यावलि ही कुछ विशेषताओं के साथ पुनः प्रस्तुत की गयी है।

५. अन्य उपाध्याय मूर्तियाँ—उक्त तोरण (चित्र सं. ८१) की भाँति एक अन्य द्वार तोरण, मं. सं. १२ के अर्द्धमण्डप के सामने रखा हुआ है[10]। जिसमें मध्यवर्ती पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति के दायें अपने आचार्य से दो उपाध्याय

---

१. दे.—चित्र सं. [illegible]४। २. इसी पर्वत के जैन स्मारकों में से यहाँ लाकर प्रदर्शित किया गया है। ३. दे.—चित्र सं. ८६। ४. सम्प्रति देवगढ़ ग्राम में दिगम्बर जैन चैत्यालय में सुरक्षित। ५. कनिंघम, कुहरर, साहनी आदि पुरातत्त्व अन्वेषकों को यह मूर्ति उपलब्ध नहीं हो सकी थी। क्योंकि मं. सं. १२ के गर्भगृह के टूटे हुए बेंडे (शहतीर) को सुरक्षा की दृष्टि से सम्हालने हेतु उक्त विद्वानोंके पर्यटन के पूर्व ही लोक निर्माण विभाग द्वारा एक दीवार का निर्माण कराया गया था। उस दीवार में एक मूर्ति भी पत्थर के रूप में समाविष्ट कर दी गयी थी। अभी कुछ वर्ष पूर्व श्री परमानन्द बरया ने बड़ी सावधानी के साथ उस दीवार को हटवाया था, दीवार की सामग्री में यह महत्त्वपूर्ण मूर्ति भी प्राप्त हुई। ६. सम्पूर्ण अभिलेख के लिए देखिए—परि. दो, अभि. क्र. तीन। ७. मं. सं. चार के गर्भगृह में पश्चिमी भित्ति में जड़ा हुआ। ८. दे.—चित्र सं. ७५। ९. दे.—चित्र सं. ८१। १०. दे.—चित्र सं. ८२।

अध्ययन कर रहे अथवा अपनी शंकाओं का निराकरण करा रहे हैं। इसके पश्चात् एक अन्य आचार्य अपने भक्त को सम्बोधित कर रहे हैं। मध्यवर्ती तीर्थंकर मूर्ति की बायीं ओर एक मुनि अपने उपाध्याय से अध्ययन में प्रवृत्त दिखाये गये हैं और इसके अनन्तर एक मुनि अपने विनम्र भक्तों को शास्त्र श्रवण करा रहे हैं। इस तोरण की टूटदार मेखें विशेष रूप से उल्लेखनीय कही जा सकती हैं।

अन्य उल्लेखनीय उपाध्याय मूर्तियाँ मं. सं. एक के दक्षिण में ध्वस्त अधिष्ठान पर[१], साहु जैन संग्रहालय में तथा स्तम्भ संख्या दो[२] (दक्षिण ओर), चार[३] आदि पर देखी जा सकती हैं।

(स) साधु-मूर्तियाँ

उपरिवर्णित आचार्य-उपाध्याय-मूर्तियों के अतिरिक्त देवगढ़ में साधुओं की अनेक स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

१. साधु द्वारा आहार ग्रहण : मं. सं. १२ के गर्भगृह और प्रदक्षिणा पथ के प्रवेश-द्वारों के दायें पक्षों पर एक मुनि का अंकन इस प्रकार हुआ है : मुनि खड़े हैं। भक्त उनके चरणों का प्रक्षालन कर रहा है और उसकी पत्नी कलश लिये खड़ी हैं।[४] यह आहार-दान का दृश्य है। इसे देखकर भ. ऋषभनाथ को प्रथम पारणा देते हुए राजकुमार श्रेयांस तथा उनके बड़े भाई राजा सोमप्रभ एवं भाभी रानी लक्ष्मीमती का स्मरण हो जाता है।[५]

२. सम्बोधन : मं. सं. २३ के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर एक मुनि का अंकन कदाचित् विहार की स्थिति में हुआ है, किन्तु मार्ग में किसी भक्त श्राविका के द्वारा विनय प्रदर्शित करने पर उसे सम्बोधित कर रहे हैं। मुनि अपने बायें हाथ में (टिहुनी के पास) कमण्डलु लटकाये हैं, पीछी कन्धे पर रखे हैं तथा दायें हाथ को उपदेश-मुद्रा में किये सम्बोधित कर रहे हैं। उनके सामने एक श्राविका सविनय नमन करती हुई अंकित है।[६]

३. शूकर को सम्बोधन : मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर एक मुनि शूकर को सम्बोधित करते हुए अंकित हैं।[७] इस अंकन में सम्बोधित प्राणी की शरीराकृति मानवाकार है। जबकि मुखाकृति शूकर-जैसी।

४. साधुविहार : देवगढ़ में मुनि-विहार से सम्बन्धित अनेक अंकन प्राप्त होते हैं। मं. सं. १२ के सामने पड़े हुए अवशेषों में एक द्वारपक्ष पर मुनि-विहार का सुन्दर निदर्शन हुआ है।[८] कोई भक्त उनका अनुगमन कर रहा है और उनके सामने एक दूसरा भक्त चरणवन्दना करता हुआ दिखाया गया है।

५. निश्चल योगिराज : मं. सं. १२ के अर्द्धमण्डप के स्तम्भों पर[९] तपस्यारत मुनि का अंकन अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। दो कोष्ठकों में मुनि के दोनों ओर खड़ी हुई स्त्रियाँ उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रही हैं किन्तु योगिराज अपनी साधना में ही लीन हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ये स्त्रियाँ निश्चल योगिराज को रिझाने का निष्फल प्रयत्न कर रही हैं।

६. संवाहन कराते हुए मुनि : मं. सं. १८ के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर दो कोष्ठकों में एक-एक साधु लेटे हुए अंकित किये गये हैं।[१०] उनके पीछी-कमण्डलु दूर पड़े हैं और एक-एक स्त्री उनके दायें पैरों को ऊपर उठाकर संवाहन कर रही है।

इसी द्वार पर इसी प्रकार का एक अंकन और भी हुआ है किन्तु उसमें मुनि का संवाहन कोई भक्त पुरुष कर रहा है।

(द) ऐलक :

देवगढ़ की जैन मूर्ति कला में ऐलक[११] का भी अंकन हुआ है। यहाँ के मं. सं. १५ के महामण्डप में ऐलक की

१. दे.—चित्र सं. ८५। २-३. दे.—चित्र सं. ४३। ४. दे.—चित्र सं. २२ और २३। ५. आ. जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), जिल्द एक, पर्व २०, श्लोक १०० तथा १२६। ६. इसी प्रकार का एक अंकन मं. सं. अठारह के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर भी देखा जा सकता है। ७. दे.—चित्र सं. २२। ८. दे.—चित्र सं. ६०। ९. दे.—चित्र सं. ९६। १०. दे.—चित्र सं. ६१ और ११६।

११. 'कौपीनमात्रवसनो करताल-भोजी स्थित्वासनेऽशनविधानपरः प्रकामम्।
स्वमोक्षमार्ग-निरतो विरतोऽन्यकार्याद् स्यादैलको निजरतः प्रतिमाप्रयोगी॥
—आ. कुन्थुसागर : श्रावक धर्म प्रदीप, पं. जगन्मोहन लाल सि. शा. सम्पा., (बनारस, २४८१ वी. नि.), पद्य २१२ और उसकी व्याख्या।

एक विशाल मूर्ति अवस्थित है। मूर्ति में मात्र कोपीन और कटिसूत्र स्पष्ट दिखाई देते हैं। मुखमुद्रा प्रशान्त, निर्विकार और संसार से विरक्त अंकित है।

(इ) साध्वी मूर्तियाँ

देवगढ़ की जैनकला में साध्वियों के अंकन अनेक रूपों में हुए हैं। कभी वे पाठशालाओं में उपस्थित दिखायी गयी हैं, कभी प्रवचन करती हुई अंकित की गयी हैं तो कभी आत्मचिन्तन में लीन आलिखित हैं।

१. प्रतिक्रमण कराती हुई आर्यिका—मं. सं. दस के मध्यवर्ती तीन स्तम्भों में से दक्षिणी स्तम्भ के पूर्वी कोष्ठक में आर्यिका[1] का उल्लेखनीय अंकन हुआ है।[2] एक कोष्ठक में आर्यिका खड़ी हैं। दायें उनका कमण्डलु रखा है और पीछी उलटी टँगी है। उनके बायें एक स्त्री कोने में दीवार से टिकी हुई उकडूँ बैठी है। उसने कुहनियाँ घुटनों पर रख छोड़ी हैं। हाथों के ऊपर का भाग खण्डित हो गया है, जिनमें कदाचित् पीछी रही होगी और वे अंजलिबद्ध भी रहे होंगे। आर्यिका के बायें रखा हुआ छोटा कमण्डलु कदाचित् इसी स्त्री का होगा। इस दृष्टि से यह स्त्री क्षुल्लिका या आर्यिका ही हो सकती है, श्राविका नहीं। प्रतीत होता है कि वरिष्ठ आर्यिका अपने अधीन कनिष्ठ आर्यिका या क्षुल्लिका को प्रतिक्रमण करा रही है।

इसी मन्दिर के मध्य के स्तम्भ में भी नीचे ध्यानरत आर्यिका का एक और अंकन है।

२. प्रवचन करती हुई आर्यिका—यहाँ के स्तम्भ सं. ११ पर दक्षिणी ओर एक विदुषी आर्यिका साध्वियों तथा श्राविकाओं को सम्बोधित कर प्रवचन कर रही हैं। उनके दोनों ओर एक-एक आर्यिका तथा दो-दो श्राविकाएँ बैठी हैं।

३. आर्यिका-संघ—यहाँ के स्तम्भ सं. तीन पर दक्षिणी तथा पश्चिमी कोष्ठकों में आर्यिका-संघ का अंकन हुआ है। दक्षिणी कोष्ठक में छह आर्यिकाएँ अपनी पीछी-कमण्डलु सहित विनयावनत मुद्रा में आलिखित हैं, जबकि पश्चिमी कोष्ठक में क्रमशः एक साधु के पश्चात् एक आर्यिका, इस प्रकार कुल तीन साधु और तीन आर्यिकाएँ अंकित हैं। इस कोष्ठक के सभी साधु-साध्वियाँ अपनी पीछियाँ तो बग़ल में दबाये हैं किन्तु उन सभी के कमण्डलु अदृश्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन और मूल्यंकनों से यह स्पष्ट है कि देवगढ़ की साधु-साध्वी संस्था अत्यन्त कर्तव्यपरायण और सावधान थी। समाज और संघ को सत्पथ पर बनाये रखने हेतु प्रायः वे सभी प्रयत्नशील रहते थे। बहुत कम साधु-साध्वियाँ उत्सूत्र-प्रवृत्ति की ओर उन्मुख थे।

८. श्रावक-श्राविकाएँ

श्रावक-श्राविकाओं की मूर्तियों का विधान भी साधु-साध्वियों की मूर्तियों की ही भाँति जैन-मूर्ति-शास्त्र में दृष्टिगत नहीं होता। इस विधान का उल्लंघन, जहाँ तक साधुओं का प्रश्न है, भरत और बाहुबली की मूर्तियाँ बनाकर किया गया। परन्तु जहाँ तक श्रावक-श्राविकाओं का प्रश्न है, कहा नहीं जा सकता—कब और किस रूप में इस विधान का उल्लंघन किया गया।

मथुरा में शक-काल की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें एक श्राविका[3] की भी है। इस दृष्टि से उक्त उल्लंघन का सूत्रपात शक-काल में हुआ प्रतीत होता है। कदाचित् इसी समय से दानदाताओं और दानदात्रियों की मूर्तियाँ भी बनने लगीं। तीर्थंकर की पूजा-भक्ति करते हुए श्रावक-युगल भी इसके पश्चात् अंकित किये जाने लगे। फिर तो श्रावक-श्राविकाओं के दैनिक जीवन की विभिन्न झाँकियाँ भी प्रस्तुत की जाने लगीं। चन्देलों तथा कच्छपघातों का समय आने तक ये झाँकियाँ धार्मिक क्षेत्र से दूर हो गयीं और उनका सामाजिक महत्त्व भी कम रह गया।

देवगढ़ में प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की मूर्तियों में धार्मिक तत्त्व ही अधिकतर हैं। दो-एक स्थानों पर ही ऐसे अंकन मिलते हैं जिन्हें चन्देलकालीन धर्मबाह्य अंकनों का पूर्वरूप कहा जा सकता है।

---

१. ग्यारह प्रतिमा के व्रत पालनेवाली तथा ऐलक के समान आचरण करनेवाली महिला। इसे सफ़ेद साड़ी, पीछी, कमण्डलु तथा शास्त्र का ही परिग्रह रखना चाहिए और बैठकर हाथ में भोजन करना चाहिए। और भी दे.—बृ. जै. शब्दा., पृ. ३८१। २. दे.—चित्र संख्या ६२।
३. (अ) वी. ए. स्मिथ : जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज ऑफ़ मथुरा, (इलाहाबाद, १९०१) पृ. २१ तथा फलक १४। (ब) वासुदेवशरण अग्रवाल : गाइड टु लखनऊ म्युजियम, पृ. १४ तथा आकृति एक।

देवगढ़ की उल्लेखनीय श्रावक-श्राविका-मूर्तियाँ

१. तीर्थंकर की माता : देवगढ़ में श्रावक-श्राविकाओं की मूर्तियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय मूर्ति तीर्थंकर की माता की है।[1] इसकी लम्बाई[2] ३ फ़ी. ९½ इंच और ऊँचाई बायें कोने पर २ फ़ी. १ इंच तथा दायें कोने पर १ फ़ी. ९ इंच है। आसन पर क्रमशः हाथी, सिंह, सिंह, हाथी और बालकधारिणी देवी अंकित हैं। इनके पार्श्व में खड़ी एक देवी तीर्थंकर की माता को चँवर डुला रही है। माता दायीं करवट लेटी हैं। उनकी दायीं कोहनी शय्या पर टिकी है और उठी हुई हथेली पर शिर थमा है। बायाँ पैर दायें के पीछे, घुटने से लगभग १२०° का कोण बनाता हुआ शय्या पर रखा है। बायें घुटने पर रखा बायाँ हाथ विश्राम ले रहा है। उस पर से लहराता हुआ उत्तरीय कमर का स्पर्श कर रहा है। दायाँ पैर सीधा और ऊपर को उठा हुआ है जिसे पास में बैठी हुई एक देवी अपने बायें हाथ से सम्हाले है तथा दायें से उसका संवाहन कर रही है। माता का मुकुट, कर्णाभरण, मोहनमाला, ठुसी,[3] केयूर, कंकण, मेखला और पायल अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकित हैं। फलक पर फणामण्डित पार्श्वनाथ सहित चौबीस तीर्थंकरों की प्रस्तुति है। इस प्रकार यह पाषाण-खण्ड चौबीस तीर्थंकरों का प्रतिनिधित्व तो करता ही है, उनकी माताओं का संयुक्त प्रतिनिधित्व भी पूर्ण सफलता से करता है। माता के मुखमण्डल पर जहाँ एक ओर स्निग्ध पवित्रता और सौन्दर्य की रेखाएँ उभर उठी हैं, वहाँ दूसरी ओर तीर्थंकर की माता होने-जैसे महान् गौरव की भावना भी हिलोरें ले रही है। शय्या के नीचे एक पंक्ति का अभिलेख उत्कीर्ण है। उसमें इस मूर्ति के समर्पणकर्ता का नाम और निर्माणकाल सं: १०३० (ई. सन् ९७३) का उल्लेख है।[4]

२. तीर्थंकर-माता का एक अन्य मूर्त्यंकन—देवगढ़ में तीर्थंकर की माता का अंकन और भी एक स्थान पर हुआ है।[5] सबसे नीचे दो सिंहाकृतियाँ अंकित हैं। उनके ऊपर स्थित शय्या पर माता उपधान पर मस्तक रखे दायें करवट से लेटी हैं। उनके दोनों ओर खड़ी एक-एक देवी चँवर डुला रही हैं। माता के पीछे कल्पवृक्ष का अंकन है। इसपर विद्यमान आसन पर तीर्थंकर की एक पद्मासन मूर्ति और उसके दोनों ओर एक-एक चँवरधारी यक्ष अंकित हैं।

तीर्थंकर की माता का मूर्त्यंकन सर्वप्रथम कदाचित् शक-काल में हुआ। मथुरा में प्राप्त हुए शिलाफलक[6] के मध्य में तीर्थंकर की माता खड़ी हैं। उनकी वेशभूषा प्रभावोत्पादक है। दायाँ हाथ ऐसा प्रतीत होता है मानो अभयमुद्रा में हो। बायाँ हाथ कमर पर रखा है, जिससे कुहनी आगे को निकल आयी है। माता के दायें खड़ा एक परिचारक उनके मस्तक पर छत्र धारण किये है। वहीं एक परिचारिका हाथ में माला लिये खड़ी है। परिचारक और माता के बीच एक बालक या बालिका हाथ जोड़े खड़ी है। माता के बायें एक स्त्री खड़ी हुई है तथा वह चँवर डुला रही है।

ओसिया (जोधपुर, राजस्थान) के महावीर मन्दिर की चहारदीवारी में एक दिलहा (टिकड़ा) (PLAQUE) स्थित है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों की माताओं का अंकन हुआ है, जिनकी गोद में एक-एक बालक है।[7] 'इस प्रकार के दिलहों को उत्कीर्ण करने की पद्धति मध्यकाल में प्रचलित रही, ऐसे निदर्शन पाटन, गिरनार, आबू आदि में प्राप्त होते हैं, परन्तु ओसिया का दिलहा अबतक उपलब्ध ऐसे दिलहों में प्राचीनतम है।'[8]

इस प्रकार हमने यह देखा कि तीर्थंकर की माता का अंकन कदाचित् शक-काल (ई. पू. प्रथम शती) से प्रारम्भ हुआ। उक्त दोनों उदाहरणों में माता खड़ी दिखायी गयी है, जबकि देवगढ़ के उक्त दोनों उदाहरणों में उसे एक विशिष्ट मुद्रा में लेटी हुई अंकित किया गया है। कलाकार को यह अनोखी सूझ कहाँ से प्राप्त हुई, यह विचारणीय है। अमरावती के स्तूप में संगमरमर का एक उत्कीर्ण फलक (५ फ़ी. २ इंच × ३ फ़ी. २ इंच) मिला है। लगभग प्रथम शती के इस

१. दे.— चित्र सं. ११। यह मूर्ति-फलक मं. सं. चार के गर्भगृह की बायीं भित्ति में जुड़ा हुआ है। २. श्री दयाराम साहनी ने गलती से इसे ३ फ़ी. साढ़े आठ इंच नापा था। दे.—ए. पी. आर.—१९१८, परि. 'अ', अभि. क्र. २६, पृ. १४। ३. ठुसी एक प्रकार का गलहार है। यह आभूषण बुन्देलखण्ड में बहुत प्रचलित रहा है। ठुसी का तत्सम रूप 'कण्ठश्री' है। भाषा विज्ञान की प्रकृति के अनुसार 'कण्ठश्री' से 'ठुसी' शेष रहना सम्भव है। मथुरा की मूर्तियाँ भी इस प्रकार के आभूषण पहने हैं। दे.—मथुरा संग्रहालय की यक्षी-मूर्ति क्र. जे. दो। ४. श्री दयाराम साहनी ने इसे भ्रमवश संवत् १८०१ पढ़ा था। दे.—वही। ५. मं. सं. ३० के गर्भगृह में स्थित १ फ़ी. ६ इंच ऊँचे और १ फ़ी. ४ इंच चौड़े शिलाफलक पर। ६. इसके विशेष परिचय तथा समय-निर्धारण आदि के लिए देखिए—डॉ. उ. प्रे. शाह : स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. १०-११ और ७८-७९ तथा फलक पाँच, आकृति १४ (अ)। ७. विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—डॉ. उ. प्रे. शाह : जर्नल आफ़ दी इण्डियन सोसायटी आफ़ ओरियण्टल आर्ट, भाग ६, पृ. ४८। ८. डॉ. उ. प्रे. शाह : स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. १८।

फलक पर मायादेवी का स्वप्न और बुद्ध का जन्म अंकित किया गया है।[1] बुद्ध की माता का इसी प्रकार का एक प्रस्तरांकन (ई. प्रथम शती) भरहुत में भी हुआ है, जो अब कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित है। देवगढ़ के ही दशावतार मन्दिर में अनन्तशायी विष्णु का प्रभावोत्पादक अंकन हुआ है।[2] उदयगिरि (विदिशा) की एक गुफा में अनन्तशायी विष्णु की विशाल आकृति उत्कीर्ण है। प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, बम्बई में ऐहोल से प्राप्त एक मूर्ति शेषशायी विष्णु की भी प्रदर्शित है।[3] एरण में शेषशायी विष्णु (ई. सातवीं शती) की आकर्षक मूर्ति प्राप्त है। विदिशा में भी इनकी अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। इन तथा ऐसे ही अन्य मूर्त्यंकनों के रहते हुए जैन-भक्त की यह स्वाभाविक इच्छा रही होगी कि उसके धर्म-स्थानों पर भी ऐसे ही भव्य और प्रेरक मूर्त्यंकन उपलब्ध हों। परन्तु उसके समक्ष मायादेवी या विष्णु के समान लेटा हुआ दिखाया जाने योग्य पात्र खोज निकालने की समस्या आयी होगी। क्योंकि तीर्थंकर की यह स्थिति सम्भव नहीं, कोई देव, पूजा का पात्र नहीं, कोई साधु अलंकरण और परिकर के साथ दिखाया नहीं जा सकता और किसी राजा या अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को जैन मन्दिर में उत्कीर्ण नहीं किया जा सकता। पर कदाचित् किसी भट्टारक के अध्ययन या देखने में तीर्थंकर की माता के उपर्युक्त (या किन्हीं अन्य) अंकनों में से कोई आया होगा। और उसने यही पात्र मायादेवी या शेषशायी विष्णु की अनुकृति के लिए सर्वाधिक अनुकूल समझा होगा। फिर कलाकार की छेनी चल पड़ी और देवगढ़ की जैन कला में इस आकर्षक तथा उत्कृष्ट कृति का निर्माण हो उठा।

तीर्थंकर-माता की इन दो मूर्तियों के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओं की और भी अनेक मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत की गयी हैं—

३. भक्त श्रावक-श्राविका—आचार्य परमेष्ठी[5] की सेवा में खड़े एक चँवरधारी श्रावक के कन्धे पर झोली टँगी है। इसके दोनों हाथ कलाइयों के ऊपर से खण्डित हैं। उसका झुका हुआ किन्तु खण्डित मस्तक हमें भी भक्ति से अभिभूत कर देता है। आचार्य की दूसरी ओर एक श्राविका जो कदाचित् उक्त श्रावक की पत्नी होगी छत्र धारण किये खड़ी है।[6] यह छत्र किंचित् खण्डित होकर भी अपनी कलागत विशेषता के लिए उल्लेखनीय है। श्राविका की वेश-भूषा और आभूषण सादे किन्तु मोतियों के हैं। उत्तरीय पीछे से हाथों में फँसकर फिर पीछे निकल गया है। केश-सज्जा खजुराहो की कला का स्मरण दिलाती है। मुखमण्डल खण्डित है।

इसी मन्दिर (सं. १) के मण्डप में एक मूर्तिफलक के पादपीठ में विनम्र श्राविका की वेशभूषा में उसकी स्तनपट्टिका विशेष उल्लेखनीय है।

४. विनयी श्रावक—यहाँ जैन चहारदीवारी में एक ऐसी श्रावक-मूर्ति[7] जड़ी हुई है, जो वस्त्राभूषण, परिष्कृत-अभिरुचि एवं विनम्र भाव-भंगिमा आदि की दृष्टि से विशेष तथा विरल कही जायेगी। उसकी वेश-भूषा जहाँ उसके समृद्ध वैभव और ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति करती है वहाँ सहज करबद्ध विनय-मुद्रा उसकी आन्तरिक पवित्रता तथा विनम्रता को सूचित करती है।

कदाचित् यह मूर्ति किसी ऐसे समृद्ध श्रावक की है जिसने यहाँ किसी विशेष जिनालय का निर्माण कराया होगा और वह अपने अभीष्ट तीर्थंकर के समक्ष सदैव विनय प्रदर्शित करना चाहता होगा। अतः मूलरूप में यह मूर्ति किसी मन्दिर के बाहर मूलनायक तीर्थंकर की ओर मुख करके स्थापित की गयी होगी।

यद्यपि अब इसके मुख और पैरों का कुछ भाग खण्डित हो गया है, तथापि यह मूर्ति आकर्षण का केन्द्र है ही।

---

१. (अ) हर्बर्ट एड्म : आर्ट आफ दी वर्ल्ड (इण्डिया), (बम्बई, १९५९), पृ. ६८ (ब) बारोसी : एनसाइक्लोपीडिया आफ मिथालोजी : स्पीकिंग इन ओन्ली आर्ट कैपिटल्स औरेल्स एण्ड ट्रान्सलेटिड इन इण्डिया आर्ट रिचर्ड एल्डिंग्टन एण्ड डेलानो एमस, (लन्दन, १९५९), पृ. ३४१। (स) आर. सी. मजूमदार : दी एज आफ इम्पीरियल-यूनिटी, (बम्बई, १९५१), फलक ९६, आकृति १४। २. दक्षिणी बहिर्भित्ति की देवकुलिका में ४ फी. ११ इंच×३ फी. १० इंच के आकार में अंकित। ३. इसके विस्तृत वर्णन के लिए दे.—(अ) मं. माधवस्वरूप वत्स : दी गुप्त टेम्पल एट देवगढ़ : (मे. आफ, आर्क. सर्वे. नम्बर क्र. ७०); पृ. १४-१५ तथा फलक १० (बी)। (ब) गोपीनाथ राव : एलिमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, जिल्द एक, पृ. ११०-१२ तथा फलक ११। (स) विलियम ह. जिम्मर : द हिस्ट्री आफ आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, फलक ६४ (अ)। ४. सुदर्शन प्रो हरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर, (लन्दन, १९५९), पृ. ३९९ तथा फलक १४७, आकृति १८६। ५. मं. सं. एक के मण्डप में खड़े हुए। ६. दे.—चित्र सं. ८०। ७. दे. चि. सं. १९१।

५. उदासीन श्रावक—देवगढ़ की जैनकला में ऐसे श्रावकों का भी निदर्शन हुआ है जो आधिभौतिक सन्ताप से सन्त्रस्त हो संसार से विमुख होकर अध्यात्म-पथ को आत्मसात् करना चाहते थे। और एतदर्थ वे निर्जन वनों अथवा शान्त जिनालयों में पहुँचकर आत्म-चिन्तन में लीन हो जाते थे।

मं. सं. दस के उत्तरी स्तम्भ पर पूर्व की ओर बाह्य संसार से विमुख किन्तु आत्म-चिन्तन में लीन एक ऐसे ही उदासीन-श्रावक का अंकन हुआ है।[1] यह श्रावक पद्मासन में बैठकर आत्ममनन कर रहा है। उसकी वेशभूषा में तनीदार दुहरी छाती की अँगरखी तथा शिर पर टोपा दर्शनीय है। उदासीन श्रावकों की वेश-भूषा अब भी प्रायः ऐसी ही होती है।

६. अन्य अंकन—श्रावक-श्राविकाओं के उक्त मूर्त्यंकनों के अतिरिक्त पाठशालाओं में अध्ययनरत,[2] अतिथियों की सेवा में संलग्न[3] और मण्डलियों में नृत्य-गीत आदि तन्मय[4] मूर्त्यंकन भी प्रभावोत्पादक हैं। कुछ श्रावक-मूर्तियों में दाढ़ी का अंकन[5] भी दर्शनीय है।

९. युग्म और मण्डलियाँ

सामान्य अनुशीलन

देवगढ़ के स्थापत्य में युग्मों और मण्डलियों का उपयोग सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा अलंकरण के लिए हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिव-पार्वती और विष्णु-लक्ष्मी आदि के युग्मों के अनुकरण पर अन्य देव-देवियों के और फिर समय-क्रम से सामान्य मनुष्यों के युग्म भी अंकित किये जाने लगे। प्रारम्भ में उनका उद्देश्य धार्मिक रहा होगा और बाद में उसे सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर भी अंकित किया गया होगा। उत्तरवर्ती काल में स्थापत्य जब विकास की चरम सीमाओं का स्पर्श कर रहा था तब उसके स्तम्भों, द्वार-पक्षों, तोरणों, गवाक्षों, देवकुलिकाओं और भित्तियों आदि पर अलंकरणों की आवश्यकता हुई। इन अलंकरणों में प्रारम्भ में पत्रावलि-रचना, पशु-पक्षियों के अंकन आदि प्राकृतिक तथा आखेट आदि सामाजिक दृश्यों को स्थान मिला। इसके पश्चात् युग्मों और मण्डलियों का प्रचार बढ़ा। वज्रयानी साधुओं और कोल-कापालिकों की नीतियों के फलस्वरूप मण्डलियों का प्रचार प्रायः कम हो गया तथा युग्मों का अंकन बहुत बढ़ गया। उस समय (ई. १०वीं से १३वीं शती तक) मदनिकाओं, अप्सराओं और सुर-सुन्दरियों के अंकन भी बहुत लोकप्रिय हुए। इन्हें प्रसाधन, पत्र-लेखन, कन्दुक-क्रीड़ा आदि के बहाने अनेक प्रकार की आकर्षक मुद्राओं में प्रदर्शित किया जाने लगा। स्थिति यहाँ तक आगे बढ़ी कि मन्दिर के शान्त और पवित्र वातावरण में काम-शास्त्र के विविध आसनों का मूर्तिगत प्रयोग होने लगा। खजुराहो, कोणार्क, भुवनेश्वर आदि स्थानों पर मध्यकाल में निर्मित मूर्तियों में उत्तानभोगवाद के विभिन्न दृश्य अब भी देखे जा सकते हैं। जहाँ तक देवगढ़ और उसके समीपवर्ती कला-केन्द्रों—चाँदपुर, जहाजपुर, दूधई, सेरोन, अहार, पपौरा, बानपुर, बरुवासागर आदि का प्रश्न है, वहाँ उक्त स्थिति अपने प्रारम्भिक रूप में ही आकर रह गयी। यहाँ मदनिकाओं और सुर-सुन्दरियों आदि के अंकन बहुत मिलते हैं, पर युग्मों के कम। कुछ युग्म सम्भोगमुद्रा में भी दिख जाते हैं, पर उसकी मूर्तियों का आकार कहीं भी पाँच-छह इंच से अधिक नहीं है, जबकि खजुराहो आदि में उनकी मूर्तियाँ १५ इंच से ४० इंच तक की बड़ी मिलती हैं।

(अ) युग्म

रतिचित्र

देवगढ़ में प्रायः दो प्रकार के रति-चित्र मिलते हैं—(१) प्रेमासक्त युग्म और (२) सम्भोगरत युग्म।

१. प्रेमासक्त युग्म—साहु जैन संग्रहालय में प्रेमासक्त युग्मांकित एक ऐसा शिलाफलक[6] सुरक्षित है जो अपने

---

१. दे.—चित्र सं. ६४। २. दे.—चित्र सं. ७७ से ८२ तक। ३. दे.—मं. सं. १२ के प्रदक्षिणा-पथ और गर्भगृह के प्रवेश-द्वार तथा मं. सं. १८ के महामण्डप का प्रवेश-द्वार आदि। और भी दे.—चित्र सं. २२, २३ आदि। ४. दे.—चित्र सं. १६, २०, २२, २३, ३१, ५७, १०६, ११८ तथा जैन चहारदीवारी, विभिन्न मन्दिरों के प्रवेश-द्वार आदि। ५. दे.—चित्र सं. ८८, १२१ आदि। ऐसे मूर्त्यंकनों के लिए और भी दे.—मं. सं. एक का पृष्ठ भाग, मं. सं. १२ के प्रदक्षिणा पथ का प्रवेश-द्वार (दायें पक्ष पर), स्तम्भ सं. ११ आदि। ६. दे.—चित्र सं. १११।

कला-वैशिष्ट्य और स्वाभाविक आलेखन के लिए उल्लेखनीय है। इसमें प्रेमी और प्रेमिका का शारीरिक लावण्य तो आकर्षक है ही, उनकी भावपूर्ण किन्तु संयत-मुद्रा और स्नेहाधीन-दृष्टि भी उनके पारस्परिक अनुराग को व्यक्त कर रही है। दोनों के वस्त्राभूषण अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। वे एक-दूसरे को प्रेम-पाश में सँजोये होकर भी सामाजिक शिष्टाचार का पालन करते हुए प्रतीत होते हैं।

जैन चहारदीवारी,[1] मं. सं. ग्यारह[2], मं. सं. बारह[3], मं. सं. अठारह, मं. सं. अट्ठाईस[4] तथा मं. सं. बारह के सामने पड़े हुए अवशेषों[5] आदि में प्रेमासक्त युग्मों के कुछ ऐसे अंकन प्राप्त होते हैं जिनमें उद्दाम यौवन का उद्वेग प्रकट हुए बिना नहीं रह सका है। उनकी वेश-भूषा वैभव-सम्पन्नता की परिचायिका है। ये अपनी प्रेमिका के प्रायः स्तन-स्पर्श करते हुए दिखाये गये हैं, जबकि कुछ स्थानों[6] पर वे एक दूसरे को प्रेम-पूर्ण दृष्टि से तो निहार रहे हैं और प्रेमालाप भी कर रहे हैं, किन्तु स्तन-स्पर्श नहीं कर रहे।

२. **सम्भोगरत युग्म**—यहाँ मं. सं. ग्यारह के दूसरे खण्ड के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर बायें एक ऐसा युग्म[7] भी प्राप्त होता है, जिसे संभोग-मुद्रा में अंकित किया गया है।

३. **शुचिस्मिता**—मं. सं. ग्यारह के दूसरे खण्ड के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर बायें एक ऐसी नायिका आलिखित है जो अपने बायें हाथ में दर्पण सम्हाले है तथा दायें से ओष्ठ को। प्रतीत होता है कि वह दर्पण की सहायता से अपनी ही रूप-राशि का पान कर रही है।[8] इसी प्रकार का एक और अंकन मं. सं. १८ के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर देखा जा सकता है। एक कोष्ठक में एक युग्म अंकित है। इसमें नायिका दर्पण की सहायता से अपने सौन्दर्य को निहारती और ललाटिका ठीक करती हुई अंकित की गयी है।[9]

शुचिस्मिता नायिका की चर्चा करते हुए हम पहले ही लिख चुके हैं कि देवगढ़ में खजुराहो-कला का पूर्व-रूप भली-भाँति देखा जा सकता है। उपर्युक्त सम्भोगमुद्रा में (दे. चित्र सं. १२०) प्राप्त रति-चित्र हमें पुनः एक बार अपने उक्त विचार को दृढ़तर बनाने की प्रेरणा देता है। हमारे इस विचार को यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि देवगढ़ ने खजुराहो से प्रेरणा पायी थी न कि खजुराहो ने देवगढ़ से। कारण यह है कि यहाँ की कला खजुराहो की कला की अपेक्षा कम विकसित और यहाँ की मूर्तियाँ खजुराहो की कला की अपेक्षा काफ़ी छोटी हैं, यही नहीं यहाँ ऐसे दृश्यों को उन महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अंकित भी नहीं किया गया जिनपर खजुराहो में, और फिर ऐसे दृश्यों की संख्या भी यहाँ खजुराहो की अपेक्षा नगण्य है।

(ब) मण्डलियाँ

देवगढ़ में धार्मिक अनुष्ठानों, सामाजिक उत्सवों, विभिन्न आनन्ददायी अवसरों आदि पर नृत्य, वाद्य और संगीत की मण्डलियाँ सक्रिय रहती थीं। यहाँ के मण्डली-दृश्यों में कभी केवल नृत्य, कभी केवल वाद्य और कभी दोनों का अंकन प्राप्त होता है।

१. **नृत्य-मण्डली**—जैन चहारदीवारी की भीतरी (पश्चिमी) दीवार में प्रवेश द्वार के दक्षिण में नृत्य-मण्डली का बहुत प्रभावोत्पादक अंकन हुआ है।[10] वाद्ययन्त्रों के लय और ताल पर पाद विक्षेप करती हुई नर्तकियों की हस्त-मुद्राएँ एवं मुखाकृतियाँ दर्शनीय हैं। सम्पूर्ण अंकन अत्यन्त कलापूर्ण है।

जैन चहारदीवारी में ही नृत्यमण्डली का एक और प्रभावशाली अंकन देखा जा सकता है।[11]

मं. सं. बारह के अर्द्ध-मण्डप के तोरणों पर नृत्य-मण्डलियों के बहुत सुन्दर आलेखन हुए हैं।

देवगढ़ की नृत्य-मण्डलियों में अनुराग में सराबोर पुरुष-वर्ग भी कभी थाप देता है तो कभी नृत्य में अपनी प्रेयसियों का साथ। यहाँ नृत्य-मण्डलियों के अन्य अंकन जैन चहारदीवारी, मं. सं. चार, ग्यारह, बारह, बाईस आदि के

---

१. दे.—चित्र सं. १२१ तथा १०६। २. दूसरी मंजिल के बायें द्वार पक्ष पर। दे.—चित्र सं. १२०। ३. प्रदक्षिणा पथ तथा गर्भगृह के प्रवेश-द्वारों पर। दे.—चित्र सं. १८, २३। ४. दे.—चित्र सं. ३३। ५. दे.—चित्र सं. ६०। ६. दे.—मं. सं. चार और बारह आदि के द्वार। और भी दे.—चित्र सं. २१, २२ एवं ११४। ७. दे.—चित्र सं. १२०। ८. दे.—चित्र सं. ११७। ९. दे.—चित्र सं. ११६। १०. दे.—चित्र सं. ५७। ११. दे.— चित्र सं. १०६।

प्राप्त देखे जा सकते हैं, जिनमें नृत्य-मग्न स्त्री-पुरुषों के भावपूर्ण और सुरुचिसम्पन्न अंकन हुए हैं।[1]

८. वाद्य-मण्डली—वाद्य-मण्डलियों के अत्यन्त समृद्ध एवं कलामय अंकन देवगढ़ की जैन कला में उपलब्ध होते हैं। वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग नृत्य और संगीत आदि की मण्डलियों में हुआ है।[2] स्वतन्त्र रूप से भी वाद्य यन्त्रों का उपयोग हुआ है।[3] स्त्री और पुरुष दोनों ही इस प्रकार की मण्डलियों में सम्मिलित पाये गये हैं। यहाँ की मण्डलियों में झाँझ, मँजीरा, मृदंग, ढोलक, वेणु, वीणा, इकतारा, तुरही, तमूरा, घंटा, शंख आदि अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्र प्रयुक्त पाये जाते हैं।[4]

९. संगीत-मण्डली—देवगढ़ में संगीत-मण्डलियों के अनेक कलापूर्ण अंकन प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ का समाज संगीत का केवल रसिक ही नहीं था, प्रत्युत उसमें प्रशिक्षित भी था तथा वहाँ की पाठशालाओं में संगीत-शिक्षा का प्रबन्ध भी रहा होगा।

मं. सं. बारह के अर्द्धमण्डप[5], जैन चहारदीवारी[6] में जड़े हुए शिलाफलकों पर समृद्ध संगीत-मण्डलियों के अंकन अपनी पूर्णता एवं कलागत सूक्ष्मता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। इनसे स्पष्ट है कि यहाँ संगीत की बड़ी-मण्डलियाँ थीं और समय-समय पर अनेक आयोजनों में उनके मनोरंजक कार्यक्रम हुआ करते थे। संगीत-मण्डलियों के और भी बहुत से दृश्य देवगढ़ में अंकित मिलते हैं।

उक्त सभी मण्डलियों में उत्कीर्ण मूर्तियाँ आकार में लघु होने पर भी स्पष्ट और आकर्षक बन पड़ी हैं। उनके अंग-प्रत्यंगों के सार्थक उभारों तथा सूक्ष्म रेखांकनों के निरीक्षण से धारणा बनती है कि यह कला नवमी शती के बाद की नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें गुप्तकालीन कला के अनेक लक्षण-परम्पराएँ अवशिष्ट हैं, जबकि चन्देलकालीन कला का प्रारम्भिक रूप भी उनमें दृष्टिगत नहीं होता।

१०. प्रतीक

प्रतीक की स्वीकृति

मानव-संस्कृति में प्रतीक की स्वीकृति उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव की ज्ञान-चेतना। प्रत्यक्ष-वस्तु को शब्दों द्वारा प्रकट करने की प्रथम चेष्टा ने ही प्रतीक की मान्यता का सूत्रपात किया।

प्रतीक-विकास

समय के साथ प्रतीक का भी विस्तार होता गया और वह अब शब्दों तक ही सीमित न रह गया। शब्दों से अधिक सरल और संक्षिप्त प्रतीक दूसरा नहीं, परन्तु कभी-कभी अस्पष्ट या अदृश्य वस्तुओं का सर्वसाधारण को बोध कराने में शब्द असफल भी हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को अभीष्ट वस्तु का प्रतीक माना जाने लगा। एक वस्तु के प्रतीक के रूप में दूसरी वस्तु की ही स्वीकृति अपने आप में एक बहुत बड़ी घटना थी। प्रतीकात्मक वस्तु ही आगे चलकर दो रूपों में परिणत हुई। उसका प्रथम रूप था—अतदाकार, जिसे हम यथार्थ शब्दों में 'अनगढ़' कहें तो अधिक अच्छा होगा। मिट्टी के ढेले या पत्थर के टुकड़े से पर्वत का और जल की क्षुद्र धारा से विशाल नदी का बोध कराना भी प्रतीकों में स्थान पाता है। यही द्वितीय, तदाकार प्रतीक की मान्यता का सूत्रपात है।

विभिन्न रूप

अब हमारे समक्ष प्रतीक के तीन रूप स्पष्ट हैं—

१. शब्दात्मक, २. अतदाकार और ३. तदाकार।

वर्तमान विचारकों और दार्शनिकों के विचार से अब कदाचित् शब्दात्मक प्रतीक को प्रतीक-कोटि में न रखा जाए, पर शेष दो प्रतीक तो अब भी मान्य हैं।

---

१. दे.—चित्र सं. १६,११,२३ आदि। २. दे.—चित्र सं. ५७,१०१,११८ आदि। ३. दे.—चित्र सं. १६,१८,२२,२३, ११६, १२१ आदि। ४. दे.—चित्र सं. १६,२०,२२,२३,२५,५७,१०१,११८ आदि। ५. दे.—चित्र सं. ११८। ६. दे.—चित्र सं. ५७ और १०१।

मानव की विवेकात्मक या उपयोगी-अनुपयोगी वस्तुओं में भेद करने की योग्यता के विकास के साथ प्रतीक-मान्यता ने भी विभिन्न रूप धारण किये। उपयोगी वस्तु का प्रतीक शुभ माना जाने लगा और अनुपयोगी वस्तु का प्रतीक अशुभ। यहीं से प्रतीकों के प्रति सम्मान या असम्मान का भाव जागृत होता है। उपयोगी या अभीष्ट वस्तु के प्रतीक की कल्पना अधिक सुन्दर रूप में की गयी। प्रारम्भ में उसकी तदाकारता या अतदाकारता पर कम ध्यान दिया गया, परन्तु मानव में ज्यों-ज्यों कलाबोध विकसित हुआ, त्यों-त्यों प्रतीक की तदाकारता को महत्त्व मिलता गया। तदाकार प्रतीक को महत्त्व इसलिए भी मिला कि वह मानवभावना को अतदाकार प्रतीक की अपेक्षा अधिक शीघ्रता एवं सुन्दरता से अनुकृत कर लेता है।

मूर्ति कल्पना

प्रतीक के क्षेत्र में मानव की सुन्दरतम उपलब्धि थी—मूर्ति की कल्पना। उसने प्रारम्भ में जब अपने सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति को मूर्ति के रूप में प्रस्तुत कर लिया होगा, तब वह अपनी अपूर्व सफलता पर झूम उठा होगा। मूर्तिरूप प्रतीक की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ी और अब भी बढ़ रही है। यह प्रतीक भी समयक्रम से शुभ एवं अशुभ के रूप में विभक्त हो चला। अशुभ वस्तु को मूर्तरूप प्रतीक देने में मानव ने अपना अपमान अनुभव किया और यही कारण है कि अनुपयोगी या दुरुपयोगी वस्तुओं के प्रतीक या तो मूर्तरूप नहीं होते या उनका मूर्तरूप उतना सुघड़ तथा कलापूर्ण नहीं होता, जितना कि उपयोगी वस्तुओं का।

मूर्ति-पूजा का जन्म

मूर्तरूप प्रतीक चूँकि उपयोगी या अभीष्ट वस्तु का ही बनाया जाने लगा, अतः उसकी मान्यता भी बढ़ चली। यह मान्यता विभिन्न रूपों में प्रकट हुई। मूर्ति को सुरक्षित तथा सुन्दर स्थान में रखा गया। अभीष्ट प्रेरणा या शक्तिसंचार के लिए उसके सामयिक या दैनिक दर्शन का विधान किया जाने लगा। यहीं से मूर्ति-पूजा की प्रथा को जन्म मिला।

इस दृष्टि से, इतने से उद्देश्य से ही यदि मूर्ति-पूजा की स्वीकृति मानें तो कहना होगा कि आज संसार में कदाचित् ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो मूर्तिपूजक न हो। परन्तु मानव ने जब से भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से अपनी सीमाएँ संकीर्ण कीं या ऐसी सीमाओं का अनुभव किया, तब से उसकी मूर्तिपूजा ने भी देश, काल तथा परिस्थिति के अनुकूल रूप-रूपान्तर धारण किये। कहीं तदाकार मूर्तिरूप प्रतीक की पूजा प्रारम्भ हुई तो कहीं अतदाकार मूर्तिरूप की।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यहाँ तदाकार मूर्तिरूप प्रतीक को ही अधिकतर पूजा प्राप्त हुई। अब से पचास शताब्दी पूर्व यहाँ मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। उससे पचीस शताब्दी पश्चात् यहाँ उसकी जड़ें इतनी गहरी जम चुकी थीं कि महात्मा बुद्ध-जैसे अद्भुत प्रभावशाली व्यक्ति के आदेश का उल्लंघन करके भी मनुष्य ने मूर्ति-पूजा चालू रखी।

मूर्तियों के पात्र

अब मूर्ति के पात्रों के रूप में भारत में—शिव, विष्णु, ऋषभ, पार्श्वनाथ, महावीर और बुद्ध-जैसी महान् विभूतियाँ स्वीकृत की जाने लगीं। किन्तु कदाचित् जनसंख्या के विस्तार एवं रुचिवैभिन्न्य के फलस्वरूप मूर्ति के पात्रों में वृद्धि हो चली। प्राकृतिक शक्तियों को, जिन्हें अबतक शब्दात्मक या अतदाकार प्रतीक ही प्राप्त थे, अब मूर्तरूप प्रतीक प्राप्त होने लगे, यद्यपि ऐसी मूर्तियों को वह मान्यता कभी नहीं मिली जो पूर्व-स्वीकृत शिव आदि की मूर्तियों को प्राप्त हुई और फिर इन पात्रों की संख्या इतनी अधिक बढ़ी कि उनके प्रति पूजा की भावना अपेक्षाकृत निर्बल हो गयी। फलस्वरूप उन्हें वह अलंकरण और स्थान भी प्राप्त न हो सका जो पूर्व स्वीकृत मूर्तियों को हुआ। यही कारण है कि अन्य मूर्तियों को पूर्व-स्वीकृत मूर्तियों के परिचारक या पूरक के रूप में प्रस्तुत किया गया। जब एक मूर्ति के लिए मन्दिर का निर्माण किया गया तब अन्य मूर्तियों को या तो मन्दिर के सज्जागत तत्त्वों में स्थान दिया गया या मुख्य-मूर्ति के समीप कहीं।

जैनधर्म में प्रतीक

प्रतीक का अस्तित्व जैनधर्म में आदिकाल से रहा है। शास्त्रीय विधानों के अनुसार कुछ मूर्तियाँ और मन्दिर

तो ऐसे हैं जो केवल प्रकृति की देन हैं,[1] उनका न आदि है और न अन्त। यह दूसरी बात है कि वर्तमान मनुष्य उन तक पहुँच नहीं सका है।

मनुष्य द्वारा निर्मित प्राचीनतम जैनमूर्ति कौन है, यह विचारणीय है। पटना संग्रहालय में लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन एक जैन-मूर्ति प्रदर्शित है।[2] हड़प्पा में भी एक नग्न मूर्ति प्राप्त हुई है।[3] इन दोनों मूर्तियों में परम्परा और लक्षणों की दृष्टि से इतनी अधिक समानता है कि हड़प्पा की मूर्ति को जैन कहने में संकोच नहीं होता। स्व. प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) ने सिन्धु घाटी में ही प्राप्त एक मुद्रा (क्रमांक ४४९) पर 'जिनेश्वरः' पढ़ा था। यदि पर्याप्त प्रमाणों से यह सब सम्पुष्ट हो जाता है तो जैनमूर्ति की प्राचीनता अबसे लगभग पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मानी जायेगी।

प्राचीन जैन ग्रन्थों—आवश्यक चूर्णि, निशीथचूर्णि, वसुदेवहिण्डी, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित, आदि में, एक मनोरंजक घटना का वर्णन प्राप्त होता है: सिन्धु सौवीर के शासक उद्रायन के पास जीवन्त स्वामी की एक चन्दननिर्मित मूर्ति थी। यह मूर्ति भगवान् महावीर की थी, जिसे उनके जीवनकाल में ही निर्मित किये जाने के कारण 'जीवन्त-स्वामी' की मूर्ति कहा गया है। उज्जैन के शासक प्रद्योत ने अपनी एक दासी-प्रेमिका के द्वारा यह मूर्ति चोरी से प्राप्त कर ली और उसके स्थान पर तदनुरूप काष्ठ-निर्मित मूर्ति स्थापित करा दी थी। जीवन्त स्वामी की इस मूर्ति की परम्परा[5] लगभग ५५० ई. तक चलती रही।

अब से पचीस शताब्दी पूर्व जैन मूर्तियों का निर्माण होता था, यह तथ्य कलिंग-सम्राट् खारवेल के हाथी गुम्फा-अभिलेख[6] से भी प्रमाणित है। इसके पश्चात् उपर्युक्त लोहानीपुर से प्राप्त मूर्ति उल्लेखनीय है। दूसरी-तीसरी शती ई. पू. में लिखे गये कुछ ग्रन्थों[9] में बहत्तर कलाओं का उल्लेख है। उनमें से एक 'दगमत्तिय' नामक कला भी है जिसके अन्तर्गत मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण आता है। इन मूर्तियों में तीर्थंकर-मूर्तियाँ भी सम्मिलित रही होंगी।[10] इसके पश्चात् कुषाणकाल में जैनमूर्तियों का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस समय से जैन मूर्तिकला निरन्तर विकास और व्यापकता प्राप्त करती गयी तथा उसने भारतीय कला को अनेक अनुपम कृतियाँ प्रदान कीं।

जैनधर्म में प्राचीन काल से तदाकार प्रतीकों के अतिरिक्त अतदाकार प्रतीकों की मान्यता भी रही है। अतदाकार प्रतीकों में मुख्य और परम्परागत हैं—धर्मचक्र, स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, श्रीवत्स, शराव-सम्पुट, पुष्प-पात्र, पुष्पपडलक, स्वस्तिक आदि। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतीक 'आयागपट्ट' भी रहा है। यह एक वर्गाकार या आयताकार शिलापट्ट होता है, जिसपर कुछ अन्य प्रतीक उत्कीर्ण होते हैं। कुछ पर मध्य में तीर्थंकर की लघुमूर्ति अंकित होती है। कुछ आयागपट्ट अभिलिखित भी हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वे पूजा के उद्देश्य से स्थापित किये जाते थे। मथुरा तथा कौशाम्बी से अनेक सुन्दर शक-कुषाणकालीन आयागपट्ट मिले हैं।

---

१. 'कृत्याकृत्रिमचारुचैत्यनिलयान् नित्यं त्रिलोकीगतान्। वन्दे भावनव्यंतरान् द्युतिवरान् स्वर्गामरावासगान्॥'

—अकृत्रिम चैत्यालयों के अर्घ : बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृ. १०५।

२. देखिए—(अ) विंसेन्ट ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, (बम्बई, तृतीय संस्करण), पृ. २० तथा फलक दश, आकृति (सी)। (ब) आर. सी. मजूमदार : दी एज आफ़ इम्पीरियल युनिटी, पृ. ४२६। ३. देखिए—वी. ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, फलक दो, आकृति सी तथा डी। ४. और भी दे.—(अ) पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर : जैन शासन, (काशी, १९५०), पृ. ३१३। (ब) मुनि विद्यानन्द : श्रमण संस्कृति का इतिहास : सन्मति सन्देश, (अगस्त १९६६), पृ. १३। ५. विस्तार के लिए दे. डॉ. उ. प्रे. शाह : जर्नल आफ़ दी ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, जिल्द एक, अंक एक, पृ. ७२ तथा आगे और अंक ४, पृ. ३५८ तथा आगे। ६. डॉ. उ. प्रे. शाह : ए नोट आन दी अकोटा होर्ड आफ़ जैन ब्रोंजेज़ : बड़ौदा थ्रू दी एजेज़, परि. ४, पृ. ७७ और आगे। ७. 'नन्दराज—नीतं च कलिंगजिनं संनिवेसं...गह रतनान पडिहारेहि अंगमागध वसुं च नेयाति (।)'—काशीप्रसाद जायसवाल : कलिंग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग ८, अंक ३, पृ. १९ से उद्धृत। ८. दे.—आर. सी. मजूमदार : दी एज आफ़ इम्पीरियल युनिटी, पृ. ४२६। ९. दे.—(१) नायाधम्मकहाओ, जिल्द १, (पूना, १९४०) पृ. २१। (२) समवायांग, (अहमदाबाद, १९३८), पृ. ७७ (अ) (३) ओववाइय, (सूरत, १९१४ वि.), पृ. ४०, सूत्र १०७। (४) रायपसेणइय, (अहमदाबाद, १९९४ वि. सं.) (५) जम्बुद्दीव पन्नत्ति. (बम्बई, १९२०), टीका दो, पृ. १३६ और आगे। १०. दे.—(१) पं. बेचरदास : भगवान् महावीर नी धर्मकथाओ, पृ. १९३ और आगे। (२) अमूल्यचन्द्र सेन : सोसल लाइफ़ इन जैन लिटरेचर : कलकत्ता रिव्यू, मार्च १९३३, पृ. ३६४ और आगे। (३) डी. सी. दास गुप्ता : जैन सिस्टम आफ़ एजुकेशन, (कलकत्ता, १९४२), पृ. ७४ और आगे। (४) डॉ. हीरालाल जैन : भा. सं. जै. यो., पृ. २८४-९१।

लाञ्छन : तीर्थंकरों के लाञ्छन[1] भी प्रतीक कहे जा सकते हैं। ये लाञ्छन तीर्थंकरों के साथ कब से और कैसे सम्बद्ध हुए, यह विचारणीय है। लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन तथा मथुरा से प्राप्त शक एवं कुषाण कालीन मूर्तियों के साथ लाञ्छन उत्कीर्ण नहीं किये गये। पहचान के लिए तीर्थंकर का नाम या पंचकल्याणकों[2] में से किसी एक या एक से अधिक को मूर्ति के साथ उत्कीर्ण[3] किया जाता था।[4] परवर्ती काल में लाञ्छनों की कल्पना की गयी और उन्हें मूर्तियों के पादपीठ पर उत्कीर्ण किया जाने लगा। ये लाञ्छन कैसे सम्बद्ध हुए, इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं : प्रथम विचारधारा के अनुसार इन्द्र, तीर्थंकर को अभिषेक के लिए सुमेरु पर्वत पर ले जाते समय उनके शरीर पर सर्वप्रथम जिस वस्तु की रेखाकृति देखता, उसी को उनके लाञ्छन के रूप में घोषित कर देता[5]। यही विचार किंचित् परिवर्तित रूप में भी मिलता है। इन्द्र तीर्थंकर के दायें पैर के अँगूठे पर रेखांकित वस्तु को उनका लाञ्छन निश्चित करता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार तीर्थंकर के राजध्वज का चिह्न ही उनका लाञ्छन माना जाता है।[6] इस विचारधारा में यह आपत्ति है कि कुछ तीर्थंकर राजा नहीं थे और कुछ राजा बनने से पूर्व ही संन्यासी हो गये थे।[7] अतः उनके राजध्वज या उसमें अंकित चिह्न का प्रश्न ही नहीं उठता।[8] अधिक व्यावहारिक तो यह प्रतीत होता है कि ये लाञ्छन तीर्थंकर के नाम, वंश, गोत्र और जाति आदि के आधार पर ठीक उसी प्रकार निश्चित किये गये होंगे, जिस प्रकार आजकल होता देखा जाता है।

पहले वृषभ, छठवें पद्मप्रभु और आठवें चन्द्रप्रभ के नाम पर ही निर्धारित किये गये उनके लांछन (क्रमशः वृषभ, पद्म, और चन्द्र) इस विचार की सम्पुष्टि करते हैं। दशवें तीर्थंकर शीतल का लांछन वृक्ष, शीतल छाया तो देता ही है। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का लांछन कुम्भ (कलश), उनके पिता कुम्भराज का स्मारक हो सकता है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का वंश उग्र एवं लांछन उरग (सर्प) की वार्णिक समानता भी विचारणीय है।

उपर्युक्त प्रतीकों के अतिरिक्त जैनधर्म में समवशरण, सहस्रकूट, सिद्धचक्र, अष्टमंगल, अष्टप्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, चरणपादुका, नवनिधि, नवग्रह, शार्दूल, मकरमुख, कीर्तिमुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी आदि का भी प्रचलन है।

---

१. सभी (२४) तीर्थंकरों के लाञ्छन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में थोड़े-से हेर-फेर के साथ, प्रायः एक समान पाये जाते हैं। तीर्थंकरों के लाञ्छन अग्रलिखित हैं—

(अ) "वसह गय तुरय वानर कुंचो कमलं च सत्थियो चन्दो। मयर सिरिवच्छ गण्डय महिस वाराहो य सेणो य॥
वज्जं हरिणो छगलो नंदावत्तो य कलस कुम्भो य। नीलुप्पल संख फनी सीहो अ जिणाण चिण्हाइं॥
—बी. सी. भट्टाचार्य : जैन आइकानोग्राफ़ी, (लाहौर, १९३९), पृ. ४९ पर प्रवचनसारोद्धार से उद्धृत।

(ब) "गौर्गजोऽश्वः कपिः कोकः कमलं स्वस्तिकः शशी। मकरः श्रीद्रुमो गण्डो महिषः कोलसेधिकौ॥
वज्रं मृगोऽजष्टगरं कलशः कूर्म उत्पलम्। शंखो नागाधिपः सिंहो लाञ्छनान्यर्हतां क्रमात्॥
—पं. आशाधर : प्र. सा., १, ७८–७९।

(स) 'गो वारणाश्वाः कपिकोकपद्माः, स्वस्त्योषधीशौ मकरद्रुमांकौ।
गण्डौलुलायः किटिसेधिके च, वज्रं मृगोजः कुसुमं घटश्च॥
कूर्मोत्पलं शंख भुजंग सिंहः, क्रमेण बिम्बेऽकविकल्पनानि॥"
—जयसेनाचार्य : प्रतिष्ठा पाठ, (शोलापुर, १९२५), श्लोक ३४६–४७। (ड) तिलोय पण्णत्ती, अधिकार चार, गाथा ६०४–६०५। (इ) अपराजितपृच्छा, पृ. ५६६। (ई) भट्टारक धर्मचन्द्र : गौतम चरित्र, (सूरत, १९२७), ५, १३०–३१। २. जीवन के महान् कल्याणकारी अवसर 'कल्याणक' कहे जाते हैं। ये पाँच होते हैं : (१) गर्भाधान, (२) जन्म, (३) दीक्षा, (४) ज्ञान और (५) मोक्ष। ३. (क) एक मूर्तिखण्ड पर 'नेमेष' (नैगमेष-श्वेताम्बर मान्यतानुसार जिसने महावीर के जीव को देवानन्दा के गर्भ से स्थानान्तरित किया था) का नाम उत्कीर्ण पाया गया है। और भी दे.—ब्यूलर : स्पेसीमेन्स आफ़ जैन, कल्पचर्स फ्राम मथुरा : एपी. इ., जिल्द दो पृ. ३११ और आगे। (ख) एक शुंगकालीन मूर्ति (लखनऊ संग्रहालय, क्र. जे. ३५४) पर नीलांजना नृत्य (दीक्षाकल्याणक) या तीर्थंकर की माता (जन्म कल्याणक) का अंकन दर्शनीय है। ४. और भी दे.—डॉ. उ. प्रे. शाह : स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. ११। ५. दे.—(अ) हेमचन्द्र : अभिधान चिन्तामणि, संपा. पं. हरगोविन्द शास्त्री, (वाराणसी, १९६४), काण्ड १२, श्लोक ४७–४८। (ब) पं. आशाधर : अनगार धर्मामृत, (बम्बई, १९१९), अ. ८, श्लोक ४१।

६. 'जम्मणकाले जस्स दु दाहिणपायम्मि होइ जो चिण्हं। तंलक्खणपाउत्तं आगमसुत्ते सुजिणदेहं॥"
—त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. ५६ से उद्धृत। ७. दे.—(क) आदिपुराण, पर्व २२, श्लोक २९९। (ख) हरिवंशपुराण, सर्ग दो, श्लोक ७३। (ग) त्रिलोकसार, गाथा १०१०। ८. उदाहरणार्थ—बारहवें वासुपूज्य, उन्नीसवें मल्लिनाथ, तथा अन्तिम तीन—नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर—ये पाँच तीर्थंकर कुमारावस्था में ही विरक्त हो गये थे। इन्होंने न राज्य और न ही विवाह किया। और भी दे.— त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. १४८–५१।

देवगढ़ में प्रतीकों का अंकन

देवगढ़ की जैनकला में उपर्युक्त प्रतीकों में से अधिकांश का अंकन प्राप्त होता है।

समवशरण

समवशरण[2] की रचना के अन्तर्गत वास्तुकला के प्रायः सभी अंगोपांग समाविष्ट हो जाते हैं। समवशरण का प्रतीक सम्पूर्ण मन्दिर ही माना जा सकता है जिसमें चैत्यभूमि, खातिकाभूमि, लताभूमि, उपवन-भूमि, ध्वजा-भूमि, कल्पांग-भूमि, गृहभूमि, सद्गणभूमि एवं तीन पीठिकाएँ होती हैं।[3]

गन्धकुटी

गन्धकुटी की रचना एक के ऊपर एक निर्मित (पूर्वोक्त) तीन पीठिकाओं पर चित्र-विचित्र पाषाणों से होती है। चारों ओर लटकती मोतियों की झालरें इसकी सौन्दर्यवृद्धि करती हैं एवं पुष्पमालाओं और धूप के धूएँ से सभी दिशाएँ सुगन्धित हो उठती हैं। स्वाभाविक रूप से सुगन्ध बिखेरते रहने के कारण इसे गन्धकुटी कहा जाता है। चारों ओर से खुली हुई इस कुटी के मध्य स्थित सिंहासन पर विराजमान होकर ही तीर्थंकर उपदेश देते हैं।[4]

उक्त पद्धति पर तो कदाचित् ही कोई मन्दिर बना हो, किन्तु उसका भाव समवशरण की रचना प्रस्तुत करना ही होता है।

श्रीमण्डप

समवशरण का एक अंग श्रीमण्डप[5] कहलाता है। इस श्रीमण्डप की समानता हम देवगढ़ के जैन मन्दिर संख्या बारह के महामण्डप (चित्र सं. १७) से कर सकते हैं।[6]

सहस्रकूट

सहस्रकूट का प्रतिनिधित्व देवगढ़ में अत्यन्त भव्य रूप में हुआ है।[7] मं. सं. पाँच (चित्र पाँच) का निर्माण कदाचित् इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया था। यह प्रतीक यहाँ और बानपुर आदि में लोकप्रिय था, जहाँ वह आज भी अखण्ड रूप में देखा जा सकता है, जबकि आमनचार,[8] तथा सेरोन[9] में अनेक सहस्रकूटों के खण्ड विद्यमान हैं।

मानस्तम्भ

मानस्तम्भ समवशरण का वह भाग होता था, जो तीर्थंकर के मान (औन्नत्य या महत्ता) का प्रतीक होता है और जिसके मान (ऊँचाई) को देखकर अभिमानियों का मान चूर्ण हो जाता है। देवगढ़ की जैनकला में इस प्रतीक का अनेक स्थानों में निदर्शन प्राप्त होता है। वहाँ उन्नीस मानस्तम्भ अब भी विद्यमान हैं।[10]

चैत्यवृक्ष

चैत्यवृक्ष[11] वे वृक्ष कहलाते हैं जिनके नीचे अष्ट-प्रातिहार्य सहित अरिहन्त मूर्ति हो। देवगढ़ में स्वतन्त्र रूप से

---

१. 'मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसरत्खातिकाः पुष्पवाटी। प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाद्याः ॥
शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च। प्राकारः स्फटिकोऽन्तर्नृसुरमुनि सभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥

— त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. ६७ से उद्धृत।

२. समवशरण-रचना के विस्तृत वर्णन के लिए दे.—डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, (वाराणसी, १९६८), पृ. १४०-४३ तथा २९५-३००। ३. दे.—हरिवंशपुराण, सर्ग २३, श्लोक १९२। ४. दे.—आदिपुराण, पर्व २३, श्लोक २०। ५. दे.—(अ) ठक्कुर फेरु : वास्तुसार प्रकरण, (जयपुर, १९३६), प्रकरण तीन, श्लोक ५१। (ब) डॉ. हीरालाल जैन : भा. सं. जै. यो., पृ. २९७। ६. दे.—देखा चित्र क. ३६। ७. दे.—चित्र सं. ७ और ८। ८. यह स्थान देवगढ़ से पश्चिम में छः मील दूर है। वहाँ अनेक मन्दिरों के खण्डहर और बहुत सी मूर्तियाँ अस्त-व्यस्त पड़ी हैं। सहस्रकूट का एक खण्डित भाग भी यहाँ के स्थानीय जैन मन्दिर में रखा है। ९. सेरोन के मं. सं. दो के बाहर तथा मं. सं. छह के गर्भगृह में सहस्रकूट-खण्ड देखे जा सकते हैं। १०. कुछ महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिनिधि मानस्तम्भों के लिए दे.—चित्र सं. ४९ से ५८ तक।

११. 'वेलुरियकता विद्दुमविसालसाहा दसप्पयारा ते। पल्लंक पाडिहेरग चउविसमूलगअ जिणपडिमा ॥'

—त्रिलोकसार, गाथा १०१९।

इन चैत्य-वृक्षों का अंकन नहीं हुआ, पर पद्मावती आदि देवियों और कुछ साधु-मूर्तियों के पृष्ठभाग में अंकित किये गये वृक्षों को चैत्यवृक्ष माना जा सकता है।

अष्टप्रातिहार्य

अष्ट-प्रातिहार्य[1] का अंकन देवगढ़ की प्रायः सभी तीर्थंकर मूर्तियों पर हुआ है, जिनपर नहीं हुआ है, उनका निर्माण उस समय हुआ होगा जब (ई. तीसरी शती) अष्ट प्रातिहार्यों का प्रचलन नहीं हुआ था। कुछ मूर्तियों पर ये अपने समग्र रूप में नहीं मिलते, उदाहरण के लिए अशोक वृक्ष और पुष्प वृष्टि के अंकन बहुत कम मूर्तियों पर हुए हैं। दिव्यध्वनि को अंकित करने का कलाकार के पास कदाचित् कोई माध्यम न था। यहाँ की मूर्तियों में अष्टप्रातिहार्य के रूप में प्रायः सिंहासन, छत्रत्रय, प्रभामण्डप, चँवरधारी यक्ष एवं दुन्दुभिधारी उद्घोषक आदि ही प्राप्त होते हैं।[2]

नव-निधि

छह-खण्ड पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्ती की वैभवसूचिका नवनिधियाँ[3] मानी गयी हैं। देवगढ़ की जैनकला में नवनिधियों का अंकन चक्रवर्ती भरत की मूर्तियों के साथ हुआ है।[4] अन्तर केवल इतना है कि उन्हें तदाकार रूप में न दिखाया जाकर एक के ऊपर एक रखे गये नौ घटों के रूप में अंकित किया गया है।

धर्मचक्र

धर्मचक्र[5] तीर्थंकर को केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर देवों द्वारा किये जानेवाले चौदह अतिशय गुणों[6] में तेरहवाँ है। तीर्थंकर के विहार के समय सूर्य से भी अधिक चमकदार यह उनके आगे चलता था। धर्मचक्र का अंकन देवगढ़ की जैनकला में तीर्थंकर मूर्तियों के सिंहासन पर मध्य में हुआ है[7]। उसके दोनों ओर एक-एक सिंह (या कभी-कभी एक ओर सिंह तथा एक ओर हिरण) भी दिखाये गये हैं।

धर्मचक्र की मान्यता भारतीय कला में बहुत प्राचीन है। जब महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं बनती थीं तब उनको प्रत्युपस्थापित (रिप्रिज़ेन्ट) करनेवाले प्रतीकों में धर्मचक्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सारनाथ, बोधिगया आदि से प्राप्त बोधिसत्त्व और बुद्ध की मूर्तियों में धर्मचक्र के दोनों ओर हिरण भी अंकित हुए हैं।[8] वैदिक धर्म में इसे विष्णु की तर्जनी (अँगुली) पर घूमता हुआ दिखाया जाता है। चक्रवर्ती के सुदर्शन-चक्र की कल्पना कदाचित् धर्मचक्र की ही देन है।

चक्र

इसी प्रकार वृषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी के अनेक हाथों में चक्र दिखाया जाता है।[9]

---

१. अष्ट प्रातिहार्य हैं—अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्रत्रय, प्रभामण्डल, दिव्य-ध्वनि, पुष्पवृष्टि, चँवरधारी यक्ष और दुन्दुभिधारी उद्घोषक। और भी देखिए—(अ) अपराजितपृच्छा, पृ. ५६५। (ब) प्रतिष्ठासारोद्धार, अ. चार, श्लोक २०५-२१२। (स) त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. ७७-८१। २. ऐसे ही कुछ मूर्त्यंकनों के लिए दे.—चित्र सं. ५१-५४, ५७, ७१, ७२, ७४ आदि। ३. नव-निधि हैं—(१) कालनिधि (ऋतु के अनुसार विविध पदार्थ देनेवाला), (२) महाकालनिधि (नानाविध भोजन पदार्थ देनेवाला), (३) माणवक (आयुध प्रदाता), (४) पिंगल (आभरण प्रदाता), (५) नैसर्प्य (मन्दिर प्रदाता), (६) पद्म (वस्त्र प्रदाता), (७) पाण्डुक (धान्य प्रदाता), (८) शंख (वादित्र प्रदाता), (९) सर्वरत्न (नानारत्न) (नानाविध रत्नप्रदाता)। नवनिधियों के विस्तृत विवेचन के लिए और भी देखिए—(क) महापुराण (आदिपुराण) पर्व ३७, श्लोक ७३-८२। (ख) त्रिलोकसार, गाथा ६८२। ४. दे.—चित्र सं. ८८, ८९। कुछ मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर भी भरत की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं।

५. 'सहस्रारं हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युति। धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरभात्॥'

—आ. जिनसेन : हरिवंशपुराण, सर्ग ३, पद्य २९। और भी दे.—तिलोयपण्णत्ति, ४-९१२।

६. देवकृत चौदह अतिशय गुण निम्नांकित हैं—(१) सर्वार्धमागधी भाषा, (२) समस्त विरोधी जीवों में भी पारस्परिक मैत्री, (३) दशों दिशाओं का निर्मल रहना, (४) आकाश निर्मल रहना, (५) वृक्षों में सभी ऋतुओं के पुष्प, फल आदि का आना, (६) एक योजन तक पृथ्वी का दर्पणवत् निर्मल रहना, (७) तीर्थंकर के विहार के समय चरणों के नीचे सुवर्ण कमलों का रहना, (८) आकाश में जय-जय ध्वनि होना, (९) शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु बहना, (१०) गन्धोदक की वृष्टि होना, (११) भूतल दर्पण की भाँति स्वच्छ रहना, (१२) सम्पूर्ण जीवों को परम आनन्द की प्राप्ति होना, (१३) तीर्थंकर के आगे धर्मचक्र चलना, और (१४) तीर्थंकर के समक्ष अष्ट मंगल-द्रव्य होना। विस्तार के लिए और भी दे.—(अ) महापुराण, पर्व २५, श्लोक २६६-८२। (ब) हरिवंशपुराण, सर्ग ३, श्लोक १६, १७, २९ तथा ३९५ आदि। (स) तिलोयपण्णत्ति, ४-९१२ आदि। ७. दे.—चित्र सं. ५२, ५३, ५७, ६१, ६६, ६७, ७१, ७४ आदि। ८. और भी दे.—भिक्षु धर्मरक्षित : सारनाथ का इतिहास, (वाराणसी, १९६१), पृ. २७ तथा ११० और उनके सम्बद्ध चित्रफलक। ९. दे.—चित्र सं. ९९, १०७, १११ आदि।

श्रीवत्स

श्रीवत्स भी देवगढ़ की जैनकला में तीर्थंकर मूर्तियों के वक्षस्थल पर एक उभरी हुई चतुष्कोण आकृति के रूप में (एक-एक कोण ऊपर-नीचे होता है और उनमें से प्रत्येक लगभग ९०° का कोण बनाता है तथा कभी-कभी अगल-बगल के कोण, कोण न रहकर वृत्ताकार हो जाते हैं) प्राप्त होता है।[१]

यह प्रतीक मथुरा की कुषाणकालीन कला में आयागपट्टों पर उत्कीर्ण किया गया है। परवर्तीकाल में इसे मूर्तियों के वक्षस्थल पर स्थान मिला। इसकी मान्यता भी वैदिक और बौद्ध धर्मों में समान रूप से रही है। इसे विष्णु का चिह्न[२] मानकर उनका एक नाम श्रीवत्सलांछन[३] भी रखा गया। तथा उनकी मूर्ति के वक्षस्थल पर इसे प्रायः अंकित पाया जाता है। बौद्धकला में अलंकरण के रूप में इसका प्रयोग मिलता है।

स्वस्तिक

सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में स्वस्तिक की व्यापक महत्ता स्वीकार की गयी है। यह पुरुष-प्रकृति-रूप दो तत्त्वों से बने[४] तथा चतुर्गति[५] रूप संसार में घूमनेवाले जीवन सम्बन्धी महासत्य का प्रतीक है। इसके मध्य में खड़ी और आड़ी दो रेखाएँ पुरुष और प्रकृति, जीव और पुद्गल,[६] चैतन्य और जड़, ब्रह्म एवं माया,[७] अमृत और मर्त्य, सत्य और असत्य, अमूर्त और मूर्त आदि विश्व के दो सनातन तत्त्वों का निर्देश करती हैं।[८] इन रेखाओं के छोरों पर की चार पंक्तियाँ चार गतियों का स्मरण कराती हैं।[९]

देवगढ़ की जैनकला में स्वस्तिक का अंकन तीर्थंकर के लांछन के रूप में हुआ है।[१०] जबकि इसका प्राचीनतम रूप मथुरा एवं कौशाम्बी आदि से प्राप्त आयागपट्टों पर उपलब्ध होता है। यहाँ यह विचारणीय है कि तिलोयपण्णत्ति[११] के अनुसार यह दशवें तीर्थंकर शीतलनाथ का लांछन होना चाहिए, जबकि प्रतिष्ठापाठ[१२], प्रतिष्ठासारोद्धार[१३], वास्तुसार प्रकरण[१४] और अपराजितपृच्छा[१५] के अनुसार सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का है।

सोलह मंगल-स्वप्न

तीर्थंकर जब माता के गर्भ में आते हैं तब वह सोलह मंगल[१६]-स्वप्न देखती है।[१७] इन्हें भी मन्दिरों के द्वारों, तोरणों आदि पर अंकित किया गया। देवगढ़ की जैनकला में इनका अंकन एक स्थान[१८] पर हुआ है, यद्यपि तत्कालीन और उत्तरवर्ती स्थापत्य में इन प्रतीकों का व्यापक प्रचार था। दूधई[१९], खजुराहो[२०], आबू[२१] आदि में भी इन्हें देखा जा सकता है।

मंगल-स्वप्नों की मान्यता भारत में बहुत प्राचीन है। छान्दोग्योपनिषद् में[२२] उल्लेख है कि 'वह यदि स्त्री को

---

१. दे.—चित्र सं. ५५, ५६, ५८, ५९, ६१, ६२, ७१, ७२, ७४ आदि। २. 'श्रीवत्सो लाञ्छनं स्मृतम्'।—अमरकोष, १-१-२१। ३. 'विश्वंभरः कैटभजिद्विधुः श्रीवत्सलाञ्छनः।'—अमरकोष, १-१-२२। ४. सांख्य दर्शन के अनुसार। ५. चार गतियाँ हैं—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। ६. जैन दर्शन के अनुसार। ७. वेदान्त दर्शन के अनुसार। ८. दिगम्बरदास जैन एडवोकेट : स्वस्तिक के चमत्कार : जैन मित्र, (फाल्गुन सुदी १५, वी. सं. २४९४), पृ. १८९-९०। ९. दे. बृह. जै. शब्दा., पृ. ६५८। १०. देवगढ़ में कुछ तीर्थंकर मूर्तियों पर स्वस्तिक का उलटा अंकन भी मिलता है। ११. यतिवृषभ सूरि : अधिकार चार, गाथ ६०४-५। १२. जयसेन : श्लोक सं. ३४६-४७। १३. पं. आशाधर : अ. एक, श्लोक. ७८-७९। १४. ठक्कुर फेरु : प्रक. तृ., परि. गद्यांश ७, पृ. १५१। १५. भुवनदेवाचार्य : सूत्र २२१, प ८। १६. सोलह-मंगल-स्वप्न हैं—(१) गर्जना करनेवाला सफ़ेद हाथी, (२) सफ़ेद बैल, (३) सिंह, (४) दोनों बाजुओं से कलशाभिषेक करते हुए हाथी, (५) लटकती हुई दो पुष्पमालाएँ (६) चाँदनी सहित पूर्ण चन्द्रमा, (७) उदीयमान सूर्य, (८) सरोवर में क्रीडामग्न मत्स्य-युगल, (९) कमलाच्छादित सुवर्ण कलश, (१०), पद्ममरोवर, (११) उन्मत्तलहरयुक्त सागर, (१२) रत्नजटित सिंहासन, (१३) रत्न-मणि-जटित देव विमान, (१४) नागेन्द्र भवन, (१५) प्रकाशमान रत्न राशि और (१६) धूमरहित प्रखर अग्नि ज्वाला। १७. (अ) आ. जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), पर्व १२, श्लो. १०१ से ११९ तक। (ब) आ. जिनसेन : हरिवंशपुराण, सर्ग ८, श्लो. ५८ से ७४ तक। (स) अर्हद्दास : मुनिसुव्रत काव्य, पं. के. भुजबली शास्त्री तथा पं. हरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित-अनूदित, (आरा, १९२९), सर्ग तीन, पं. २३-२५। १८. मं. सं. बारह के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर। दे.—चित्र सं. १९-२० और १८। १९. दे.—पश्चिमाभिमुख शान्तिनाथ मन्दिर के मण्डप का तोरण (भीतर की ओर)। २०. दे.—घण्टई, शान्तिनाथ और आदिनाथ मन्दिर के प्रवेश-द्वार। २१. दे.—खरतर वसहि का प्रवेश-द्वार।
२२. 'स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात्। तदेव श्लोकः—
यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने।' —छान्दोग्योपनिषद्, २, ७-८।

देखे तो समझ ले कि अभीष्ट कार्य सफल हो जायेगा, जैसा कि इस श्लोक में लिखा है : 'जब अभीष्ट कार्यों को हाथ में ले चुकने पर स्वप्न में स्त्री दिखे तो उस स्वप्न के निमित्त से समझ ले कि उन कार्यों में सफलता मिलेगी ही।'

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् जिनेन्द्र जब माता के गर्भ में आने लगते हैं तब माता स्वप्नों को देखती है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार इन मंगल-स्वप्नों की संख्या सोलह है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में केवल चौदह।[1] अतः ये स्वप्न भगवान् जिनेन्द्र के जन्म का अनुमान कराने में सूचना-स्वरूप हैं[2]।

भगवान् महावीर से पहले स्वप्न-फल समझानेवाले विद्वानों को 'निमित्त-पाठक' कहा जाता था। आजीवक सम्प्रदाय में निमित्त-शास्त्र बहुत प्रचलित था। ईसा-पूर्व प्रथम शती में कालकाचार्य ने इन्हीं से निमित्त-शास्त्र की पूर्ण विद्या प्राप्त की थी।[3] 'अंगविज्जा'[4] (लगभग ६०० ई.) नामक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ में निमित्त-विद्या का विस्तृत वर्णन मिलता है।

मंगल-स्वप्नों का जैन परम्परा में बहुत महत्त्व है और विभिन्न ग्रन्थों में विस्तार से उनका फल बताया गया है[5]। श्वेताम्बर जैन मान्यतानुसार भगवान् महावीर जब देवानन्दा के गर्भ में अवतीर्ण हुए तो उसे चौदह स्वप्न दिखे थे[6] और जब देवों ने उन्हें क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया तो उसने भी वही चौदह स्वप्न देखे[7]। प्रातः त्रिशला ने इन स्वप्नों की चर्चा अपने पति सिद्धार्थ से की तो उन्होंने निमित्त-पाठकों को बुलाकर उक्त स्वप्नों का फल समझाने के हेतु आदेश दिया था। दिगम्बर जैन मान्यता के अनुसार त्रिशला द्वारा देखे गये स्वप्नों की संख्या सोलह है तथा उनका अर्थ सिद्धार्थ स्वयं समझाते हैं, एतदर्थ निमित्त-पाठकों को नहीं बुलाते[8]।

मन्दिरों के प्रवेश-द्वार पर मंगल-स्वप्नों को उत्कीर्ण करने की परम्परा आज भी विद्यमान है[9]। काष्ठफलकों पर भी इन्हें उत्कीर्ण कराया जाता था[10]। पाण्डुलिपियों[11] में और उनके काष्ठ-आवरणों[12] पर तथा दीवारों[13] आदि पर इन्हें चित्रित करने की परम्परा, विशेष रूप से श्वेताम्बरों में बहुत प्रचलित रही।

चरण-पादुकाएँ

किसी विशेष महापुरुष, तीर्थंकर या साधु के स्मारक रूप में उसके साधना, निर्वाण या समाधिस्थल आदि पर चरण-चिह्नों की स्थापना की जाती है।

देवगढ़ में चरण-पादुकाओं के अंकन तीन स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। मं. सं. सात (चित्र १०) में स्थापित एक युगल-चरण-पादुका (चित्र सं. १२) पर सं. १९६३ का अभिलेख भी उत्कीर्ण है। इसी मन्दिर में बारह युगल-चरण-

---

१. गजो वृषो हरिः साभिषेकश्रीः स्रक्शशी रविः। महाध्वजः पूर्णकुम्भः पद्मसरः सरित्पतिः॥
विमानं रत्नपुंजश्च निर्धूमाग्निरिति क्रमात्।'
—बी. सी. भट्टाचार्य : जैन आइकानोग्राफी, पृ. ५१ पर त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित से उद्धृत।
और भी दे.—भद्रबाहु : कल्पसूत्र : याकोबी सम्पा., सूत्र तीन, पृ. २११। तथा सूत्र ३१-३६, पृ. २२६ से २३८ तक।

२. (अ) वीरनन्दी : चन्द्रप्रभचरित, (बम्बई, १८९२ बि.), सर्ग १६, प. ५७। (ब) अर्हद्दास : मुनिसुव्रत काव्य. स. ३, प. ३०। ३. डॉ. उ. प्रे. शाह : स्टडीज़ इन जैन आर्ट, पृ. १०५, पादटिप्पणी सं. एक। ४. मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित तथा प्राकृत जैन टेक्स्ट सोसायटी द्वारा १९५७ में प्रकाशित।

५. 'नागेन तुङ्गचरितो वृषतो वृषात्मा सिंहेन विक्रमधनो रमयाधिकश्रीः।
स्रग्भ्यां धृतश्च शिरसा शशिना क्लमच्छित् सूर्येण दीप्ति महितो झषतः सुरूपः॥
कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्तो गम्भीरधीरुदधिनासनतस्त्वधीशः।
देवाहिवासमणिराश्यनलैः प्रतीतदेवोरगागम-गुणोद्गम-कर्मदाहः॥' —मुनिसुव्रतकाव्य, स. तीन, प. २८-२९ और भी दे.— (अ) महापुराण (आदिपुराण), पर्व १२, प. १५५ और आगे। (ब) चन्द्रप्रभचरित, स. १६, प. ६३। (स) पंच मंगल पाठ : बृ. जिनवाणी संग्रह, पृ. ५२। ६. दे.—कल्पसूत्र : याकोबी सम्पा., सूत्र तीन, पृ. २११। ७. दे.—वही, सूत्र ३१-४६ पृ. २२९-३८। ८. दे.—(अ) महापुराण (आदिपुराण), पर्व १२, श्लोक १०१-१९। (ब) हरिवंशपुराण, स. आठ, श्लो. ५८-७४। ९. दिगम्बर जैन बुधु क्या का मन्दिर, बड़ा बाजार, सागर की दूसरी मंजिल के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर। इस द्वार के प्रतीकांकनों के वर्णन आदि के लिए दे.—पं. गोपीलाल अमर : एक प्रतीकांकित द्वार : अनेक, व. २२, कि. दो, पृ. ६०-६११। १०. ऐसा एक फलक श्री पाण्ड्या गृह, पाटन, (उत्तर गुजरात) में सुरक्षित है। ११. दे.—(अ) जैन चित्र कल्पद्रुम, आकृति ७३। (ब) आनन्द के. कुमारस्वामी : कैटलाग ऑफ़ दी इण्डियन कलेक्शन्स इन दी म्युजियम ऑफ़ फ़ाइन आर्ट्स, जि. ४, (बोस्टन, १९२४), चित्र १३-१४। (स) चित्र कल्पद्रुम, चित्र १७ और २२। १२. कलेक्शन्स आफ़ प्रवर्तक श्री कान्तिविजय : जे. आइ. एस. ओ. ए. : जिल्द पाँच, पृ. २-१२ एवं सम्बन्धित चित्रफलक। १३. णिरयावलियाओ, (अहमदाबाद, १९३४), दो., एक, पृ. ५१ पर उल्लिखित।

पादुकाओं से अंकित (दे. चित्र सं. १२) एक और शिलाफलक स्थित है, जिसे पर्वत की उपत्यका में किसी ध्वस्त जैन मन्दिर से प्राप्त किया गया था। चरण-पादुकाओं के इन बारह युगलों से अनुमान होता है कि इसी के समान एक अन्य शिलाफलक भी रहा होगा और इस प्रकार कलाकार ने चौबीस तीर्थंकरों की चरण-पादुकाएँ दो शिलाफलकों पर उत्कीर्ण की होंगी, जैसा कि उसने कुछ चौबीसियों के मूर्त्यंकन में भी किया है।[1] एक युगल-चरण-पादुका मं. सं. चार की गुमटी के उत्तर-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।

नव-ग्रह

देवगढ़ की जैनकला में नवग्रहों का अंकन द्वारों[2] और तीर्थंकर मूर्तियों[3] के अतिरिक्त देवी-मूर्तियों के साथ भी हुआ है[4]। इनके सम्बन्ध में चतुर्थ अध्याय में प्रतीकात्मक देव-देवियों के सन्दर्भ में विस्तार से विचार किया जा चुका है।

शार्दूल

शार्दूलों का अंकन सज्जागत तत्त्वों के अन्तर्गत होता आया है। देवगढ़ में इन्हें उतनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई जितनी खजुराहो आदि में, यद्यपि विविधता की दृष्टि से देवगढ़ पीछे नहीं है। पशु-आकृति पर मनुष्य, शार्दूल, सिंह, हाथी, अश्व, गर्दभ आदि के मस्तक यहाँ दिखाये गये हैं।[5] देवगढ़ में शार्दूल के पिछले पैरों के पास और अगले पैरों की लपेट में एक मनुष्याकृति दिखती है और उस (शार्दूल) के पृष्ठभाग पर उसका नियमन करती हुई (कभी कोई आयुध धारण किये हुए) दूसरी मनुष्याकृति दिखती है। प्रतीत होता है कि शार्दूल वासनाओं का प्रतीक है और नीचेवाली मानवाकृति व्यसनी पुरुष की, जो वासनाओं के चंगुल में उलझ चुका है। किन्तु संयमी एवं इन्द्रिय-विजेता पुरुष, जिसका प्रतीक ऊपर-वाली मानवाकृति है, वासनाओं पर विजय प्राप्त कर रहा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार शार्दूल का इस प्रकार का अंकन विशुद्ध आलंकारिक प्रयोग है।

मकरमुख

मकरमुख का अंकन सज्जागत तत्त्वों के अन्तर्गत होता है। यह प्रायः प्रणालिकाओं के मुख पर बनाये जाते हैं, जिनमें से जल की धारा बहा करती है। देवगढ़ की जैनकला में इस सज्जा-तत्त्व का उपयोग प्रचुरता से हुआ है। इसकी आकृतियाँ अनेक द्वार-देहरियों के मध्य में तथा कुछ स्तम्भों पर भी मिलती हैं। मं. सं. आठ के मण्डप में एक अत्यन्त कलापूर्ण मकरमुख रखा हुआ है।

कीर्तिमुख

कीर्तिमुख भी एक सज्जातत्त्व है। इसका अंकन स्तम्भों, तोरणों और कोष्ठकों आदि पर होता है। कीर्तिमुखों से मालाएँ, लड़ियाँ तथा शृंखलाएँ आदि झूलती हुई दिखायी जाती हैं। देवगढ़ में ये पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। इनके मुखों से लड़ियाँ, शृंखलाएँ आदि झूलती हुई अंकित की गयी हैं।[6]

कीचक

कीचक का अंकन भी सज्जागत तत्त्वों के अन्तर्गत होता है। इसका आलेखन ऐसे मनुष्य की आकृति में होता है, जो स्तम्भ-शीर्षों पर बैठकर अपनी पीठ पर समूची छत का भार वहन कर रहा हो। देवगढ़ की जैनकला में इसका अंकन इसी रूप में अत्यन्त सुन्दरता से किया गया है।[7]

---

१. बारह मूर्तियों से अंकित एक शिलाफलक साहु जैन संग्रहालय में सुरक्षित है। २. दे.—चित्र सं. ३३, १८, १९-२०, २१ आदि। ३. दे.—चित्र सं. ६१, ६२, ६८ आदि। ४. जैन चहारदीवारी की उत्तरी बहिर्भित्ति में जड़ी हुई एक देवी मूर्ति में भी नवग्रह अंकित हैं। ५. दे.—मं. सं. १२ के गर्भगृह का प्रवेश-द्वार। कुछ शार्दूल-आकृतियाँ चित्र सं. २२ में कोष्ठकों की बायीं ओर भी देखी जा सकती हैं। इस अंकन में गजमुख शार्दूल विशेष आकर्षक है। यहाँ की कुछ तीर्थंकर मूर्ति-फलकों पर भी शार्दूलों का अंकन हुआ है। दे.—चित्र सं. ५१, ५२ आदि। इनमें अश्वमुख शार्दूल दर्शनीय हैं। ६. दे.—चित्र सं. ४३ से ४५ तक तथा विभिन्न मानस्तम्भ आदि। ७. दे.—चित्र सं. ५६। चित्र सं. ४३ में मध्यवर्ती स्तम्भ (सं. तीन) पर भी कीचक के सुन्दर आलेखन देखे जा सकते हैं।

गंगा-यमुना तथा नाग-नागी

गंगा-यमुना[1] और नाग-नागी[2] के अंकन भी देवगढ़ में प्रचुरता और मोहक मुद्राओं में हुए हैं। ये अधिकतर मन्दिरों के द्वार-पक्षों पर अंकित हैं। इनके सम्बन्ध में चतुर्थ अध्याय में प्रतीकात्मक देव-देवियों के प्रसंग में विवेचन किया जा चुका है।

तीर्थंकरों के लांछन और देव-देवियों के वाहन

देवगढ़ की जैनकला में तीर्थंकरों के लांछनों तथा देव-देवियों के वाहनों के रूप में स्वस्तिक, चन्द्र, शंख, वृक्ष आदि प्राकृतिक तत्त्वों, चक्रवाक, मयूर, हंस, गरुड़ आदि पक्षियों एवं वृषभ, गज, अश्व, बन्दर, हिरण, सिंह आदि पशुओं के विविध और सुन्दर प्रतीकांकन भी दर्शनीय हैं।

११. पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तु

पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तु देवगढ़ की जैनकला में सेरोन और खजुराहो की भाँति विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्कीर्ण नहीं किये गये हैं, तथापि यहाँ तीर्थंकरों के चिह्न, देव-देवियों के वाहन, भित्तियों, द्वारों, गवाक्षों, स्तम्भों एवं सिंहासनों आदि के अलंकरण के रूप में उनके अनेक अंकन दृष्टिगत होते हैं।

(अ) पशु

सिंह

सिंहासनों[3] पर सिंहों के अंकन की पद्धति अत्यन्त व्यापक और प्राचीन है। सिंह प्रबल शक्ति और प्रभुत्व का प्रतीक माना जाता रहा है। उसपर आसीन होना और भी अधिक बलवत्ता एवं प्रभुत्व का परिचायक है। इसीलिए महान् विभूतियों के आसनों पर सिंह का अंकन एक आवश्यक तथ्य बन गया। यह तथ्य इतना अधिक प्रचलित हुआ कि उसके कारण 'सिंहासन' शब्द आसन का पर्यायवाची बन गया, जिस आसन पर सिंह नहीं होता उसे भी सिंहासन कहा जाने लगा।

देवगढ़ की जैनकला में सिंहों का अंकन हाथियों से भी अधिक भव्यता से किया गया है।[4] कभी वे दोनों द्वन्द्व युद्ध कर रहे होते हैं[5] तो कभी परस्पर स्नेह क्रीड़ा में मग्न दिखाये जाते हैं।[6] सोलह-मंगल-स्वप्नों में तो सिंह का अंकन हुआ ही है।[7] महावीर स्वामी के चिह्न के रूप में भी यह आलिखित है।[8] सिंहों का अंकन वृषभ या हरिण के साथ भी हुआ है। इसका उद्देश्य तीर्थंकर के अहिंसामय धर्म की प्रभावना रही होगी। इस दृष्टि से वह दृश्य अत्यधिक प्रभावोत्पादक बन पड़ा है जिसमें एक सिंही, एक गाय और उन दोनों के बच्चे एक साथ उत्कीर्ण किये हैं।[9] अम्बिका यक्षी के वाहन के रूप में उसे विभिन्न रूपों में सौ से भी अधिक स्थानों (मूर्तिफलकों) पर देखा जा सकता है।[10]

हाथी

हाथियों के मूर्त्यंकन भी देवगढ़ की जैनकला में बहुत मिलते हैं। सिंहों के साथ[11] और द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के लांछन के रूप में[12] उन्हें देखा जा सकता है। परन्तु इस विशालकाय प्राणी को तीर्थंकर के अष्ट-प्रातिहार्यों के साथ मालाएँ धारण किये[13] और कलशों से जलधारा छोड़ते हुए[14] दिखाकर कलाकार ने एक नवीन उद्भावना प्रस्तुत

---

१. दे.—मं. सं. ५ (२), ६, १९ (२), १२ (२), १५ (२), १६, १८ (२), २६, २०, २३, २४, २८, ३१ तथा लघु मन्दिर सं. ४। और भी दे.—चित्र सं. ६-७, १८, २१, ३३, ३५ आदि। २. नाग-नागियों के अंकन प्रायः गंगा-यमुना के साथ हुए हैं। ३. देवगढ़ के सिंहासनों के लिए दे.—चित्र सं. ५२, ५३, ५७-६१, ६६-६७, ७१, ७४, ६८, आदि। ४. मं. सं. ४, ५, ११, १२, २३ आदि के द्वारों पर। ५. दे.—चित्र सं. १८, ३५ आदि। ६. दे.—मं. सं. ४, ५, ११, (दोनों खण्डों के द्वार), २३ आदि के द्वार। और भी दे.—चित्र सं. ६, ३५ आदि। ७. दे.—चित्र सं. ११। ८. मं. सं. १० के मध्यवर्ती स्तम्भों पर तथा मं. सं. २० एवं दि. जैन चैत्यालय आदि में स्थित मूर्तियों पर। ९. यह मूर्तिफलक मं. सं. ११ की पहली मंजिल के गर्भगृह में स्थित है। १०. दे.—चित्र सं. ६३, १०३, १०५ और १०६ आदि। ११. दे.—चित्र सं. ६-७, १८, १५ आदि। १२. इस तीर्थंकर की अनेक मूर्तियाँ विभिन्न मन्दिरों एवं जैन चहारदीवारी में तो प्राप्त होती ही हैं, मं सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल (मध्य में) पर उत्कीर्ण भी देखी जा सकती हैं। १३. दे.—चित्र सं. ५१, ५२, ७४ आदि। १४. दे.—चित्र सं. ७१, ७२ आदि। एवं मं. सं. चार आदि में इस प्रकार के अंकन युक्त अनेक मूर्तिफलक देखे जा सकते हैं।

की है। वस्तुतः अष्ट-प्रातिहार्यों के अन्तर्गत या उनके साथ हाथियों के अंकन का कोई शास्त्रीय विधान दृष्टिगत नहीं होता, पुनरपि उनका यह अंकन स्वाभाविक और भव्य ही प्रतीत होता है। तीर्थंकर-मूर्तियों के साथ हाथियों का यह अंकन देखकर विचार करना पड़ता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि जैन कलामर्मज्ञ ने 'गजलक्ष्मी'[1] को अंकित कराने का लोभ इस रूप में अभिव्यक्त किया हो। सोलह-मंगल-स्वप्नों में इसका प्रभावशाली अंकन हुआ है[2] तथा तीर्थंकर की माता के पर्यंकासन में भी इसका आलेखन सुन्दरता और भव्यता के साथ हुआ है।[3]

वृषभ

वृषभ का अंकन देवगढ़ की जैनकला में प्रथम तीर्थंकर के लांछन के रूप में[4] तथा सोलह-मंगल-स्वप्नों के अन्तर्गत[5] मिलता है।

अश्व

अश्व का आलेखन यहाँ की कला में तीर्थंकर सम्भवनाथ के लांछन के रूप में प्राप्त हुआ है।[6]

शार्दूल

अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी शार्दूलों का अंकन उनके वास्तविक रूप में कम और पौराणिक रूपों में अधिक किया गया है। जैसा कि कहा जा चुका है, उसके विभिन्न रूपों के अंकन सज्जागत तत्त्वों के अन्तर्गत हुए हैं। उसके शरीर पर शार्दूल, सिंह, हाथी, अश्व और गर्दभ आदि के मस्तक दिखाये गये हैं।[7]

हरिण

हरिण का अंकन यहाँ सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के लांछन के रूप में तथा सिंह के साथ मिलता है।[8]

बन्दर

देवगढ़ की जैनकला में बन्दर (वानर) का आलेखन चौथे तीर्थंकर अभिनन्दननाथ के लांछन के रूप में किया गया है।[9]

कुत्ता

यहाँ कुत्ता (कुक्कुर) का अंकन क्षेत्रपाल के वाहन के रूप में ही मिला है।[10]

(ब) पक्षी

देवगढ़ की जैनकला में विभिन्न पक्षियों के अंकन मिलते हैं। इनमें गरुड़ (चित्र सं. ९९, १०० और १११), मयूर (चित्र सं. ७६ और ११२), हंस (चित्र सं. ९६), और चक्रवाक (चित्र सं. ५६) उल्लेखनीय हैं। इनके अंकन प्रायः वाहनों और लांछनों के रूप में हुए हैं। सभी आलेखन बहुत आकर्षक हैं।

(स) अन्य जीव-जन्तु

सर्प

सर्प, जो तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के साथ उनके पूर्व-भव से ही सम्बद्ध रहा है, यहाँ शतशः अंकित हुआ है।[11] पार्श्वनाथ की मूर्ति का वह एक अविभाज्य अंग-सा बन गया है। मथुरा की कुषाण-कालीन मूर्तियों में भी वह देखा जा सकता है और अब निर्मित होनेवाली मूर्तियों में भी उसकी उपस्थिति दर्शायी जाती है। यहाँ वह अपने सशक्त सात फणों

---

१. साँची और भरहुत में गजलक्ष्मी की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जिनसे स्पष्ट है कि ई. पू. द्वितीय-प्रथम शती से इस प्रकार के अंकन होने लगे थे। २. दे.—चित्र सं. १६। ३. दे.—चित्र सं. ६३। ४. दे.—चित्र सं. ५६, ६०, ६७, ७४, ७५ आदि। ५. दे.—चित्र सं. १६। ६. मं. सं. दश में मध्यवर्ती स्तम्भ पर। ७. दे.—चित्र सं. ५१,५२, ५७ आदि। तथा विभिन्न मन्दिरों के द्वार। ८. मं. सं. दश के मध्य, स्तम्भ के अतिरिक्त मं. सं. ३१ के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर तो इस लांछन सहित तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण हैं ही, विभिन्न मन्दिरों में भी ऐसी मूर्तियाँ विद्यमान हैं। ९. दे.—चित्र सं. ५८। १०. दे.—चित्र सं. ११३। ११. कुछ के लिए दे.—चित्र सं. ५५, ५६, ६३, ६६, ७०, ७१।

की अवलि ताने हुए[1] संसार के आततायियों को ललकारता हुआ सा प्रतीत होता है। उसकी कुण्डली अपने उपास्य का कभी आसन[2], कभी पृष्ठवर्ती उपधान[3] और कभी दोनों बनकर तथा कभी दोनों पार्श्वों में अंगरक्षक[4] के रूप में उपस्थित रहकर अपूर्व भक्ति की सृष्टि करती है। परम्परागत रूप में ही सर्प सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर पाँच फणों की अवलि फैलाये दिखाया जाता है।[5] कभी-कभी वह धरणेन्द्र-पद्मावती पर भी अपनी फणावलि ताने रहता है।[6] नाग-मिथुन के रूप में भी इसके दर्शन होते हैं।[7] और कभी-कभी वह तपस्या-रत बाहुबली के शरीर पर भी रेंग जाता है।[8]

गोह :

तपस्या-रत बाहुबली के शरीर पर अन्य विषैले जन्तुओं के साथ कभी-कभी गोह भी चढ़ा हुआ अंकित किया गया है।[9]

मकर

मकर के अंकन गंगा के वाहन और मकरमुखों के रूप में यहाँ बहुत मिलते हैं।[10]

कच्छप

कच्छप का आलेखन यमुना के वाहन के रूप में दिखाया गया है।[11]

मत्स्य

मत्स्य-युगल सोलह मंगल-स्वप्नों के अन्तर्गत अंकित हुआ है।[12]

छिपकली

छिपकली को बाहुबली के शरीर पर चढ़ा हुआ उत्कीर्ण किया गया है।[13]

वृश्चिक

यहाँ वृश्चिक भी बाहुबली के शरीर पर रेंगते हुए मिलते हैं।[14]

१२. आसन और मुद्राएँ

देवगढ़ की जैनकला में आसनों और मुद्राओं का आलेखन आनुषंगिक रूप में हुआ है, खजुराहो आदि की भाँति उद्देश्यपूर्वक नहीं। इसका कारण कदाचित् यही हो सकता है कि देवगढ़ कोलों और कापालिकों के प्रभाव से प्रायः मुक्त रहा, जिनकी उत्तानभोगवादी नीति के फलस्वरूप खजुराहो, कोणार्क और भुवनेश्वर की आसन-प्रधान एवं मुद्राबहुल कला का विस्तार हुआ। तथापि देवगढ़ में कुछ ऐसी मुद्राएँ और आसन प्राप्त होते हैं, जो अन्यत्र कदाचित् ही प्राप्त होंगे। उदाहरण के लिए उपाध्याय[15] वितर्क मुद्रा में तथा तीर्थंकर की माता[16] अर्ध-पर्यंकासन में उत्कीर्ण की गयी हैं।

(अ) आसन

यहाँ तीर्थंकर मूर्तियाँ नियमानुसार पद्मासन[17] और कायोत्सर्गासन[18] में उत्कीर्ण हुई हैं। कुछ मूर्तियाँ अर्ध-पद्मासन[19] में भी प्राप्त होती हैं। देव-देवियों के अंकन में अर्ध-पद्मासन, उत्थित पद्मासन,[20] ललितासन,[21] राज-लीलासन,[22] अर्ध-पर्यंकासन[23] आदि का उपयोग हुआ है।

---

१. दे.—चित्र सं. ५६, ६६, ७०, ७१ आदि। २. दे.—चित्र सं. ७१। ३. दे. चित्र सं. ६६, ७०। ४. दे.—चित्र सं. ५५। ५. दे.—चित्र सं. ८ में सुपार्श्वनाथ। ६. दे.—चित्र सं. १०७ से ११० तक तथा ११२। ७. दे.—विभिन्न मन्दिरों के द्वारपक्षों पर गंगा-यमुना के पार्श्व में नाग-नागी मूर्तियाँ। और भी दे. चित्र सं. ६-७, ३३ आदि। ८. दे.—चित्र सं. ८६ से ८८ तक। ९. दे.—चित्र सं. ८८। १०. दे. चित्र सं. ६,७,१८ आदि। ११. दे.—चित्र सं. ६,७,१८,२१,३३ आदि। १२. दे.—चित्र सं. १९-२०। १३. दे. चित्र सं. ८६। १४. दे.—चित्र सं. ८७। १५. दे.—चित्र सं. ८४। १६. दे.—चित्र सं. ९३। १७. कुछ पद्मासन मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. ५०-५४, ५७,६०,६१,६६,६७,७१,७२, ७४ आदि। १८. कुछ कायोत्सर्गासन मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. ५५,५६,५८-६०, ६२-६५, ६८-७०,७२,७३,७५,७६ आदि। १९. ऐसी कुछ मूर्तियाँ जैन चहारदीवारी में देखी जा सकती हैं। २०. दे.—चित्र सं. ८३,११२, ११३ आदि। २१. दे.—चित्र सं. ९९,१००,१११ आदि। २२. दे.—चित्र सं. १०८-११० आदि। २३. दे.—चित्र सं. ९३।

(ब) मुद्राएँ

देवगढ़ की जैनकला में मुद्राओं के अन्तर्गत वितर्क,[१] धर्मोपदेश,[२] नासाग्र,[३] अंजलि,[४] त्रिभंग,[५] कटिहस्त,[६] आलिंगन,[७] सम्भोग,[८] वरद,[९] अभय[१०] आदि मुद्राएँ मुख्य रूप से अंकित प्राप्त होती हैं।

१३. प्रकृति-चित्रण

विन्ध्याचल की अर्ध-वृत्ताकृति पर्वतमाला की हरी-भरी गोद में गगनचुम्बी मन्दिरों को सँजोये, कल-कल निनादिनी वेत्रवती के आलिंगन से आह्लादित देवगढ़ की वसुन्धरा पर्वत-नन्दिनी गौरी का स्मरण दिलाती है, जो पर्वतराज हिमालय की गोद में गगनचुम्बी कैलास के समीप गंगा से प्रक्षालित-चरणा होती हुई खेल रही हो। देवगढ़ का कलाकार देव-शास्त्र और मूर्ति-विज्ञान के रूढ़ नियमों से सुपरिचित अवश्य था, परन्तु प्रकृति की रमणीय रूपराशि का रसिक भी वह अवश्य था। उसकी इस अभिनन्दनीय विशेषता का परिचय हमें उसके द्वारा कला-प्रदर्शन के लिए चुने गये स्थान को देखकर मिलता है। धर्मोपदेशकों और कला-प्रेमियों ने अवश्य ही उसकी अभिरुचि के परिष्कार में पर्याप्त सहयोग दिया था। एक विशाल समतल भूभाग के मध्य मध्यमाकार पर्वतमाला पर अपनी परिष्कृत कला-शैली का उद्घाटन करके कलाकार फूला न समाया होगा। कभी लरजती-गरजती, कभी उछलती-बहकती और कभी प्रोषितपतिका की भाँति क्षीण-शरीरा वेत्रवती कलाकार के लिए सौ-सौ प्रोत्साहन देती होगी। ऐसा अनुपम-क्षेत्र, ऐसा सिद्धहस्त कलाकार और कला-प्रदर्शन का लक्ष्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर, सभी कुछ अब अद्भुत और अपूर्व दृश्य की सृष्टि करनेवाले। तो आइए, हम इस सृष्टि की प्राकृतिक-सुषमा पर एक उड़ती नजर ही डालें।

तीर्थंकर की माता द्वारा देखे गये सोलह मंगल-स्वप्नों के अंकन[११] में कलाकार को प्रकृति के विभिन्न रूप प्रस्तुत करने का अच्छा अवसर मिला है। ग्यारहवें स्वप्न में उत्ताल तरंगों से युक्त समुद्र और दशवें में कमलाच्छन्न पद्माकर का अंकन प्रभावोत्पादक है। सरोवर में अठखेलियाँ करता हुआ मत्स्य-युगल, लक्ष्मी का अभिषेक करता हुआ गज-युगल और बत्तीस शुण्डा दण्डों को आकाश में लहराता हुआ ऐरावत देखते ही बनता है। उदीयमान सूर्य, पूर्णाकार चन्द्र, उड़ान भरता हुआ दिव्य विमान और नयनाभिराम नागेन्द्र भवन अलौकिक छटा बिखेर रहे हैं। रत्नजटित सिंहासन, प्रकाशमान रत्नराशि, जाज्वल्यमान निर्धूमाग्नि और मालाओं से शोभायमान वृक्ष सुन्दर बन पड़े हैं। और इन सबके प्रारम्भ में विशालाकार गज, धवल वर्ण वृषभ और वनराज सिंह अपने सम्पूर्ण बल-वैभव का प्रदर्शन कर रहे हैं।

अशोक वृक्ष,[१२] आम्रवृक्ष[१३] और कल्पवृक्ष[१४] के अंकन में कलाकार ने प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। अम्बिका के कर-कमल से लम्बमान आम्र-गुच्छक,[१५] और बाहुबली को आलिंगन-पाश में लिये लताएँ,[१६] कला की उत्कृष्ट कोटि को प्रदर्शित कर रही हैं। पत्रावलियों,[१७] कमलाकृतियों[१८] और कमलदलों[१९] के अलंकरण सूक्ष्मता से अंकित हुए हैं।

बाहुबली के शरीर पर अंकित लताएँ,[२०] सर्प,[२१] वृश्चिक[२२] और छिपकलियाँ,[२३] हमें अनायास ही उनके प्रति भक्ति से अभिभूत कर देती हैं। प्रकृति की गोद में वृक्षों के नीचे चल रहे गुरुकुल, जन्मजात वैर त्यागकर हिल-मिल जानेवाली सिंही और गाय तथा उनके बच्चे, एवं परस्पर स्नेह-क्रीड़ा करनेवाले गज-सिंह,[२४] देवगढ़ की जैनकला में निश्चय ही प्रकृति का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

---

१. दे. चित्र सं. ८४ और ८५। २. दे.—चित्र सं. ८३। ३. दे.—चित्र सं. ५१-६०, ६७-६६, ७१, ७२, ७४ आदि। ४ दे. चित्र सं. ७७ में पीछे खड़ा साधु, चित्र ७८ में पीछे खड़े साधु तथा चित्र १२२ में विनीत श्रावक। ५.—दे. चित्र ५६ में कमलधारी देव, तथा चित्र ५२, ६१, ६४, ७४ में चँवरधारी एवं विभिन्न मन्दिरों के द्वारों पर गंगा-यमुना के अंकन। और भी दे.—चित्र सं. १०३, १०४, १०५ आदि। ६. दे. चित्र सं. १०१, ११२, ११७ आदि। ७. दे.—चित्र सं. ११६, १२१ आदि तथा चित्र ६० का निचला कोष्ठक। ८. दे.—चित्र सं. १२० में ऊपरी प्रथम कोष्ठक। ९. दे.—चित्र सं. ९९, २०, ७६, ९५ आदि। १०. दे.—चित्र सं. ९९, १०० एवं चतुर्थ अ. में विद्या-देवियों का वर्णन। ११. दे.—चित्र स. १९-२०। १२. दे.—चित्र सं. ८४। १३. दे.—अम्बिका-मूर्तियाँ, चित्र १०३-१०५, १०६ आदि। १४. मं. सं १२ आदि के प्रवेश-द्वारों की देहरी पर मध्य में उभारी गयी वृक्षाकृतियों को कल्पवृक्ष (स्थानीय स्तर पर) कहा जाता है। १५. दे.—चित्र सं. ९३, १०३-१०५ तथा १०६ आदि। १६. दे.—चित्र सं. ८६। १७. दे.—चित्र सं. १६, ३५, ४८, ६०, ११४-१५ आदि। १८. दे.—चित्र सं. ३०, ७६ आदि। २०. दे.—चित्र सं. ११। २१. दे.—चित्र सं. ८६। २२. दे.—चित्र सं. ८६-८८। २३. दे.—चित्र सं. ८७। ८२. दे.—चित्र सं. ८६। २४. दे.—चित्र सं. ६, ३५ आदि।

१४. उपसंहार

इस चतुर्थ और पंचम अध्यायों में हमने देवगढ़ की कुछ उल्लेखनीय मूर्तियों पर प्रकाश डाला है।

हम सभी मूर्तियों का उल्लेख नहीं कर सके हैं : क्योंकि उनमें से अधिकांश खण्डित हो गयी हैं और कुछ उल्लिखित मूर्तियों से कोई विशेषता नहीं रखतीं। कुछ मूर्तियाँ चुरा ली गयी होंगी तथा कुछ भूगर्भ में पड़ी किसी पुरातत्त्व-वेत्ता की कुदाल की प्रतीक्षा कर रही होंगी। तथापि हमने जिन मूर्तियों का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया है, वे कला के विभिन्न विकास-क्रमों और पहलुओं का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करती हैं।

इस अध्ययन में देव-शास्त्रों, साहित्यिक और पौराणिक उल्लेखों तथा परम्परागत मान्यताओं को आधार बनाया गया है, अन्यत्र उपलब्ध जैन, बौद्ध और वैदिक मूर्तियों से यथासम्भव तुलना भी की गयी है।

●

धार्मिक जीवन

स्मारकों, अभिलेखों और अन्य स्रोतों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवगढ़ में जैन, वैष्णव तथा शैव धर्म समान रूप से विकास पाते रहे। जैनधर्म का प्रभाव यहाँ बहुत प्राचीन काल से प्रारम्भ होकर अबतक चल रहा है। वैष्णव और शैव धर्मों का प्रारम्भ गुप्तकाल से हुआ और सत्रहवीं शती तक चला। जैनों ने पर्वत की सुरम्य अधित्यका को तो अपनी निर्माणस्थली बनाया ही, उपत्यका पर भी कुछ मन्दिरों का निर्माण कराया। अधित्यका पर के अधिकांश मन्दिर प्रायः अच्छी स्थिति में हैं, परन्तु उपत्यका पर एक भी स्मारक धराशायी हुए बिना नहीं रहा है।[1] उनके अवशेष प्राप्त होते हैं। कदाचित् किन्हीं आक्रमणकारियों ने उपत्यका के मन्दिरों, जिनमें शैव और वैष्णव भी सम्मिलित थे, को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और अधित्यका पर या तो वे किसी कारण से पहुँच नहीं सके या वहाँ भी स्मारकों के होने का उन्हें परिज्ञान नहीं था।

जैन धर्म का प्रचार देवगढ़ में पर्याप्त रहा, यह तो विद्यमान स्रोतों से भलीभाँति प्रकट होता है पर उनसे यह प्रकट नहीं होता कि वह प्रचार किस रूप में रहा। स्मारकों की विशालता और विपुलता, मूर्तियों की कलात्मकता और अधिकता तथा अभिलेखों की बड़ी संख्या से धार्मिक प्रभावना की अधिकता का बोध तो होता है, पर उनसे यह नहीं जाना जा सकता कि वह प्रभावना समाज में किन विभिन्न रूपों में स्थान पाती थी। मूर्तियों में तीर्थंकरों और यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों का बहुत बड़ा अनुपात है, पर खजुराहो तथा ऐसे ही अन्य स्थानों की भाँति यहाँ जन-जीवन के विभिन्न पक्षों का अंकन बहुत ही कम हुआ है। इसी प्रकार अभिलेखों में भी मन्दिरों के निर्माण और मूर्तियों की स्थापना के अतिरिक्त किसी अन्य अनुष्ठान या धार्मिक-प्रभावना आदि की चर्चा नगण्य है। फलतः, विभिन्न युगों में देवगढ़ में जैनधर्म किस गति से और किस रूप में विकसित हुआ, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता।

१. धार्मिक जीवन के प्रतिनिधि

साधु समुदाय

देवगढ़ के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वहाँ का साधुवर्ग श्रावकों पर अच्छा प्रभाव रखता था। स्थान-स्थान पर श्रावक-श्राविकाओं को साधु-साध्वियों की विनय या उपासना करते हुए अंकित किया गया है।[2] साधुवर्ग स्वयं भी प्रबुद्ध था। वह अपना समय अध्ययन, मनन और अध्यापन में ही व्यतीत करता था।[3] हाथ में ग्रन्थ लिये हुए उपाध्याय परमेष्ठी को साधुओं के समक्ष उपदेश देते हुए अंकित किया जाना देवगढ़ में साधारण बात है। अनेक स्थानों पर साधु-साध्वियों को उपाध्याय या आचार्य परमेष्ठी की उपासना करते हुए अंकित दर्शाया गया है।[4]

भट्टारक

देवगढ़ में भट्टारकों का प्रचार और प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा रहा प्रतीत होता है। जैसा कि अन्यत्र भी हुआ है, देवगढ़ में भी भट्टारकों के कारण एक ओर जैनधर्म को सुरक्षा और प्रभावना का वरदान मिला, तो दूसरी ओर

---

१. उपत्यका की अधिकांश सामग्री इधर-उधर तथा अधित्यका पर ले जायी जा चुकी है तथापि उसके अवशेष अपने मूलस्थान पर देखे जा सकते हैं। २. दे.—चित्र सं. २२, ७७ से ८३ तक, ८६, ८८, ९०, ९१ तथा स्तम्भ सं. ३, ११ आदि। ३. दे.—आचार्य-उपाध्यायों की मूर्तियाँ तथा विभिन्न पाठशाला दृश्य। चित्र सं. ७५ और ७७ से ८५ तक। ४. दे.—विभिन्न पाठशाला दृश्य तथा चित्र सं. ७७ से ८२ तक एवं ८५।

आडम्बरप्रियता और भौतिकता का अभिशाप भी मिला। ऐसी प्रवृत्तियाँ तत्कालीन भारत में सर्वदेशीय और सभी धर्मों में परिलक्षित होती हैं। शैव-परम्परा में कौल और कापालिक सम्प्रदाय आध्यात्मिक कोटि के नहीं थे। ऐसे लोग चमत्कार-प्रदर्शन, भोगविलास और भौतिकवाद की प्रवृत्तियों में अधिक विश्वास रखते थे, मन्दिरों में भी सम्भोग की वस्तुएँ उपलब्ध कराते थे। खजुराहो, भेड़ाघाट और कोणार्क में इनके केन्द्र थे।[1] काश्मीर में तो इनकी परम्परा अब भी उपलब्ध होती है।

दक्षिण भारत, राजस्थान और अन्य बहुत-से स्थानों के भट्टारकों ने ग्रन्थ-रचना और शास्त्रभण्डारों की सुरक्षा के महत्त्वपूर्ण कार्य किये, किन्तु देवगढ़ में न तो उनके द्वारा संग्रहीत शास्त्र-भण्डार उपलब्ध हुआ है और न ही उनके द्वारा रचित ग्रन्थ ही कहीं दिखाई पड़े हैं।

सुविधा की दृष्टि से, यहाँ जैनधर्म को मुनि धर्म और श्रावक धर्म के दो भागों में विभक्त करेंगे और तत्पश्चात् विचार करेंगे कि देवगढ़ में उनका प्रचार किन रूपों में और कहाँ तक रहा।

२. भट्टारक प्रथा का आविर्भाव

मुनिवर्ग, जिसमें आचार्य और उपाध्याय भी सम्मिलित हैं, का देवगढ़ में उपलब्ध तथा अन्य सहायक स्रोतों से मूल्यांकन करने के लिए यह देखेंगे कि जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा में मुनि-धर्म का विकास किस प्रकार हुआ। इसके साथ ही यह भी देखेंगे कि भट्टारकवर्ग, जो अब भी यत्र-तत्र विद्यमान है, मुनिवर्ग से किस प्रकार आविर्भूत हुआ और उसने अपने को श्रावक वर्ग की अपेक्षा मुनिवर्ग में या उसके समीपतर ही परिगणित कराना क्यों आवश्यक समझा।

मूलसंघ और उसपर काल-दोष का प्रभाव

निवृत्ति-प्रधान जैनधर्म में मुक्ति के साधक, गृहत्यागी, तपस्वी, श्रमण साधुओं की परम्परा प्राचीन काल से है। इसके मूलसंघ में ऐसे मुनियों का समुदाय था जो शास्त्रोक्त मुनि-चरित्र का पालन करता था। इस समुदाय में धरसेन,[2] भूतबली, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि अनेक उल्लेखनीय मुनि हुए।

---

१. विस्तार के लिए दे.—प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : मध्यप्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन, बुलेटिन आफ़ एंश्यंट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्केओलाजी, संख्या १ (सागर, १९६७ ई.), पृ. ८७। २. धरसेन से लेकर गुणभद्र तक के आचार्यों के विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए दे.—(अ) धरसेन १) षट्खं. : डॉ. ही. ला. जैन, सम्पा., (अमरावती, १९३९) जिल्द १, प्रस्ता, पृ. १३-१५, २३-३१। २) डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्रा. सा. इ., (वाराणसी, १९६१ ई.) पृ. २७४-८८। ३) पं. कैलाशचन्द्र शा. : जै. ध., पृ. २४६। ४) डॉ. ही. ला. जैन : भा. सं. जै. यो., पृ. ५३, ७४, ८२। ५) पं. परमानन्द शा. : काष्ठा संघ लाट बागड गण की गुर्वावली, अने., ब. १५, कि. ३ पृ. १३५-३७। (ब) भूतबलि १) षट्खं., जिल्द १, प्र. पृ. १७-२१। २) प्रा. सा. इ., पृ. २८९-९३। ३) जै. ध. पृ. २४७। ४) भा. सं. जै. यो., पृ. ३२, ४२, ५३, ७४। ५) अने., ब. १५ कि. ३, पृ. १३७। (स) पुष्पदन्त १) षट्खं., जि. १, प्र. पृ. १७-२१। २) प्रा. सा. इ., पृ. ९८, १४८, २७४, २७९ तथा ३२४। ३) जै. ध. पृ. २४७। ४) भा. सं-जै. यो., पृ. ५३ और ७४। ५) अने., ब. १५ कि. ३, पृ. १३७। (ड) कुन्दकुन्द १) षट्खं., जि. १, प्र. पृ. ३१, ४६-४८। २) प्रा. सा. इ., पृ. २९७-३०२। ३) प्रवचनसार, डॉ. ए. एन. उपाध्ये सम्पादित, (बम्बई, १९३५ ई.) प्र. पृ. २२। ४) जै. ध., पृ. २४७-४८। ५) पं. कैलाशचन्द्र शा. : जै. न्या., (काशी, १९६६ ई.) पृ. ६-८। ६) समयसार : जे. एल. जैनी सम्पा., अँगरेज़ी (लखनऊ १९३०), भूमिका, पृ. १-८। ७) समयसार : ए. चक्रवर्ती सम्पा., (अँगरेज़ी), (काशी, १९५० ई.) भू. पृ. १४७-५०। ८) मुख्तार जुगलकिशोर : जै. सा. इ. वि. प्र., (कलकत्ता, १९५६ ई.), लेख सं. ६ और ७। ९) भा. सं. जै. यो., पृ. ८३-८५, ९८-१०१। १०) डॉ. ही. ला. जैन : जै. शि. सं., भाग १, पृ. १२८-३०, १४०। ११) प्रो. दलसुख. माल. : जै. दा. सा. सिह., (बनारस, १९४९ ई.) पृ. ७। १२) डॉ. बलदेव उपा. : भा. द., (वाराणसी, १९६० ई.), पृ. ११९। १३) वाचस्पति गैरोला : सं. सा. इ., (वाराणसी, १९६० ई), पृ. २६२। १४) प्रो. राजकुमार जैन : अध्यात्म पदा., (काशी, १९५४ ई.), भू. पृ. ७०-७५। (इ) उमास्वामी १) पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ., (बम्बई, १९५६), पृ. ५२१-५४७। २) पं. सुखलाल संघवी : त. सू., (बनारस, १९५२), प. प. १-३३। ३) भा. सं. जै. यो., पृ. ८५-८६, १०८-१०। ४) जै. शि. सं., भाग १, पृ. १ तथा १४०। ५) जै. दा. सा. सि., पृ. ७-१०। ६) पं. फूलचन्द्र शा. : सर्वार्थसिद्धि, (काशी, १९५५ई.), प. ५७-८०। ७) सं. सा. इ., पृ. २५५-५६ तथा २६२। ८) अध्यात्म पदा., भू. पृ. ७५-७६। ९) भा. द., पृ. ११८-१९। १०) जै. ध., प. २४८। ११) जै. न्या., पृ. ८। १२) मुनि कान्तिसागर : खोज की पगडण्डियाँ, (काशी, १९५३ ई.), पृ. २४६-४७। १३) जै. सा. इ. वि. प्र., लेख सं. ८ से ११ तक। (ई) समन्तभद्र १) पं. जुगलकिशोर मुख्तार : स्वामी समन्तभद्र, (बम्बई, १९२५ ई.), सम्पूर्ण ग्रन्थ। २) पं. जुगल. मु. : जै. सा. इ. वि. प्र., लेख सं. १२ से २३ तक। ३) पं. जुगल. मु. : समीचीन धर्मशास्त्र, (दिल्ली, १९५५ ई.), पृ. ६४ ११९। ४) जै. सा. इ., पृ. ५५४-५८। ५) पं. ना. रा. प्रेमी : विद्वद्रत्नमाला, (बम्बई, १९१२ ई.), पृ. १५९-७४। ६) भा. सं. जै. यो. पृ. ८७-८८, ११३। ७) जै. शि. सं., भा. १, पृ. १४१। ८) प्रो. दरबारीलाल कोठिया : देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा, (दिल्ली, १९६७ ई.), प्र. पृ. ३७-४८। ९) समन्तभद्र : स्तुतिविद्या, पं. पन्नालाल साहित्या. अनूदित, (सहारनपुर, १९५०), भू. पृ. १८-२६। १०) जै. ध., पृ. २४८-४९। ११) जै. न्या., पृ. ८-२१। १२) जै. दा. सा. सि., पृ. १५-१७। १३) सं. सा. इ., पृ. २६३। १४) अने., ब. १५ कि. ३, प. १३७। उ) वीरसेन १) षट्खं., जिल्द १ प्र. पृ. ३६-४५।

तत्पश्चात् काल-दोष से मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनि बिरले रह गये।[१] और उनके साथ शिथिलाचारी, मठवासी नाममात्र के नग्न साधुओं की परम्परा चल पड़ी।[२] कालान्तर में ये लोग मठों और मन्दिरों में निवास करने लगे,[३] जागीरें रखने लगे,[४] राजसभाओं में जाने लगे,[५] किन्तु अपने आपको मूलसंघी ही प्रदर्शित करते रहे। यह भौतिकवादिता केवल जैनधर्म में ही नहीं थी, शैव आदि अन्य धर्मों में भी थी। ये प्रवृत्तियाँ स्थानीय न होकर सार्वदेशिक थीं। कालान्तर में दिगम्बर परम्परा में साधुओं में वस्त्रधारण की प्रथा भी प्रारम्भ हो गयी।[६] ये वस्त्र धारण करके भी मुनि कहलाते थे तथा स्वयं को मूलसंघी कहते थे। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में मुनियों के तीन रूप या प्रतिरूप सामने आये : यथाशास्त्र मुनि, शिथिलाचारी नग्न मुनि, भट्टारक।

भट्टारक-परम्परा

उक्त तीन भेदों में से दूसरे को भी 'भट्टारक' कहा जा सकता है। अर्थात् नग्न भट्टारक और सवस्त्र भट्टारक। मूलसंघ के उक्त दोनों प्रकार के भट्टारकों की गणना, पूर्वाचार्यों के मतानुसार पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियों में होती है तथा यापनीय,[७] द्राविड़,[८] काष्ठा संघ[९] आदि साधुओं की गणना जैनाभासों में की गयी है। भट्टारकों से सम्बद्ध विभिन्न

---

२) प्रा. सा. इ., पृ. २७७-९८। ३) जै. सा. इ., पृ. १२७-५४। ४) भा. सं. जै. यो., पृ. ५३-७४। ५) सं. सा. इ., पृ. २५६-६०। ६) जै. ध., पृ. २५२। ७) पं. बालचन्द्र सिद्धान्त शा० : आ. वीरसेन और उनकी धवला टीका : गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ, (सागर, १९६७ ई.), पृ. ४६५-७३। ८) प्रो. उदयचन्द्र एम. ए. : आ. वीरसेन की धवला टीका, भारतीय जैन साहित्य परिवेशन : एक : (आरा, १९६५ ई.), पृ. १२३-२८। (ऊ) जिनसेन १) जै. सा. इ., पृ. १२७-५४। २) विद्वद्रत्नमाला, पृ. १-८९। ३) भा. सं जै. यो., पृ. १६६-६७। ४) पं. पन्नालाल साहित्याचार्य : महापुराण, भाग १, (काशी, १९५१ ई.), प्र., २९-४३। ५) डॉ. नेमिचन्द्र शा. : जिनसेन का काव्यसिद्धान्त, अने., व. १६, कि. १, पृ. ४-१०। ६) जै. ध., पृ. २५२। ७) सं. सा. इ., पृ. २६०-६३। ८) पं. मोहनलाल शास्त्री : जैनाचार्य, (जबलपुर, २४८२ वी. नि.), पृ. ४१-४३। (क) गुणभद्र १) जै. सा. इ. पृ. १२७-५४। २) विद्वद्रत्नमाला पृ. १-८९। ३) पं. पन्नालाल साहि. : महापुराण, भाग २, (काशी, १९५४ ई.), प्र. पृ. १-४। ४) भा. सं. जै. यो., पृ. १२१, १६६। ५) सं. सा. इ., पृ. २६०-६१। ६) जैनाचार्य, पृ. ४७-४९।

१. 'कलिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह। खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्॥'

—पं. आशाधर : सागार धर्मामृत, (लुहरी, झाँसी, २४७४ वीर नि.), अध्याय १, श्लोक ७। २. १) षट्खण्डागम : पं. सुमतिबाई शहा सम्पादित (श्रुतभाण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, (शोलापुर, १९६५ ई.), प्रस्तावना, पृ. ३। २) जटासिंहनन्दी : वरांगचरित : प्रो. ए. एन. उपाध्ये सम्पादित, (बम्बई, १९३८), प्रस्तावना, पृ. ३७। ३) नाथूराम प्रेमी। जैन साहित्य और इतिहास : पृ. ४४७ और आगे। ४) 'जैन सन्देश' (शोधांक संख्या २३), पृ. ८३। ५) वही, (संख्या ८), पृ. २८१ और ३००। ३. देवसेनसूरि : दर्शनसार : पं. नाथूराम प्रेमी सम्पादित, (बम्बई, १९७४ वि.) २४-२८।

(ब) 'कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः। स्थीयेत च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥'

—शिवकोटि भट्टारक : रत्नमाला : माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई के २१वें ग्रन्थ 'सिद्धान्तसारादि संग्रह' में प्रकाशित, पद्य सं. २२। ४. देखिए (अ) मर्करा ताम्रपत्र : बी. एल. राइस द्वारा मूल तथा अनुवाद सहित प्रकाशित, इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग १ (१८७२ ई.), पृ. ३६३-६५। (ब) म. म. विश्वेश्वरनाथ रेऊ : जैनाचार्य और बादशाह मोहम्मद शाह : वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, (सागर, २४८६ वीर नि.), पृ. १९८।

५. चन्द्रमुकीर्ति पट्टोधर राजमुकीर्ति राया मनरंजी। बनारसि मध्य विवादकरी धरी मान मिथ्यात को मन कुं भंजी॥
पालखी छत्र सुखासन राजित भ्राजित दुर्जन मन कं गंजी। हीरजी ब्रह्म के साहिब सद्गुरु नाम लिये भवपातक भंजी॥

—श्री मा. स. महाजन, नागपुर के संग्रह की हस्तलिखित प्रति संख्या ४९, पद्य २१८। ६. १) कुन्दकुन्द: षट्प्राभृत, सं. टीका—श्रुतसागर सूरि, पं. पन्नालाल सोनी सम्पादित, (बम्बई, १९७७ वि. स.), पृ. २१। २) योगीन्द्रदेव : परमात्मप्रकाश : ब्रह्मदेवकृत सं. टीका, पं. मनोहरलाल शास्त्री द्वारा सम्पादित, (बम्बई, १९७२ वि.), गाथा २१६ की टीका, पृ. २३१-३२। ३) "संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिंग-लेश्योपपाद-स्थान-विकल्पतः साध्याः।" देखिए—श्रुतसागर सूरि : तत्त्वार्थवृत्तिः (काशी, १९४९), अध्याय ९, सूत्र ४७ और उसकी व्याख्या, पृ. ५०४-५। ४) महर्षि वासुपूज्य (सं. १४७८) दानशासन, टीका-अनुवादक—वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, (शोलापुर, १९४१ ई.) का यह पद्य—

दुग्धमोधनतकाज्यशाकभक्ष्यासनादिकम्। नवीनमव्ययं दद्यात्पात्राय कटम्बरम्॥

५) जैनहितैषी, भाग ६, अंक ७-८। ७. यापनीय संघ और साहित्य के परिचय के लिए देखिए—(अ) पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, (बम्बई, १९४२ ई.) पृ. ४१-६० और ५७०। (ब) डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी : जैनशिलालेख संग्रह, तृतीय भाग, (बम्बई, १९५७ ई.), प्रस्तावना, पृ. २५-३२। (स) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : जै. शि. सं., चतुर्थ भाग, (काशी, वीर नि. सं. २४९१), प्रस्ता. पृ. २-४। (ड) वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का सं. इतिहास, पृ. २५५-५९। (ई) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनधर्म, (मथुरा, १९५५ ई.) पृ. २९५-९६। ८. (अ) द्राविड़ संघ के उत्पत्ति-परिचय के लिए देखिए—देवसेन : दर्शनसार : पं. नाथूराम प्रेमी सम्पादित, गाथा २४ तथा २६-२७। (ब) द्राविड़ संघ और साहित्य के परिचय के लिए देखिए—पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. ५४-५५, ५९, ८९, १५५, १७०। (स) डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी : जै. शि. सं. तृतीय भाग, प्र. पृ. ३३-४२। (ड) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : जै. शि. सं., चतुर्थ भाग, प्र. पृ. १४। ९. (अ) काष्ठासंघ के उत्पत्ति-

उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दिगम्बर जैन धर्म में मूलसंघ में भट्टारकों की दो परम्पराएँ रही हैं—(१) सेनगण की और (२) बलात्कारगण की।[1] सेनगणवाले भट्टारक अपने को 'पुष्करगच्छ'[2] का कहते हैं और वृषभसेनान्वय लिखकर अपना मूल वृषभसेन (ऋषभदेव के गणधर) से प्रारम्भ करते हैं। इस परम्परा में त्रिवर्णाचार[3] के कर्ता सोमसेन आदि भट्टारक हुए हैं। दूसरी परम्परा के बलात्कारगण[4] वाले भट्टारक अपने को सरस्वतीगच्छ का कहते हैं तथा कुन्दकुन्दान्वय लिखकर अपना मूल कुन्दकुन्दाचार्य से आरम्भ करते हैं। इस परम्परा में बहुत भट्टारक हुए। उनके शिष्य-प्रशिष्य बहुधा विद्वान् होते थे। इन भट्टारकों तथा उनके शिष्यों ने बहुत बड़ी मात्रा में जैन साहित्य का सृजन किया। साथ ही उन्होंने अनेक जैन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएँ भी कीं। बलात्कारगण में कारंजाशाखा[5], लातूरशाखा, दिल्ली-जयपुरशाखा, नागौरशाखा, अटेरशाखा, ईडरशाखा, भानुपुराशाखा, सूरतशाखा, जेरहटशाखा आदि चलीं। इनमें उत्तर प्रदेश की शाखाओं[6] के मूल आधार भट्टारक पद्मनन्दी थे।[7] उनका समय वि. सं. १३८५[8] से १४५०[9] तक माना जाता है। उनके तीन प्रमुख शिष्य थे—शुभचन्द्र, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति। शुभचन्द्र ने दिल्ली और जयपुर की शाखा प्रारम्भ की। सकलकीर्ति ने ईडर की शाखा आरम्भ की और देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत की शाखा। अन्य शाखाओं का प्रादुर्भाव इन्हीं के शिष्य-प्रशिष्यों से हुआ। सकलकीर्ति,[10] शुभचन्द्र,[11] श्रुतसागर[12] और ब्रह्म नेमिदत्त[13] आदि बहुत से साहित्यकार इसी बलात्कारगण के भट्टारकों में से थे।

सेनगण के भट्टारक अपने नाम और परिचय के साथ मूलसंघ, पुष्करगच्छ, वृषभसेनान्वय का प्रयोग करते हैं जबकि बलात्कारगण के भट्टारक मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और कुन्दकुन्दान्वय जैसे विशेषणों का। भूमिदान ग्रहण करने, मूर्तियों पर प्रतिष्ठा लेख लिखने या लिखवाने तथा ग्रन्थों की प्रशस्तियों में इन विशेषणों का प्रयोग प्रायः किया गया है।

परिचय के लिये देखिए—देवसेन : दर्शनसार, गाथा ३३-३५ और ३७। (ब) इस संघ और साहित्य के परिचय के लिये द्रष्टव्य : १) पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. १७०, १७३ आदि। तथा १८४, २५५-५६, ३३६, ३४०-४१, ३४४, ३५७, ५८, ३८०, ४६०, ५००, ५३४। २) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर भट्टारक सम्प्रदाय, पृ. २१०-१२ और आगे। ३) पं. परमानन्द शास्त्री के लेख (क) काष्ठा संघ स्थित माथुर संघ गुर्वावली और (ख) काष्ठा संघ लाट बागड़ गण की गुर्वावली : अनेकान्त, वर्ष १५, किरण दो और तीन, पृ. ७९-८४ और १३४-४२। ४. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी : जैन शिलालेख संग्रह, तृतीय भाग, प्रस्तावना, पृ. ६६-६९।

१. (अ) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारक सम्प्रदाय, प्रस्तावना, पृ. ४ और आगे। (ब) सेनगण की भट्टारक परम्परा के लिए और भी देखिए—१) अनेकान्त, वर्ष १८, किरण ४, पृ. १५३-५६। २) डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी : जै. शि. सं., तृ. भा., प्रस्ता., पृ. ४३-४५। ३. डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : जै. शि. सं. च. भा., प्र. पृ. ५-७। (स) बलात्कारगण के लिए देखिए—जै. शि. सं., तृ. भा. प्रस्ता., पृ. ६२-६६। २. देखिए—पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. ३३६, ३८०, ५३५। ३. देखिए—१) पं. मिलापचन्द्र कटारिया : जैन सन्देश शोधांक, सं. ७, (अप्रैल, १९६० ई.), पृ. २५५-५७। २) पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' : युगवीर-निबन्धावली : प्रथम भाग, (दिल्ली, १९६३ ई.), पृ. ६४, १७२, ३०६। ४. (अ) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारक सम्प्रदाय, पृ. ३१। (ब) जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ३, प्रस्ता., पृ. ६२-६६। ५. इन शाखाओं के प्रमुख भट्टारकों के परिचय के लिए देखिए—डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भ. स., कारंजा—पृ. ४८, लातूर—पृ. ७९, दिल्ली-जयपुर—पृ. ९७, नागौर—पृ. ११४, अटेर—पृ. १२६, ईडर—पृ. १३६, भानुपुरा—पृ. १६५, सूरत—पृ. १६९, जेरहट—पृ. २०२। ६. इन शाखाओं के लिए देखिए—वही, पृ. ८९। ७. (अ) ये वही पद्मनन्दी हैं, जिनका उल्लेख देवगढ़ के दो अभिलेखों में हुआ है, उनमें से एक राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में और दूसरा जैन धर्मशाला देवगढ़ में ही प्रदर्शित है। (ब) इस नाम के कम से कम छह भट्टारक और हुए हैं। देखिए—डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भ. स., पृ. ९३ टिप्पणी ३२, पृ. १२३ टिप्पणी ५३; पृ. ७६, टि. २६, पृ. १५०, पृ. १४ (प्रस्तावना), पृ. २२९। ८. देखिए—बलात्कारगण मन्दिर, अंजनगाँव का अभिलेख। ९. द्रष्टव्य—पं. के. भुजबली शास्त्री : प्रशस्ति संग्रह, (आरा, १९४२) पृ. ८९। १०. इनके विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य—(अ) डॉ. कस्तूर चन्द्र कासलीवाल : राजस्थान के जैन सन्त, व्यक्तित्व और कृतित्व, (महावीरजी, १९६७ ई.), प. १-२१। (ब) डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल : भट्टारक सकलकीर्ति : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व : जैन सन्देश शोधांक सं. ३६, पृ. १८१-१८८। (स) मिलापचन्द कटारिया : भट्टारक सकलकीर्ति का जन्मकाल, वीरवाणी, व. २१, अंक २४, पृ. ५२३-२४। (ड) पं. कुन्दन लाल जैन एम. ए. : आचार्य सकलकीर्ति और उनकी हिन्दी सेवा : अनेकान्त वर्ष १९, किरण १-२, पृ. १२४-२८। (इ) कुन्दन लाल जैन, एम. ए. : भ. सकलकीर्ति कृत द्वादश अनुप्रेक्षा चुपई : सन्मति-सन्देश, वर्ष १२, अंक ११, पृ. ३०-३१। (ई) डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : दिल्लीपट्ट के मूलसंघी भट्टारकों का समयक्रम : अनेकान्त, वर्ष १७, किरण २, पृ. ५६। (उ) बीकानेर जैन लेख संग्रह, संख्या १८७५। (ऊ) पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. ३८०-८३। ११. इनके विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य : (अ) पं. ना. रा. प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. ३८०-८४। (ब) डॉ. ज्यो. प्र. जैन : दिल्लीपट्ट के भट्टारकों का समयक्रम : अनेकान्त, वर्ष १७, किरण २ तथा ४, क्रमशः पृ. ५६ तथा ७४ और १९९। (स) वाचस्पति गैरोला : सं. सा. सं. इ., पृ. २८१-८२। (ड) डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल : राजस्थान के जैन सन्त., पृ. ९३-१०५ तथा १६०-६४। १२. इनके विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए देखिए—(अ) पं. ना. रा. प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. ३७१-७७। (ब) वाचस्पति गैरोला : सं. सा. सं. इ., पृ. २८०। १३. इनके विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए देखिए : पं. परमानन्द शास्त्री : ब्रह्मनेमिदत्त और उनकी रचनाएँ : अनेकान्त, वर्ष १८, किरण २, पृ. ८२-८४।

भट्टारक स्थिति

तत्कालीन स्थिति के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उक्त प्रकार के विशेषणों के प्रयोग शिथिलाचारी नग्न भट्टारकों या सवस्त्र भट्टारकों ने ही किये हैं, मूलसंघ के प्राचीन माननीय आचार्यों ने नहीं। उक्त भट्टारकों ने जो अपने को मूलसंघ का निर्दिष्ट किया है, उसका कारण यह है कि उनके समय में काष्ठासंघ आदि अनेक संघों के भट्टारकों का भी अस्तित्व था और वे उनसे अपना पृथक्त्व प्रदर्शित करना चाहते थे। अतः उन्होंने 'मूलसंघी' विशेषण ग्रहण किया। वस्तुतः मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनियों के लिए जिस प्रकार की चर्या का विधान है, उस दृष्टि से इन्होंने 'मूलसंघी' विशेषण नहीं ग्रहण किया क्योंकि वे स्वतः स्वरचित ग्रन्थों में मुनियों की वैसी ही चर्या का वर्णन करते हैं जैसी कि प्राचीन मूलसंघ के आचार्यों ने प्रतिपादित की है। यह अवश्य है कि श्रुतसागर आदि कतिपय भट्टारकों ने कहीं-कहीं शिथिलाचार का भी पोषण किया है।[1]

यद्यपि उक्त भट्टारक यह अनुभव करते थे कि उनसे शास्त्रोक्त मुनिचर्या का पालन नहीं होता, तथापि उन्होंने अपना उल्लेख मुनि, यति, गणी, सूरि आदि नामों से किया। इसका एकमात्र कारण यह था कि जैन परम्परा में मुनि और श्रावक ये दो ही वर्ग हैं। यदि वे अपने को मुनि नहीं लिखते तो क्या श्रावक लिखते हैं? यदि वे अपने को श्रावक लिखते हैं तो धर्म और समाज की दृष्टि से उनका पद और स्थान उच्चकोटि का कैसे होता? शिविका में आरूढ़ होकर अपने ऊपर चँवर कैसे ढुलवाते? राजाओं द्वारा मान्यता कैसे प्राप्त करते? एवं श्रावकों पर शासन भी कैसे करते? कला में इनके आलेखनों से स्पष्ट ध्वनित होता है कि वे अपने को असाधारण रूप में प्रदर्शित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने को मुनि कहलाना ही उचित समझा। इसके लिये वे प्रारम्भ में दीक्षा धारण करते समय नग्नलिंग धारण करके 'मुनिव्रत' धारण करने का विधान पूर्ण कर लेते थे। तत्पश्चात् कालदोष का बहाना लेकर तत्कालीन पंचों के तथाकथित आग्रह से वस्त्र ग्रहण करते थे। ऐसी प्रवृत्ति उन्होंने चाहे किसी भी परिस्थिति में की हो, किन्तु वह 'उत्सूत्र'[2] प्रवृत्ति ही कही जायगी और उनका यह मार्ग 'भट्टारकपन्थ' कहलायेगा। किन्तु जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में वस्त्रधारी मुनि माने जाते हैं, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में वस्त्रधारी भट्टारक मुनि नहीं माने जा सकते, जैसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जैन प्रतिमा की पूजा-पद्धति में पंचामृत[3] से अभिषेक करना तथा शासन देवों की उपासना आदि करने का विधान है, उसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय के भट्टारक पन्थ में ऐसे ही विधान दृष्टिगोचर होते हैं—

३. साधुधर्म

आवास-प्रबन्ध

देवगढ़ में मुनियों का केवल आवागमन ही नहीं होता था, अपितु निवास भी था। जैसा कि कहा जा चुका है, अब भी वहाँ ऐसे अनेक मन्दिर विद्यमान हैं (दे. चित्र २, १३, २९ आदि) जो मूलतः मन्दिर न होकर साधुओं के निवास-स्थान थे, उनका निर्माण शास्त्रानुमोदित मन्दिर पद्धति पर नहीं हुआ है। इनमें साधुगण कदाचित् स्थायी रूप से भी रहते थे। इतना तो अवश्य है कि वे अपने जीवन का अन्तिम समय इन्हीं निवासस्थानों में, देवगढ़ के पवित्र और स्वास्थ्यप्रद वातावरण में व्यतीत करते थे। यही कारण है कि इन मन्दिरों के समीप ही कुछ समाधियाँ भी पायी गयी हैं। जिसे वर्तमान में मं. सं. १० (दे.-चित्र १४) कहते हैं, वह किसी विशिष्ट साधु की निषेधिका[4] (निसई) रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार मं. सं. एक के पीछे (पश्चिम में) लगभग १०० फुट की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा है, जो निश्चित ही किसी निषेधिका या समाधि का अंग है। इनके अतिरिक्त और भी देवगढ़ में अनेक समाधिस्तम्भ पाये जाते हैं। मं. सं. पाँच-छह और इक्कीस के निकटवर्ती स्तम्भ समाधि-स्तम्भ ही हैं।

---

१. देखिए—(अ) पं. ना. रा. प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. ३७१-७४। (ब) मिलाप चन्द्र कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली, (कलकत्ता, १९६६ ई.), पृ. ४२७-२१। २. उत्सूत्र का अर्थ है शिथिल, अनियमित, अनुशासन से स्खलित होना। देखिए—प्रो. वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, (वाराणसी, १९६३) पृ. १०३। ३. दूध, दही, घी, सुगन्ध (चन्दन का द्रव) और इक्षुरस का मिश्रण 'पंचामृत' कहलाता है।
४. ध्यात्वा यथास्वं गुर्वादीन् न्यसेत् तत्पादुकायुगे। निषेधिकायां संन्याससमाधिमरणादि च ॥
—पं. आशाधर : प्रतिष्ठासारोद्धार, (बम्बई, सं. १९७४ वि.) अध्याय १, श्लो. १०८।

देवगढ़ में जो चरणपादुकाएँ मिली हैं, वे भी यही सूचित करती हैं कि यहाँ मुनि 'समाधिमरण' या 'सल्लेखना'[1] धारण करते थे और यहीं उनका अन्तिम संस्कार भी किया जाता था। बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं की मूर्तियाँ (दे.–चित्र ७५, ७७-८५) भी यही सिद्ध करती हैं कि देवगढ़ में मुनियों के अनेक संघ रहते थे। यहाँ प्राप्त एक मूर्तिलेख[2] से ज्ञात होता है कि कुछ मूर्तियाँ यहाँ के चतुर्विध-संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका) के लिए भी निर्मित हुई थीं। अतः यह निर्विवाद है कि यहाँ साधुओं को निवास करने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ भी उपलब्ध करायी जाती थीं।

उद्बोधन

आचार्यों द्वारा उपाध्यायों तथा साधुओं को (दे.–चित्र ७७-८२) और कभी-कभी श्रावक-श्राविकाओं को भी उद्बोधन प्रदान किया जाता था (दे.–चित्र ७७-८२)। वे स्वयं उन सभी के द्वारा पूजित और वन्दित होते थे। उपाध्याय देवगढ़ में सर्वाधिक सक्रिय और कर्तव्यनिष्ठ रहे। उनकी पाठशालाओं के बीसों दृश्य यहाँ अंकित हुए हैं। एक उपाध्याय दो से लेकर आठ-दस तक साधुओं को शिक्षा प्रदान करता था।[3] अल्प आयु के शिष्यों को भी पाठशालाओं में अध्ययन-रत अंकित किया गया है। इस प्रकार के पाठशाला-दृश्यों के अंकन की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। ऐसे दृश्य मथुरा, अजन्ता, खजुराहो, भुवनेश्वर आदि में अधिकतर प्राप्त होते हैं।[4] देवगढ़ की पाठशालाओं में कभी-कभी आर्यिकाएँ और श्रावक-श्राविकाएँ भी प्रवेश पा लेते थे।[5] उपाध्याय के हाथ में स्थित ग्रन्थ उनकी शास्त्रनिष्ठा एवं पद-प्रतिष्ठा का द्योतक है।

देवगढ़ में साधुओं का निवास प्रचुर मात्रा में था, किन्तु उनका उल्लेखमात्र वहाँ के अभिलेखों से प्राप्त होता है अथवा उनकी मूर्तियाँ पाठशालाओं के दृश्यों में ही आलिखित हैं। यह आश्चर्य है कि यहाँ मुनियों का अंकन किसी अन्य रूप में प्रायः नहीं हुआ है।[6] किन्तु एक स्थान पर एक मुनि कदाचित् आहार के पश्चात् अपने हाथ को उपधान बनाकर विश्राम कर रहा है,[7] एक मुनि किसी शूकर को उपदेश दे रहा है[8] और एक मुनि किसी श्रावक-युगल से आहार ग्रहण कर रहा है।[9] जहाँ तक आर्यिकाओं का प्रश्न है वे अपना समय या तो पाठशालाओं में व्यतीत करती थीं[10] या पूजा-आराधना में।[11] शास्त्रीय-विधानों का वे कठोरता से पालन करती थीं, तभी तो एक भी आर्यिका एकान्त विहार या किसी पुरुष की संगति करती हुई नहीं दिखायी गयी।

चर्या

देवगढ़ के कुछ दृश्यों से साधुओं और साध्वियों के धर्माचरण पर भी प्रकाश पड़ता है। साधु और साध्वियाँ अपने सभी मौलिक एवं अनिवार्य गुणों का पूर्णरूपेण पालन करते थे या नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता पर एक-दो गुणों का पालन करते हुए उन्हें हम कई बार देखते हैं—गुरुओं की विनय, शिष्यों को शिक्षा देना, श्रावकों को धर्मोपदेश देना[12] और उनकी नवधा-भक्ति[13] स्वीकार करना—उक्त गुणों में से मुख्य हैं।

---

१. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

—आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार (देहली, १९५१ ई.) श्लो, १२२।

२. यह मूर्ति लेख मं. सं. २८ के शिलाफलक संख्या ३ (बायें से दायें) पर उत्कीर्ण है। ३. देखिए—चित्र सं. ७७ से ८२ तक तथा ८५। ४. विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : प्राचीनकला में गुरु-शिष्यों का चित्रण : त्रिपथगा, (लखनऊ, १९५६ ई.) पृ. १-४। ५. देखिए—चित्र सं. ७७ से ८२ तक। ६. मं. सं. १८ के महामण्डप के प्रवेशद्वार पर एक स्त्री मुनि का संवाहन करते हुए अंकित है। दे.—चित्र सं. ११ और ११६। ७. देखिए—मं. सं. १८ के महामण्डप के प्रवेश-द्वार के दोनों पक्ष। ८. दे.—मं. सं. १२ के प्रदक्षिणापथ और गर्भगृह के प्रवेशद्वार तथा चित्र सं. २१। ९. देखिए—वही तथा चित्र सं. २२, २३। १०. दे.—चित्र सं. ७७-८२। ११. दे.—विभिन्न मानस्तम्भ तथा मं. सं. १९ के स्तम्भ। और भी दे.—चित्र सं. ९२। १२. इस सबके लिए दे.—चित्र सं. ७७ से ८५ तक। १३. साधु को दान करते समय नव प्रकार से भक्ति करनी चाहिए—(१) संग्रह-पड़गाहना—साधु को आते हुए देखकर अपने द्वार पर प्राशुक जल का कलश लिये हुए निवेदन करना कि 'अत्र तिष्ठ तिष्ठ, आहारजले शुद्धे स्तः।' (२) उच्चस्थान-जब साधु उसकी ओर ध्यान दे तब भीतर ले जाकर उच्च स्थान देना, (३) पादप्रक्षालन-किसी पात्रमें उनके चरण धोना, (४) पूजन-अष्टद्रव्य से पूजन, (५) प्रणाम-तीन प्रदक्षिणा दे प्रणाम करना, (६-९) क्रमशः मन, वचन, काय और भोजन की शुद्धि रखना। दे.—बृहद् जैन शब्दार्णव : द्वितीय भाग, (सूरत, २४६० वीर नि.), पृ. ५१५।

निर्माण और निर्माण प्रेरणा

मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण की प्रेरणा निश्चय ही साधुवर्ग द्वारा दी जाती थी, जैसा कि देवगढ़ के अभिलेखीय प्रमाणों से ज्ञात होता है। यहाँ की कुछ साध्वियों ने तो स्वयं ही मूर्तियों का निर्माण कराया था?[1] एवं कुछ ने मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी करायी थी।[2] मुनिधर्म का विकास प्रदर्शित करते हुए जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है, अन्य स्थानों की भाँति देवगढ़ के साधु भी एक प्रकार के भट्टारक ही थे। जिन्हें लौकिक समृद्धि और सौन्दर्य के प्रति कदाचित् सर्वाधिक आकर्षण था। उन्होंने विशाल और सुसज्जित मन्दिरों, दानशालाओं तथा सहस्रों भावपूर्ण और मोहक मूर्तियों का निर्माण कराने के लिए श्रावकों को प्रेरित किया तथा स्वयं उन निर्मितियों की प्रतिष्ठा की।[3] उनके प्रयत्नों के ही परिणामस्वरूप अनेक शताब्दियों के बाद भी जैनधर्म की प्रभावना तथा जैनकला और स्थापत्य के सुन्दर नमूने हमें उपलब्ध हो रहे हैं।

शास्त्र सृजन का अभाव

देवगढ़ के साधु एक अत्यन्त वांछनीय और स्थायी महत्त्व का कार्य करने में बहुत पीछे रहे। यह कार्य था—शास्त्रों की रचना और उनके संग्रह का। सम्भव है कि उन्होंने यह कार्य थोड़ा-बहुत किया हो, परन्तु काल के प्रभाव से वह नष्ट हो गया हो या आततायियों द्वारा नष्ट कर दिया गया हो, पर देवगढ़ में एक भी हस्तलिखित शास्त्र का न पाया जाना यही निष्कर्ष प्रस्तुत करता है, जो हमने निकाला है। कोई कारण नहीं कि जयपुर, जैसलमेर, ईडर, मूडबिद्री और कोल्हापुर आदि स्थानों पर सहस्रों ग्रन्थों की रचना और उनका संग्रह हुआ, जिसका अधिकांश हम अब भी केवल भट्टारकों द्वारा ही सुरक्षित पाते हैं, क्या देवगढ़ के भट्टारक यह कार्य नहीं कर सकते थे? कारण कुछ भी हो या न हो, पर इस दृष्टि से हमारी धार्मिक आस्था देवगढ़ के भट्टारकों पर उस तीव्रता से नहीं टिकती, जिस तीव्रता से जयपुर आदि के भट्टारकों पर टिकती है।

४. श्रावक धर्म

परिष्कृत अभिरुचि

देवगढ़ के श्रावक और श्राविकाएँ एक और धार्मिक अनुष्ठानों में गहरी अभिरुचि रखते थे और दूसरी ओर राग-रंग में भी काफ़ी समय बिताते थे। वे संगीत और नृत्य में भी कुशल होते थे। विभिन्न प्रकार के वाद्यों और साज-सामानके साथ वे जिनेन्द्र-देव की भक्ति को जाते और लय-ताल में खो जाते थे। उनकी ऐसी अनेक मण्डलियाँ देवगढ़ में अंकित हुई हैं।[4]

नवधा-भक्ति

वे साधुओं की सेवा-शुश्रूषा और नवधा-भक्ति करते थे।[5] एक श्रावक-युगल किसी साधु को अत्यन्त भक्ति के

---

१. (अ) इन्दुआ नामक आर्यिका ने (मं. सं. एक तथा चार में स्थित) दो तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण कराया था। दे.—परिशिष्ट एक, अभिलेख क्र. ११ और ३०। (ब) आर्यिका गणी ने (मं. सं. चार में स्थित) तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति का निर्माण कराया था। दे.—परि. एक, अभि. क्र. ३२। (स) आर्यिका लवनासरी ने (मं. सं. २० में स्थित) तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति का निर्माण कराया था। दे.—परि. एक, अभि. क्र. १०७। २. (अ) आर्यिका धर्मश्री ने अन्य पण्डितों के साथ संवत् १२०६ में (मं. सं. ३ में स्थित) कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी। दे.—परि. एक, अभि. क्र. २२। (ब) आर्यिका नवासी ने आचार्य जयकीर्ति के साथ सं. १२०७ में एक प्रतिष्ठा में भाग लिया था। दे.—परि. एक, अभि. क्र. २८। (स) आर्यिका मदन ने सं. १२०१ में (मं. सं. १२ में स्थित) ऋषभनाथ की पद्मा. मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी। दे.—परि. एक, अभि. ६२। ३. ऐसे साधुओं में लोकनन्दी के शिष्य गुणनन्दी (दे.— परि. एक अभि. १७, १०६, ११४, ११६, ११६ आदि), कमलदेवाचार्य और उनके शिष्य श्रीदेव (दे.—परि. एक, अभि. ५८, ८८), त्रिभुवनकीर्ति (दे.—परि. एक, अभि. १६), जयकीर्ति (परि. एक, अभि. २५), भावनन्दी (परि. एक, अभि. ३३), चन्द्रकीर्ति (परि. एक, अभि. ३६), यशःकीर्त्याचार्य (परि. एक, अभि. ६६), और नागसेनाचार्य (परि. एक, अभि. ६०), कनकचन्द्र, लक्ष्मीचन्द्र, हेमचन्द्र (परि. एक, अभि. ६), धर्मचन्द्र, रत्नकीर्ति, प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, शुभचन्द्र (परि. एक अभि. एक,) देवेन्द्रकीर्ति (परि. एक, अभि. ५५) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ४. दे.—चित्र सं. १६, २२, २३, ३६, ६७, १०६, ११८ तथा जैन चहारदीवारी, विभिन्न मन्दिरों के प्रवेशद्वार तथा मं. स. १२ का अर्द्धमण्डप आदि। ५. दे.—चित्र सं. २२, २३, ७७-८३, ८६-६० आदि।

साथ आहार दे रहा है।[1] श्रावकों[2] के अतिरिक्त कभी-कभी श्राविकाएँ भी बैठे हुए साधुओं के मस्तक पर छत्र धारण किये रहती थीं।[3] अनेक युगलों को तीर्थंकर मूर्ति की वन्दना करते हुएँ देखा जा सकता है।

द्रव्य का सदुपयोग

समय-समय पर दानशालाओं का निर्माण कराकर एक बार पण्डितों ने[5] और दो बार कुछ श्रावकों ने[6] अपने न्यायोपात्त द्रव्य का सदुपयोग किया था। कुछ श्राविकाएँ अपने हाथ में नारिकेल आदि पूजन-सामग्री लेकर मन्दिर जाती हुई दिखायी गयी हैं।[7]

नैतिक पक्ष

धर्म के नैतिक पक्ष पर भी देवगढ़ में पर्याप्त बल दिया जाता था। व्यभिचारी और लम्पटी मनुष्यों को उनके कुकृत्यों की सजा मिलती थी।[8]

ग्रन्थों का पठन-पाठन

धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन देवगढ़ में उच्च स्तर पर प्रचलित था। वहाँ यशस्तिलक चम्पू[9] आदि जैसे प्रथम श्रेणी के साहित्यिक ग्रन्थों का प्रचार तो था ही, ज्ञानार्णव[10] और समयसार[11] आदि जैसे उच्चकोटि के आध्यात्मिक ग्रन्थ भी पढ़े जाते थे।

५. पौराणिक कथाओं का प्रचार

देवगढ़ में पौराणिक कथाओं का प्रचार पर्याप्त मात्रा में था। प्रथमानुयोग[12] (धर्मकथा) से वहाँ के श्रावक-श्राविकाएँ तो परिचित थे ही, कलाकार भी अच्छी जानकारी रखते थे। उन्होंने अपनी छैनी को अनेक कथाओं के संक्षिप्त किन्तु विशद अंकन से पवित्र किया है।

ऋषभनाथ द्वारा आहार ग्रहण

आदि-तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव साधु होने के पश्चात् ठीक एक वर्ष उपरान्त आहार ग्रहण कर रहे हैं[13]। राजकुमार श्रेयान्स और उनके बड़े भाई राजा सोमप्रभ और भाभी रानी लक्ष्मीमती को आहार देते हुए[14] दिखाकर[15]

---

१. मं. सं. १२ के प्रदक्षिणापथ और गर्भगृह के प्रवेशद्वारों पर। दे.—चित्र सं. २२-२३। २. मं. सं. एक के पीछे जड़ी आचार्य मूर्ति। दे.—चित्र सं. ७७। ३. दे.—मं. सं. १ के मण्डप में जड़ी आचार्य मूर्ति तथा चित्र सं. ८०। ४. दे.—चित्र सं. ५२, ५३, ६४, ७६। ५. दे.—परि. एक, अभि. क्र. १२५। ६. दे.—परि. एक, अभि. क्र. १२६ और १२६। ७. दे.—मं. सं. एक (चित्र ८०) तथा चार (चित्र ७६) में जड़ी मूर्तियाँ तथा सम्बन्धित वर्णन (अ. ५)। ८. दे.—मं. सं. चार के प्रवेश-द्वार के ऊपर बायीं ओर तथा चित्र सं. ११५। ९. आचार्य सोमदेव सूरि (६५८ ई.) द्वारा रचित यह विशाल चम्पू-ग्रन्थ प्रथम बार पं. काशीराम शर्मा द्वारा सम्पादित होकर श्रुतसागर की अपूर्ण संस्कृत टीका सहित निर्णयसागर प्रेस बम्बई से १९०१ और १९०३ ई. में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम तीन आश्वास पं. सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा (१९६० ई. में) तथा कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा (१९६४ ई. में) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादित होकर प्रकाशित हुए हैं। इसपर प्रो. कृष्णकान्त हन्दिकी ने 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कलचर' (शोलापुर, १९४९ ई.) तथा डॉ. गोकुलचन्द्र जैन ने 'यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन' (अमृतसर, १९६७ ई.) नामक विशिष्ट शोधपूर्ण अध्ययन भी प्रस्तुत किये हैं। आचार्य सोमदेव के परिचय आदि के लिए दे.—(अ) पं. ना. रा. प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. १७७-९१। (ब) पं. कैलाशचन्द्र शा. : उपासकाध्ययन, (काशी, १९६४), (अमृतसर, १९६७ ई.), पृ. २७-४१। (स) डॉ. गोकुलचन्द्र जैन : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, (अमृतसर, १९६७ ई.), पृ. २७-४१। (ड) सं. सा. इ., पृ. २६३-६४। (इ) डॉ. हो. ला. जैन : भा. सं. जै. यो., पृ. ११३, १७१। १०. आचार्य शुभचन्द्र द्वारा विरचित यह ग्रन्थ पं. पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा सम्पादित होकर श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, जवेरी-बाग, बम्बई से १९२७ ई. में प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विस्तृत और प्रामा. परिचय के लिए दे.—(अ) पं. ना. रा. प्रेमी : जै. सा. इ. पृ. ३३२-४१। (ब) डॉ. हो. ला. जैन : भा. सं. जै. यो., पृ. १२१। (स) पं. बालचन्द्र सि. शा. : ज्ञानार्णव व योगशास्त्र : एक तुलनात्मक अध्ययन, अने, व. २० कि. एक, पृ. १७-२७। ११. आ. कुन्दकुन्द द्वारा विरचित यह ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी, अँगरेज़ी आदि अनेक टीकाओं सहित सम्पादित होकर विभिन्न संस्थाओं में प्रकाशित हुआ है।

१२. 'प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्। बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥'

—आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, (दिल्ली, १९५१ ई.) श्लोक. ४३।

१३. दे.—मं. सं. १२ के प्रदक्षिणापथ तथा गर्भगृह के प्रवेश-द्वार। १४. आचार्य जिनसेन : महापुराण : (आदिपुराण), जिल्द एक, (काशी, १९५१), पर्व २०, श्लोक १००। १५. दे.—चित्र सं. २२ और २३।

कलाकार ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता अतिथि-सत्कार को मूर्तिमान् कर दिया है।

भरत-बाहुबली

चक्रवर्ती भरत और कामदेव बाहुबली की द्विमूर्तिकाएँ[1] निर्मित करके कलाकार ने सन्देश दिया है कि भौतिक उपलब्धियों से आध्यात्मिक उपलब्धियाँ कहीं अधिक शान्तिदायक होती हैं।

चक्रेश्वरी

कलाकार ने चक्रेश्वरी देवी की अनेक[2] अद्भुत और[3] कलापूर्ण मूर्तियाँ निर्मित की हैं। यह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की यक्षी है और अनेक हाथों में चक्र को धारण करने के कारण चक्रेश्वरी कहलाती है। चक्र एक ऐसा आयुध है, जिसकी शक्ति इन्द्र के वज्र से भी अधिक होती है। इस देवी का वाहन गरुड़ है, जिसपर सवार होकर यह आदि-तीर्थंकर के धर्म का प्रचार सम्पूर्ण विश्व में करती है। सबसे पहले जबकि कर्मभूमि का उदय हो रहा था, घर-घर में भगवान् आदिनाथ के सन्देश को पहुँचाने के लिए इस देवी को गरुड़-जैसे तीव्रगामी वाहन की ही आवश्यकता थी।

वात्सल्य की प्रतिमूर्ति अम्बिका

अम्बिका यक्षी की मार्मिक एवं वात्सल्यपूर्ण कथा को एक ही मूर्ति में समाविष्ट करने की कलाकार ने जो सफल चेष्टा की है उसका उदाहरण भारतीय ही नहीं, विश्व की भी मूर्ति-कला में कदाचित् दुर्लभ है। एक देवी है। वह सिंह पर आसीन है। यह सिंह पूर्वजन्म में एक ब्राह्मण था। वह देवी पूर्वजन्म में उसकी ब्राह्मणी थी। अपनी भूल के पश्चात्ताप में ब्राह्मण उस ब्राह्मणी, जो करुण-मृत्यु के पश्चात् अम्बिका के रूप में अवतीर्ण हुई थी, का वाहन सिंह बन जाता है। ब्राह्मणी की मृत्यु अपने एक पुत्र को गोद में और दूसरे को हाथ पकड़कर लिये हुए हुई थी, इसलिए कलाकार ने भी इन्हें उसी रूप में अंकित किया है। अपने भूखे बच्चों को उसी ब्राह्मणी ने असमय में ही फले हुए आम-फल खिलाये थे। इसलिए कलाकार अम्बिका के एक हाथ में आमों का गुच्छा देता है और पृष्ठभाग में आम का वृक्ष उत्कीर्ण करता है।[4] ममता और वात्सल्य की मूर्तिमती इस देवी की सैकड़ों मूर्तियाँ[5] उत्कीर्ण करके देवगढ़ के कलाकार ने जैनधर्म की महती प्रभावना की है।

उपसर्ग-निवारक धरणेन्द्र एवं पद्मावती

धरणेन्द्र और पद्मावती नामक यक्ष और यक्षी जो अपने पूर्वजन्म में कुमार पार्श्वनाथ द्वारा सम्बोधित होकर देवयोनि में उत्पन्न हुए थे, परम-कृतज्ञता से नम्र होकर भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में आसीन दिखाये गये हैं। भगवान् पार्श्वनाथ पर जब कमठ नामक आततायी ने उपसर्ग किया तब धरणेन्द्र ने सर्प के रूप में उपस्थित होकर अपनी विशाल फणावलि से भगवान् को आच्छादित कर उपसर्ग से उन्हें अप्रभावित रखा।[6] इस समूची कथा को एक ही मूर्ति में[7] मूर्तिमान् कर कलाकार ने अपने अपूर्व-कौशल का परिचय दिया है।

शूकर को सम्बोधन

एक मुनि एक शूकर को उपदेश दे रहे हैं।[8] बात यह थी कि यह शूकर उन तपस्या-रत मुनि की सिंह से

---

१. दे.—मं. सं. दो तथा जैन धर्मशाला में स्थित भरत-बाहुबली की द्विमूर्तिकाएँ। और भी दे.—चित्र सं. ८८, ८६ तथा ८६, ८७। २. दे.—मं. सं. ११ तथा जैन धर्मशाला में प्रदर्शित एवं स्तम्भ क्र. ११ (चित्र ४१) पर अंकित चक्रेश्वरी यक्षी की मूर्तियाँ। ३. दे.—चित्र सं. ६६, १०० तथा १११। ४. देखिए—(अ) रामचन्द्र मुमुक्षु : पुण्याश्रव कथाकोष, पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित, (बम्बई, १९१६ ई.) में यक्षी-कथा (ब) वादिचन्द्रः। अम्बिका कथासार। (स) प्रभाचन्द्र : प्रभावकचरित में विजयसिंह सूरि चरित। (ड) पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में 'देव्याः प्रबन्धः।' ५. कुछ सुन्दर मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. १०३ से १०५ तक तथा १०६। ६. दे.—(अ) मुनि सुकुमार सेन : विद्यानुशासन में भैरव-पद्मावती-कल्प। (ब) भद्रबाहु स्वामी : उवसग्ग-हरस्तोत्त, जैन स्तोत्र सन्दोह, पृ. १-१३। (स) तिलोयपण्णत्ती, भाग एक, महाधिकार ४, गाथा ६३६। (ड) आचार्य जिनसेन : पार्श्वाभ्युदय। (इ) वादिराजसूरि : पार्श्वनाथचरित। (ई) भावदेवसूरि : पार्श्वनाथ चरित। (उ) मल्लिषेणसूरि : भैरवपद्मावती-कल्प। (ऊ) जिनप्रभ सूरि : विविध तीर्थकल्प में पद्मावती कल्प। ७. कुछ महत्त्वपूर्ण मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. १०६ से ११० तक। ८. मं. सं. १२ के प्रदक्षिणा-पथ और गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर। और भी दे.—चित्र सं. २२, २३।

रक्षा करते हुए मरकर देव हुआ था और अब अपने पूर्व रूप में ही आकर मुनि से धर्म श्रवण कर रहा है। धर्म के पालन में मनुष्य का दर्जा देवों से भी बढ़कर है, यह जैनधर्म की अपनी विशिष्ट मान्यता है।

६. धार्मिक शिक्षा

यहाँ धर्म की शिक्षा उपाध्यायों और आचार्यों द्वारा पाठशालाओं में दी जाती थी।[१] इसके लिए वे ग्रन्थों का उपयोग तो करते ही थे, व्यावहारिक ज्ञान के प्रशिक्षण के लिए मानचित्रों का भी प्रयोग करते थे। एक स्तम्भ-खण्ड पर[२] तीन लोक,[३] सोलह स्वर्ग[४] और सात नरकों[५] का मानचित्र उत्कीर्ण किया हुआ मिला है।

७. धार्मिक अनुष्ठान

मन्दिर प्रतिष्ठाएँ और पंच कल्याणक महोत्सव

यहाँ मन्दिरों और मूर्तियों की अधिकता से यह स्वयं-सिद्ध है कि देवगढ़ में मन्दिर-प्रतिष्ठा और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि के उत्सव समय-समय पर होते रहते होंगे। ये उत्सव ऐसे हैं जिनमें साधु (भट्टारक) प्रेरक और प्रतिष्ठाचार्य के रूप में तथा श्रावक आयोजक और अनुष्ठानकर्ता के रूप में भाग लेते आ रहे हैं। इन उत्सवों में निकटवर्ती स्थानों के साधु और श्रावक भी आकर सम्मिलित होते होंगे। इस प्रकार ये अवसर आज की भाँति उस समय भी धार्मिक प्रभावना के श्रेष्ठ-साधन माने जाते थे। उत्सवों की यह परम्परा देवगढ़ में अबतक विद्यमान है।

गजरथ

सन् १९३९ में यहाँ जो पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई थी, वह इसलिए विशेष महत्त्व रखती है कि तब गजरथ भी निकाला गया था।[६] रथ की परम्परा देवगढ़ में थी या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर है यह बहुत प्राचीन। इसका महत्त्व सभी धर्मों में समान रूप से रहा है। जब मन्दिर-स्थापत्य का आरम्भ नहीं हुआ था, तब रथों से उनका उद्देश्य पूरा किया जाता था।[७] कालान्तर में इन्हीं के आकार पर मन्दिरों का निर्माण हुआ और उनके नाम पर ही मन्दिरों को रथ नाम दिया गया।[८] रथों की परम्परा को अखण्ड रूप में जीवित रखने का श्रेय विशेष रूप से जैनधर्म को ही है।[९]

मेला

इधर कुछ वर्षों से यहाँ मेला भी भरने लगा है। पहला मेला सन् १९३४ में और उसके बाद के सन् १९३६, १९३९ (रथोत्सव के समय[१०]), १९५४, १९५६ (बहुत बड़े स्तर पर[११]) और १९६५ में आयोजित हुए।

चातुर्मास, व्रत दीक्षा, पूजन विधान, सतत पाठ आदि

धार्मिक प्रभावना की दृष्टि से अब भी यहाँ मुनियों के चातुर्मास (वर्षा-वास) की व्यवस्था[१२], व्रतियों की

---

१. दे.—विभिन्न पाठशाला दृश्य, चित्र सं. ७५, ७७ से ८२ तथा ८५। २. मं. सं. १५ के महामण्डप में स्थित। ३. तीन लोक ये हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इनके विवरण के लिए देखिए—(अ) बृहत् जैन शब्दार्णव, भाग दो, पृ. ४८५। (ब) आ. उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित, पृ. ४८ और ४९ के बीच में संलग्न 'तीन लोक की रचना' शीर्षक मानचित्र। ४. सोलह स्वर्गों के नाम इस प्रकार हैं—"सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च।"—दे.—आ. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित, (सूरत, २४७२ वी. नि. सं.), अध्याय ४, सूत्र १९ तथा उसकी व्याख्या। ५. सात नरकों के नाम इस प्रकार हैं—"रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूमतमो-महातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः। देखिए—आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ. ३, सूत्र १) ६. यह गजरथ सिंघई गनपतलाल भैयालाल गुरहा, खुरई निवासी की ओर से निकाला गया था। इसकी प्रतिष्ठा-विधि पं. राजकुमार शास्त्री, इन्दौर के आचार्यत्व में मिती माघ सुदी १३, गुरुवार, विक्रम संवत् १९९५, वीर निर्वाण संवत् २४६५ तदनुसार दिनांक १२-१-१९३९ से दिनांक २-२-१९३९ तक, सम्पन्न हुई थी। ७. डॉ. आनन्दकुमार कुमारस्वामी : आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स, पृ. ११८-१९। ८. डॉ. एन. वैंकटराम नय्यर : एस्से आन द ओरीजिन आफ दी साउथ इण्डियन टेम्पल्स, (मद्रास, १९३० ई.), पृ. ६४। ९. डॉ. प्रेमसागर जैन : जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, (काशी, १९६३ ई.), पृ. ५९-६१। १० इसी समय श्री सिंघई गनपतलाल गुरहा को 'तीर्थभक्त' की तथा सिंघई भगवानदास सर्राफ (ललितपुर) को 'जैन जाति भूषण' की उपाधियाँ दी गयीं थीं। ११. इस अवसर पर अखिल भारतीय जैन परिषद् का ३०वाँ वार्षिक अधिवेशन, राजनैतिक सम्मेलन और महिला सम्मेलन आदि सम्पन्न हुए थे। १२. सन् १९६५ में यहाँ श्री १०८ आचार्य नेमिसागर महाराज (देहली) का ससंघ चातुर्मास हुआ था।

दीक्षा[1], अनेक प्रकार के बृहत् पूजन विधानें[2], सतत भक्तामर स्तोत्र पाठ[3] आदि के आयोजन समय-समय पर होते रहते हैं। इन अवसरों पर निकटवर्ती स्थानों से प्रचुर मात्रा में समाज उपस्थित होकर धर्म-लाभ प्राप्त करता है।

८. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

सूक्ष्म धर्मबोध

तीर्थंकर की माता के सोलह स्वप्नों[4], तीर्थंकर के आठ प्रातिहार्यों[5], आठ मंगल द्रव्यों और नवग्रहों[6] का द्वारों तथा मूर्तियों पर अंकन यह सूचित करता है कि देवगढ़ का जैन समाज न केवल धर्म प्रेमी था, प्रत्युत धर्म की सूक्ष्मताओं और प्रतीकों को भी भली-भाँति समझता था।

समन्वय

जीवन को धर्म के अनुकूल जीने में उसे विशेष आनन्द मिलता था। वह अर्थ और काम के भी ऊपर धर्म को ला बिठाने में बहुत कुशल था। दो स्थानों पर[7] तीर्थंकर की माता को रत्नजटित शय्या पर एक अत्यन्त मोहक और ऐश्वर्य-द्योतक मुद्रा में लेटा दिखाया गया है। शय्या क्या, उसे तो एक बहुमूल्य सिंहासन कहना चाहिए, जिसके नीचे सिंहों और हाथियों की सुघड़ आकृतियाँ दिखायी गयी हैं। कोई सेविका उन्हें पंखा झल रही है तो कोई उनके चरण सहला रही है।[8] अर्थ और काम का अनोखा संयोग बन पड़ा है। इस सबके ऊपर कलाकार ने चौबीस-तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उकेरकर धर्म-पुरुषार्थ का अद्भुत समा बाँध दिया है। देवगढ़ के जैन समाज की धर्म, अर्थ और काम के प्रति यह समन्वित निष्ठा निश्चय ही उसे अक्षय-सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने के लिए काफ़ी थी।

९. निष्कर्ष

इस प्रकार देवगढ़ का धार्मिक दृष्टि से सर्वेक्षण करने पर अग्रलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं—

१. यहाँ प्रायः आदि से अन्त तक भट्टारकों का प्रभुत्व रहा। धर्म-प्रचार के लिए अध्यापन और सार्वजनिक प्रवचन आदि के अतिरिक्त प्रतिष्ठोत्सव, नृत्य तथा संगीत के आयोजन एवं अतिथि-सत्कार आदि के साधन अपनाये जाते थे।

२. कुछ भट्टारक स्थान-स्थान पर भ्रमण करके भी जैनधर्म का प्रचार करते थे, जैसा कि एक ही भट्टारक के विभिन्न स्थानों पर उल्लेखों से ज्ञात होता है।[9]

३. धर्म के उत्थान में श्रावक-श्राविकाओं का योगदान भी उल्लेखनीय है, जो समय-समय पर विभिन्न उत्सवों के आयोजन करते रहते थे और मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण में अपने न्यायोपात्त द्रव्य का सदुपयोग किया करते थे।

४. साधुओं को निवासगृहों एवं अन्य सुविधाओं की व्यवस्था भी इन्हीं के द्वारा होती थी।

५. देवगढ़ में जैनधर्म के प्रचार का अधिकांश श्रेय वहाँ के श्रावक-श्राविकाओं को ही था, क्योंकि खजुराहो, चन्देरी और ग्वालियर आदि की भाँति इस स्थान को राज्याश्रय कभी नहीं मिला। पुनरपि देवगढ़ में जैनधर्म का आविर्भाव और विकास उच्चस्तर और तीव्र गति से हुआ, शानदार मन्दिर और कलापूर्ण मूर्तियाँ इस तथ्य के जीवन्त प्रमाण हैं।

---

१. अभी सन् १९६६ में चातुर्मास के मध्य आयोजित श्री सिद्धचक्र मण्डल विधान के शुभावसर पर श्री १०५ पद्मसागरजी ने क्षुल्लक पद की दीक्षा ली। २. उदाहरणार्थ सन् १९६५ में श्री सिद्धचक्र मण्डल-विधान तथा सन् १९६७ में श्रीत्रैलोक्य-तिलक-मण्डल-विधान महोत्सव के साथ सम्पन्न हुए। ३. ललितपुर, जाखलौन आदि निकटवर्ती स्थानों की जैन-समाज समय-समय पर सामूहिक रूप से इस प्रकार के सतत पाठों का आयोजन करती रहती है। ४. दे.—मं. स. १२ के गर्भगृह के प्रवेश द्वार का सिरदल तथा चित्र सं. १६, २०। ५. देवगढ़ की सैकड़ों तीर्थंकर-मूर्तियों पर इनके अंकन देखे जा सकते हैं। ६. मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल, मं. सं. १८ के महामण्डप के प्रवेश-द्वार के सिरदल तथा मं. सं. ३१ के प्रवेश-द्वार के सिर-दल पर; एवं मं. सं. १२ के गर्भगृह की मुख्य-प्रतिमा तथा महामण्डप की (दायें से बायें) तीसरी, मं. सं. १३ की (बायें से दायें) २०वीं तीर्थंकर मूर्ति तथा एक अन्य तीर्थंकर मूर्ति के अतिरिक्त जैन-चहारदीवारी की बाहरी उत्तरी भित्ति पर (बायें से दायें) पाँचवीं देवी-मूर्ति के साथ इनका अंकन हुआ है। ७. मं. सं. ४ की भीतरी बायीं भित्ति पर जड़ी हुई एवं मं. सं. ३० में स्थित। ८. दे.—चित्र सं. ६३। ९. उदाहरण के लिए पद्मनन्दी, रत्नकीर्ति, ललितकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, आदि का उल्लेख ललितपुर, गंजबासौदा, बीकानेर आदि के अभिलेखों में प्राप्त होता है। दे.—(अ) अगरचन्द भँवरलाल नाहटा : बीकानेर जैन लेखसंग्रह, (कलकत्ता, २४८२ वी. नि.), लेखांक १३७३, १४४४ तथा १५१४ (पृ. १८०, १९३ और ३०२)। (ब) कुन्दनलाल जैन : गंजबासौदा के जैन मूर्ति व यन्त्रलेख : सन्मति सन्देश, (अगस्त, १९६५ ई.), पृ. ३५-३६।

सामाजिक जीवन

१. अध्ययन स्रोत

देवगढ़ के प्राचीन और मध्यकालीन सामाजिक जीवन एवं संस्कृति का मूल्यांकन करने के लिए वहाँ उपलब्ध तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य स्रोतों का अध्ययन आवश्यक है। मन्दिरों की भित्तियों, मूर्तिफलकों और शिलापट्टों पर अंकित सामाजिक और सांस्कृतिक दृश्य इस अध्ययन में सहायक हैं। अभिलेखीय उल्लेख भी उपयोगी हैं। स्वयं देवगढ़ में लिखा गया कोई साहित्य नहीं मिलता पर अन्यत्र लिखे गये साहित्य से यहाँ के सामाजिक जीवन और संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन सबके अतिरिक्त, मन्दिरों और मूर्तियों की अधिकता एवं कलात्मकता आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनसे तत्कालीन समाज की आर्थिक-सम्पन्नता, परिष्कृत-रुचि और धार्मिक-निष्ठा का परिचय प्राप्त होता है। इन सब स्रोतों से हमें अनेक तथ्यों पर विचार करना है। वहाँ का समाज किन वर्गों में विभक्त था, उसकी आर्थिक स्थिति कैसी थी, धर्म-परायणता की प्रवृत्ति वहाँ किस सीमा तक थी, शिक्षा का प्रचार और उसके साधन क्या थे, लिपि और भाषा क्या थी, वेश-भूषा और प्रसाधन के क्या रूप थे और आमोद-प्रमोद के साधन क्या थे ?

२. समाज के विभिन्न वर्ग

१. उच्च और निम्नवर्ग

समाज का वर्गगत विभाजन प्रायः आज की ही भाँति प्राचीनकाल में भी सम्भव था। देवगढ़ इसका अपवाद नहीं है। वहाँ कुछ लोग उच्चवर्ग के और कुछ निम्नवर्ग के थे। यहाँ निम्नवर्गीय समाज के अंकन प्रायः बहुत कम हैं, परन्तु उच्चवर्गीय समाज की अच्छी झाँकी मिलती है। सम्भ्रान्तवर्ग के लोग बहुमूल्य वस्त्र पहनते थे, सोने और रत्नों के अलंकार धारण करते थे,[1] साधुओं और तीर्थंकरों की उपासना में समय व्यतीत करते थे[2] और गीत तथा नृत्य में गहरी रुचि रखते थे।[3] उच्चवर्ग की स्त्रियाँ भी सौन्दर्य की महत्ता समझती थीं। वे अपने पति से मिलने, किसी मण्डली में सम्मिलित होने या किसी सार्वजनिक स्थान पर जाने से पूर्व प्रसाधन करना न भूलती थीं,[4] इसके लिए वे दर्पण आदि की सहायता भी लेती थीं।[5] निम्नवर्ग की स्त्रियाँ जो अपेक्षाकृत कम सुसज्जित और संस्कृत दिखाई देती थीं, उनके साथ परिचारिकाओं आदि के रूप में रहा करती थीं।[6] निम्नवर्ग के पुरुष भी उच्चवर्ग के पुरुषों की परिचर्या और वाहनों की व्यवस्था आदि करते थे।[7] यहाँ किसी भी कृति में कोई भी स्त्री अवगुण्ठन धारण किये नहीं दिखाई पड़ी।[8]

२. चतुर्विध संघ

देवगढ़ के समाज को चतुर्विध-संघ के रूप में विभाजित करना अधिक उपयुक्त होगा—

---

१. बहुमूल्य वस्त्रों तथा आभूषणों आदि के लिए दे.—चित्र सं. ६, ७, १८-२१, ३३, ३५, ६३, ६५-११२, ११४-११६, १२१ तथा १२२ आदि। २. दे.—चित्र सं. ५२, ५३, ६४, ७६, ७७, ७९ से ८८ तक तथा १०६। ३. दे.—चित्र सं. १६, २३, ३५, ५७, ११६, ११८ आदि। ४. दे.—चित्र सं. ११४, ११६ से १२१ तक आदि। ५. (अ) मं. सं. ११ की दूसरी मंजिल पर महामण्डप के द्वार पक्ष (बायें) पर एक दर्पणधारिणी शुचिस्मिता का आकर्षक अंकन है। यह अपने बायें हाथ में दर्पण लिये है और दायें से ओष्ठ को प्रसाधित करती प्रतीत होती है। दे.—चित्र सं. ११७। (ब) मं. सं. १८ के महामण्डप के प्रवेशद्वार पर दर्पण के सहारे अपनी ललाटिका को व्यवस्थित करती हुई एक सुन्दरी का सुन्दर अंकन है। दे.—चित्र सं. ११६। ६. दे.—चित्र सं. ६, ७, २१, ३३, ६५, ६६, १००, १०४, १०८ आदि। ७. दे.—मं. सं. ११ और १२ के प्रवेशद्वार की देहरी। (चित्र सं. १८)। ८. दे.—चित्र सं. ६, ७, १६, २१, ३३, ३५, ६१, ६५-११२, ११६ आदि।

साधु

प्रथमवर्ग साधुओं का था। ये लोग पंच-परमेष्ठियों में से अन्तिम तीन परमेष्ठी माने जाते रहे हैं। आचार्य तीसरे परमेष्ठी थे। ये सम्पूर्ण साधुसंघ के, जिसमें साध्वियाँ भी सम्मिलित थीं, संचालक होते थे। चौथे परमेष्ठी उपाध्याय कहलाते थे जिनका कार्य साधुओं और साध्वियों को नियमित रूप से तथा श्रावक-श्राविकाओं को समय-समय पर शिक्षा देना था। साधुओं का यह वर्ग देवगढ़ में सर्वाधिक सक्रिय और कर्तव्यनिष्ठ था, जैसा कि वहाँ प्राप्त अनेक पाठशाला के दृश्यों [1] से प्रमाणित होता है। साधुवर्ग पाँचवें परमेष्ठी थे। वे तीसरे और चौथे परमेष्ठियों की विनय और वैयावृत्ति आदि तो करते ही थे, स्वाध्याय और तपश्चर्या आदि में भी संलग्न रहते थे। वे स्थान-स्थान पर भ्रमण करके श्रावक-श्राविकाओं को धर्मोपदेश भी देते थे। उनके उपदेश के अधिकारी मनुष्य ही नहीं, पशु भी होते थे।[2] कुछ साधु श्राविकाओं से संवाहन कराने [3] तथा हाथ का उपधान लगाकर आराम से लेटने [4] आदि की 'उत्सूत्र-प्रवृत्ति' भी कर बैठते थे। कुछ साधु क्रोधी भी होते थे, जिनकी मुखाकृति अपने गुरु की उपस्थिति में भी उद्दण्डतापूर्ण और आवेशमय रहती थी।[5] इसी प्रकार वहाँ कुछ तुन्दिल साधु भी रहते थे।[6] परन्तु इन दो-तीन अपवादस्वरूप अनुचित प्रवृत्तियों के विरुद्ध वहाँ कुछ घोर तपस्वी साधु भी रहते थे। भगवान् आदिनाथ के द्वितीय सुपुत्र बाहुबली ने इतनी कठोर और दीर्घकालीन तपस्या की थी कि निरन्तर हिले-डुले बिना ही खड़े रहने के कारण उनके शरीर पर लताएँ चढ़ गयी थीं और सर्प, छिपकली तथा बिच्छू आदि विषैले जन्तु भी निर्भय होकर रेंगने लगे थे।[7]

साध्वियाँ

साध्वियाँ भी स्वाध्याय और तपश्चर्या में मग्न रहती थीं। वे पाठशालाओं में भी उपस्थित होती थीं। कुछ साध्वियाँ मूर्तियाँ भी बनवाती थीं। संवत् १०९५ और उसके आस-पास कभी इन्दुओं [9] नाम की साध्वी ने, संवत् ११३५ में लवनासरी [10] नाम की साध्वी ने और किसी समय गणी [11] नाम की साध्वी ने मूर्तियों का दान किया था। यही नहीं, संवत् ११७६ में सोमती [12] नामक साध्वी ने और उसके कुछ समय आस-पास उसकी बहन धनियाँ [13] ने, संवत् १२०१ में मदन [14] नाम की साध्वी ने, सं. १२०७ में आर्यिका नवासी [15] ने तथा सं. १२०९ में आर्यिका धर्मश्री [16] ने, मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी करायी थी। श्रावक और श्राविकाएँ—दोनों ही, साध्वियों से उपदेश प्राप्त करते थे।[17] वरिष्ठ साध्वियाँ कनिष्ठ साध्वियों पर कड़ी नजर रखती थीं और अपराध हो जाने पर कनिष्ठ साध्वियाँ घुटनों के बल (उकड़ूँ) बैठकर उनसे क्षमायाचना करती थीं।[18]

जैनधर्म के उत्थान में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का योगदान अधिक रहा। मथुरा से प्राप्त सैकड़ों जैन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि धर्म के प्रति स्त्रियों की आस्था पुरुषों से कहीं अधिक थी और धर्मार्थ दान देने में वे सदा पुरुषों से आगे रहती थीं [19]। मथुरा के प्रमुख जैनस्तूप के निर्माण में बहुसंख्यक महिला दानदातारों का हाथ था। देवगढ़ में भी उपर्युक्त प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।[20] वर्तमानकाल में भी धार्मिक अभिरुचि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में ही अधिक विकसित दिखाई पड़ती है।

श्रावक-श्राविकाएँ

श्रावकवर्ग भी कर्तव्यपालन और धर्माचरण में साधुवर्ग से पीछे नहीं रहता था। जो श्रावक साधु अवस्था धारण

---

१. दे.—चित्र सं. ७५, ७७-८२ तथा ८५ आदि। एवं कुछ महत्त्वपूर्ण उपाध्याय मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. ८३ आदि। २. मं. सं. १२ के गर्भगृह तथा प्रदक्षिणापथ के प्रवेशद्वार पर। दे.—चित्र सं. २२-२३। ३. मं. सं. १८ के महामण्डप के प्रवेशद्वार पर। दे.—चित्र सं. ६१ तथा ११६। ४. वही। ५. मं. सं. एक के पृष्ठभाग में। दे.—चित्र सं. ७७। ६. वहीं पर। दे.—चित्र सं. ७८ और ८०। ७. दे.—मं. सं. २, ११ के दूसरे खण्ड का गर्भगृह और जैन धर्मशाला में अवस्थित बाहुबलि-मूर्तियाँ तथा चित्र सं. ८६ से ८८ तक। ८. दे.—परिशिष्ट एक, अभि. क्र. ११। ९. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ३०। १०. दे.—परि. एक, अभि. क्र. १०७। ११. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ३२। १२. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ५१। १३. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ५६। १४. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ५२। १५. दे.—परि. एक, अभि. क्र. २५। १६. दे.—परि. एक, अभि. क्र. २३। १७. मं. सं. चार में जड़ी मूर्तियाँ तथा स्तम्भ सं. ११ में। १८. दे.—मं. सं. १० में दक्षिणी स्तम्भ (पूर्वी ओर)। चित्र सं. ६२। १९. (अ) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा से प्राप्त दो नवीन अभिलेख : वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, (सागर, २४७६ वी. नि.), पृ. २२९-३१। (ब) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय कला में भ. महावीर : सन्मति सन्देश, (मई, १९६१), पृ. ३५। (स) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : कला का इतिहास, हिन्दी साहित्य, जिल्द दो, (प्रयाग, १९६२ ई.), पृ. २२३। २०. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ६२,७,१२,१३,५५,६८, १०४,१२० आदि।

करने में असमर्थ होते थे वे उत्कृष्ट श्रावक अर्थात् ऐलक[1] का पद स्वीकार करते थे[2]। अतिथियों का सत्कार करते हुए सपत्नीक श्रावक की तत्परता और श्रद्धा दर्शनीय होती थी[3]। तीर्थंकर की मूर्तियों के समक्ष नृत्य और गीत के कार्यक्रमों का प्रचलन देवगढ़ में प्रचुरता से था[4]। इन कार्यक्रमों में श्रावक और श्राविकाएँ समान रूप से भाग लेती थीं। दान-शालाओं का निर्माण होता था, जिसमें श्रावकों के अतिरिक्त पण्डितवर्ग भी भाग लेता था[5]। कुछ श्राविकाएँ नारिकेल आदि सामग्री लेकर पूजन को जाया करती थीं[6]। कुछ श्राविकाएँ पाठशालाओं में जाकर शिक्षा भी ग्रहण करती थीं[7]।

(३) वंश और उपजातियाँ

उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त समाज विभिन्न वंशों और उपजातियों में भी विभक्त था। सन् १२०३ ई. के लगभग देवगढ़ पाली में देपद और खेपद नामक दो भाइयों ने एक महान् जैन यज्ञ कराया था। उसी समय मुहम्मद गोरी की सेना से बचकर भागे हुए कुछ क्षत्रिय वहाँ आ पहुँचे। ये दिल्ली के आसपास रहनेवाले 'रत्नागिरे' क्षत्रिय थे। वे जैनधर्म स्वीकार करके उस यज्ञ में सम्मिलित हो गये। इसी अवसर पर उन्हें 'कठनेरा'[8] जैन के नाम से घोषित किया गया। एवं उसी समय उन्हें साढ़े बारह गोत्रों में विभाजित किया गया—(१) सिंघई आरत्या, (२) सिंघई वीवटिया, (३) सेठ पुजेरे, (४) सेठ टीकैत, (५) साहु ढिलौआ, (६) भण्डारी, (७) नायक, (८) कोंडर, (९) खारक्या, (१०) तेलिया, (११) खड़ेले, (१२) रखड़या, (ii) निगोत्या। इनके वंशज आज भी विद्यमान हैं और वे अपने को श्री कुन्दकुन्दाम्नायी, मूलसंघी तथा सरस्वतीगच्छ से सम्बन्धित मानते हैं।[9]

संवत् १४८१ के एक अभिलेख[10] में अग्रोतक वंश का उल्लेख है, जिससे वर्तमान अग्रवाल समाज अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी अभिलेख में गर्ग नामक गोत्र का भी उल्लेख हुआ है। यहीं के, संवत् १४९३ के एक अभिलेख[11] में 'अष्टशाख' नामक वंश का उल्लेख मिलता है। यह 'अष्टशाख' वर्तमान जाति में प्रचलित 'अठसका' ही है। संवत् १६९३ के एक अभिलेख[12] में 'गोलापूर्व' नामक उपजाति का भी उल्लेख मिला है। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि देवगढ़ का समाज विभिन्न वंशों, गोत्रों और उपजातियों का समष्टिगत रूप तो था ही, साथ ही कठनेरा जैसी उपजाति का जन्म-स्थान भी था।

३. धर्मपरायणता

धर्मपरायणता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म की गणना प्रथम स्थान पर होती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदारसन्तोष और परिग्रह-परिमाण धर्म के ही विभिन्न रूप हैं। ये रूप व्यक्ति की सामर्थ्य और परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार कभी अत्यन्त सूक्ष्म और कभी अत्यन्त विशाल आकार में

---

१. ऐलक का लक्षण—(अ) गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य। भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥

—आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार : (देहली, १९५१) श्लो. १४७।

(ब) आचार्य वसुनन्दि : वसुनन्दि श्रावकाचार : (काशी, १९५२ ई.), भूमिका, पृ. ६३ तथा गाथा ३११।

२. दे.—ऐलक की प्रतिमा, मं. सं. १५ के मण्डप में (बायें से दायें) अन्तिम मूर्तिफलक। ३. दे.—मं. सं. १२ के गर्भगृह और प्रदक्षिणापथ के प्रवेशद्वार। और भी दे.—चित्र सं. २२, २३। ४. नृत्य और गीत की मण्डलियाँ देवगढ़ में मन्दिरों के प्रवेशद्वारों, स्तम्भों तोरणों तथा मूर्तिफलकों आदि पर बहुत बड़ी संख्या में देखी जा सकती हैं। दे.—चित्र सं. १६, २३, ३५, ४७, ११६, ११८ आदि। ५. दे.—द्वितीय कोट की उत्तरी दीवाल में भीतर की ओर प्राप्त कतिपय अभिलेख, जिनमें दानशालाओं के निर्माण के विवरण के अतिरिक्त उनका वर्णन भी किया गया है। और भी देखिए—दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., परि. 'अ' अभिलेख क्रमांक १९५, १२६ और १२९। ६. मं. सं. एक के मण्डप में आचार्य परमेष्ठी की मूर्ति के पादपीठ में। दे.— चित्र सं. ७७ और ७९। ७. दे.—पाठशालाओं के विभिन्न दृश्य। और भी दे.—चि. सं. ७७ से ८२। ८—इन्हें जैनसंघ में सम्मिलित करते समय यह शर्त रखी गयी थी कि उक्त महायज्ञ के समय उपस्थित समाज को, ये लोग 'काष्ठ' (ईंधन) के बिना भोजन तैयार कर पंक्तिभोज दें। उन लोगों ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया था और अपने बहुमूल्य वस्त्रों आदि को घी-तेल में भिगोभिगोकर उन्हें जलाकर भोजन तैयार कर उक्त महायज्ञ में आगत समस्त समाज को पंक्तिभोज दिया था। यह एक कठिन कार्य था। अतः उपस्थित समुदाय ने उनके साहस और निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा उनके कार्य के अनुरूप सभी ने उनका नाम 'कठनेरा' निर्धारित किया। दे.—हरिकृष्ण कवि : बृहत्पंचकल्याणक विधान : (बम्बई, १९२९ ई.), भूमिका, पृ. ३.७। ९. दे.—वहीं, पृ. ७। १०. दे.—राष्ट्रीय संग्रहालय, देहली में सुरक्षित, ६ फुट ३ ई.×२ फु. १ ई. के शिलाफलक पर उत्कीर्ण, देवगढ़ से प्राप्त अभिलेख का ३२वाँ अनुच्छेद। और भी दे.—परि. दो, अभि. क्र. चार। ११. देवगढ़ की जैन धर्मशाला में सुरक्षित। दे.—परि. २, अभि. क्र. ५। १२. मं. सं. ७की चरणपादुका पर उत्कीर्ण। दे.—परि. दो, अभि. क्र. ६।

दीख पड़ते हैं। जहाँ तक देवगढ़ के समाज का प्रश्न है, वहाँ धर्म के प्रायः सभी रूप लघुतम से महत्तम तक आकार में पुष्पित होते हैं। सूखे हाथों साधु की वन्दना कर लेनेवाली अबोध श्राविका[1] से लेकर सतत एक वर्ष तक प्रचण्ड तपश्चर्या करनेवाले साधु[2] तक का जीवन यहाँ अंकित किया गया है। एक ओर पिटता हुआ परस्त्री लम्पट दिखाया गया है,[3] तो दूसरी ओर देवांगनाओं द्वारा रिझाये जाने पर भी हिमालय की भाँति अडिग तपस्वी को भी मूर्त्यंकित किया गया है।[4] साधुओं अर्थात् अतिथियों का आहार आदि से सत्कार करनेवाले सद्गृहस्थ तो देवगढ़ में थे ही[5], साथ ही साधुओं के चरण संवाहन करनेवाले भक्त भी थे।[6]

देवी-देवताओं की उपासना को हम धर्म की सीमाओं में बाँधें या न बाँधें, पर उसका प्रचार देवगढ़ में बहुत रहा है। सैकड़ों की संख्या में प्राप्त हुई उनकी मूर्तियाँ[7] निर्विवाद रूप से घोषित करती हैं कि देवगढ़ का समाज चमत्कार को नमस्कार करता था। और धीरे-धीरे आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर झुकता जा रहा था, यह एक दोष हो सकता है। किन्तु यह दोष केवल देवगढ़ तक अथवा जैनधर्म तक ही सीमित नहीं था, बल्कि अखिल भारतीय स्तर पर इस दोष की जड़ें जम चुकी थीं। बौद्धधर्म में वज्रयानी शाखा के साथ, वैदिकधर्म में कौल और कापालिक तथा जैनधर्म में भट्टारकों ने धर्म के नाम पर ऐहिक सुखों की प्राप्ति और वासनाओं की तृप्ति के बीसों बहाने खोज निकाले। उन्होंने विभिन्न देवी-देवताओं और मन्त्र-तन्त्र आदि की कल्पित कथाओं और चमत्कारों द्वारा समाज को मोहित कर लिया। उनकी यह मोहनशक्ति गुप्तोत्तरकाल से दृढ़ से दृढ़तर होती गयी और मुगलकाल के समाप्त होते-होते क्षीण हो चली। उसके अवशेष काश्मीर के कौलों, मथुरा, बनारस आदि के पण्डों और दक्षिण भारत के भट्टारकों आदि के रूप में आज भी विद्यमान हैं। देवगढ़ इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से अछूता नहीं रहा। वहाँ भट्टारकों की एक सबल परम्परा शताब्दियों तक विद्यमान रही।[8] जिसने वहाँ के समाज की तथाकथित धर्मपरायणता को अक्षुण्ण बनाये रखने में सराहनीय योगदान दिया।

४. शिक्षा

प्राचीन भारत में ऐहिक चिन्तन की अपेक्षा तत्त्वज्ञान तथा पारलौकिक चिन्तन की ओर अधिक प्रवृत्ति थी। वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की व्यवस्था पर प्राचीन ऋषि-मुनियों ने यह प्रयत्न किया था कि जीवन का अधिकांश उच्च तत्त्वज्ञान के चिन्तन में व्यतीत हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सांसारिक कोलाहल से दूर प्रकृति के क्रीडास्थल वन-उपवन चुने गये। इन स्थानों पर ऋषि-मुनियों के आश्रमों की स्थापना हुई, जो शिक्षा तथा धर्म के केन्द्र बने।[9] आश्रमों की स्थापना वन-उपवनों के अतिरिक्त नदियों के किनारे और नगरों के निकट भी होने लगी थी। ये तपोवन या

---

१. दे.—चित्र सं. २३। मं. सं. १२ के प्रदक्षिणापथ के प्रवेशद्वार पर (दायें) साधु को खाली हाथ विनय प्रदर्शित करती हुई एक श्राविका का अंकन है। २. दे.—चित्र सं. ८६ से ८८ तक। ३. दे.—चित्र सं. ११५। ४. दे.—चित्र सं. १६। ५. दे.—चित्र सं. २२, २३। ६. दे.—चित्र सं. ९१ तथा ११६। ७. कुछ विशिष्ट देव-देवियों की मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. १६, २० तथा ९९ से ११३ तक। ८. डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल को एक ऐसी पट्टावली प्राप्त हुई है, जो अब तक अनुपलब्ध थी। इस पट्टावली से हमारे उक्त कथन की सप्रमाण पुष्टि होती है। "यह पट्टावली एक पत्र के रूप में लिखी हुई है। पत्र बागीदोरा गाँव से देवगढ़ नगर को लिखा गया था। पत्र के प्रारम्भ में वहाँ के प्रतिष्ठित सज्जनों के नाम दिये गये हैं। फिर लिखा गया है कि सं. १३०० से १४०० तक गुजरात में दिगम्बर जैनधर्म की अच्छी दशा नहीं थी किन्तु जब भट्टारक सकलकीर्ति ने उधर विहार किया और अपनी भट्टारक गद्दी स्थापित की, तब से वहाँ धर्म की उन्नति होती गयी। पत्र से सकलकीर्ति की मृत्यु संवत् १४९९ में महसाना नगर में होना लिखा है। मृत्यु के समय ये ५६ वर्ष के थे। इनके पीछे आचार्य धर्मकीर्ति भट्टारक बने। इन्होंने सागवाड़ा के आदिनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और नौगाँव में अपनी भट्टारक गद्दी की स्थापना की। ये २४ वर्ष तक भट्टारक रहे, इनके पश्चात् विमलेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए जो १२ वर्ष तक जीवित रहे। इधर आत्रीय (आतरी) गाँव में भट्टारक भुवनकीर्ति का पट्टाभिषेक हुआ। भुवनकीर्ति के पश्चात् भट्टारक ज्ञानभूषण एवं विजयकीर्ति हुए। इसी समय सागवाड़ा एवं नौगाँव में एक ही दिन दो अलग-अलग प्रतिष्ठाएँ हुईं। पत्र के अनुसार इन प्रतिष्ठाओं के समय बड़साजन एवं लोहड़साजन की उत्पत्ति हुई। जिसमें बड़साजनों के भट्टारक विजयकीर्ति एवं लोहड़साजनों के रत्नकीर्ति भट्टारक कहलाने लगे। भट्टारक रत्नकीर्ति के पश्चात् संवत् १८०५ तक कितने ही भट्टारक हुए। जिनका इस पट्टावली में नामोल्लेख किया हुआ है। अन्तिम भट्टारक अमरचन्द्र थे, जो भट्टारक देवचन्द्र की मृत्यु के पश्चात् गद्दी पर बैठे थे। पट्टावली में सभी भट्टारकों के नामों का उल्लेख हुआ है। पट्टावली हिन्दी गद्य में है तथा गुजराती भाषा के शब्दों का बाहुल्य है। पट्टावली संवत् १८०५ की लिखी हुई है। तथा भट्टारकीय शास्त्र भण्डार डूंगरपुर (राजस्थान) के संग्रह में है।" डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल : तीन ऐतिहासिक भट्टारक पट्टावलियाँ : सन्मति सन्देश, वर्ष ७, अंक ३ (मार्च, १९६२ ई.), पृ. २७। ९. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्र : विक्रम स्मृति ग्रन्थ संवत् २००१ : (ग्वालियर, अप्रैल, १९४४ ई.), पृ. ७२७।

आश्रम धीरे-धीरे शिक्षा के केन्द्र बने। वैदिक आश्रमों के अनुरूप जैनों ने भी अपने विहार, मठ और मन्दिर बनवाये, जिनमें उन्होंने अपने धर्मों की शिक्षा की व्यवस्था की।[1]

शिक्षक : शिक्षार्थी

देवगढ़ में शिक्षा का प्रचार बहुत अधिक था। शिक्षा का कार्य प्रायः साधुवर्ग द्वारा सम्पन्न होता था। उनकी कुछ कक्षाओं में केवल साधु, कुछ में साधु और साध्वियाँ तथा कुछ में साधु-साध्वियों के साथ श्रावक-श्राविकाएँ भी सम्मिलित होती थीं। अल्पायु के बालक तो शिक्षा पाते ही थे, वयोवृद्ध ब्रह्मचारी और पण्डित भी कक्षाओं में सम्मिलित होते थे।[2] छात्राओं को शिक्षा देने का कार्य विदुषी महिलाओं द्वारा सम्पन्न होता था।[3] प्राचीन भारत में उन्हें 'उपाध्यायिनी' और 'उपाध्याया' कहा जाता था।[4] देवगढ़ के शिक्षार्थी ब्रह्मचारी पुस्तकें रखने के लिए 'बस्ता' का प्रयोग करते थे, जिसे वे कन्धे पर टाँगकर लाते और ले जाते थे।[5]

शिक्षा देनेवाले प्रायः उपाध्याय परमेष्ठी ही होते थे। उनके हाथ में ग्रन्थ और सामने एक टूटदार मेज होती थी।[6] वे सैद्धान्तिक पक्ष को भी व्यावहारिक पक्ष की भाँति सरलता से समझा लेते थे। इसके लिए वे तीन लोक आदि के मानचित्र आदि का प्रयोग करते थे।[7]

विषय

शिक्षा के विषयों में अध्यात्म, धर्म, साहित्य और योगशास्त्र आदि के अतिरिक्त नृत्य, गीत, भवन-निर्माण और मूर्ति-निर्माण आदि कलाएँ भी सम्मिलित थीं।

उपकरण

शिक्षा के उपकरणों में वह मेज विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो आधुनिक टूटदार 'टेबल' से बहुत अधिक मिलती-जुलती है। उसपर यदा-कदा आज की ही भाँति वस्त्र (टेबल क्लाथ) भी बिछाया जाता था।[8] व्यावहारिक ज्ञान के लिए मानचित्रों और वाद्यों[9] का प्रयोग होता था।

शिक्षालय

पाठशालाएँ मन्दिरों, मठों और दानशालाओं आदि में लगती होंगी, परन्तु कुछ पाठशालाएँ वृक्षों के नीचे भी लगती थीं।[10] प्रकृति की निश्छल गोद में अध्ययनरत छात्र और अध्यापन में मग्न आचार्य के अंकन गुरुकुल-पद्धति का सुखद स्मरण कराते हैं।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध मधुरता और वात्सल्य से पूर्ण होते थे किन्तु एक स्थान पर दो साधु अपने गुरु के समक्ष, न जाने क्यों, अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे थे।[11]

प्राचीन भारत में तक्षशिला, काशी, वलभी आदि स्थानों में शिक्षा के इतने बड़े केन्द्र स्थापित हो गये थे कि उनमें चिकित्सा और धनुर्विद्या आदि विषयों का उच्चकोटि का शिक्षण दिया जाता था और उनके हजारों विद्यार्थियों में बहुत से विदेशी भी होते थे। इनके अतिरिक्त वन-उपवनों में भी शिक्षा दी जाती थी। साहित्यिक उल्लेखों के अतिरिक्त प्राचीन कला के कुछ ऐसे अवशेष भी मिले हैं, जिनमें गुरुओं और विद्यार्थियों के विविध प्रकार से अंकन द्रष्टव्य हैं। मथुरा के एक वेदिकास्तम्भ पर एक अध्यापक शिष्यों को व्याख्यान देते हुए आलिखित है। अजन्ता के चित्रों में एक दण्डधारी

---

१. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीन भारत के तपोवन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : (काशी, वि. सं. २००५), वर्ष ५३, अंक ३-४, पृ. २३६। २. दे.—विभिन्न पाठशाला दृश्य तथा चित्र सं. ७७-८२ एवं ८५। ३. दे.—जैन धर्मशाला स्थित चैत्यालय में उपाध्याय परमेष्ठी की मूर्ति का अभिलेख (परि. दो, अभि. क्र. तीन)। ४. प्रो. कृ. द. वाजपेयी : प्रा. भा. के शि. के. : वि. स्मृ. ग्रं. : पृ. ७२१। ५. दे.—मं. सं. १२ के अर्द्धमण्डप के सामने पड़े किसी द्वार के अवशेष, मं. सं. एक के मण्डप में जड़ी (चित्र सं. ८०) आचार्य मूर्ति तथा जैन चहारदीवारी। ६. दे.—मं. सं. ४ आदि में उत्कीर्ण विभिन्न पाठशाला दृश्य चित्र सं. ७५, ७७-८२ एवं ८६ आदि : ७. दे.—मं. सं. १५ में स्थित तीन लोक का मानचित्र। ८. दे.—मं. सं. चार के गर्भगृह में पश्चिमी भित्ति में जड़ी हुई मूर्ति। ९. दे.—चित्र सं. ५७, ११८ आदि। १०. दे.—मं. सं. एक के पृष्ठ भाग में जड़ी हुई आचार्य मूर्ति। ११. द्रष्टव्य—मं. सं. एक का पृष्ठ भाग, चित्र सं. ७७।

गुरु पट्टीधारी शिष्यों को पढ़ाते हुए चित्रित हैं। तिलमुट्ठि नामक बौद्ध जातक (संख्या २५२) में एक शिष्य को गुरु ने अन्य दो शिष्यों की सहायता से इसलिए पीटा था कि उसने एक बुढ़िया के तिल चुराये थे। गान्धारकला के एक प्रतिनिधि शिलापट्ट[1] पर अध्ययनार्थ रथ पर जाते हुए कुमार गौतम अंकित हैं, साथ में उनके सहपाठी भी दावातें और पट्टियाँ लिये हुए आ रहे हैं। भुवनेश्वर के राजरानी मन्दिर में एक पण्डित जी और उनके शिष्यों का चित्रण बड़ा प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।[2] देवगढ़ में पाठशाला-दृश्यों की बहुलता है। उनमें गुरु-शिष्यों के अंकन इस तथ्य के पोषक हैं कि तत्कालीन समाज शिक्षा के माध्यम से अपने व्यक्तित्व के समीचीन विकास में संलग्न था।

५. लिपि और भाषा

देवगढ़ के प्राचीन अभिलेखों में क्रमशः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं। प्राचीनतम अभिलेख अभी तक अंशतः पढ़ा जा सका है।[3] उससे प्रतीत होता है कि उसमें अठारह भाषाओं और अठारह लिपियों का प्रयोग हुआ है। भारत में यह अभिलेख अपने ढंग का अद्वितीय है।[4] उसकी लिपि अशोककालीन ब्राह्मी से भी समानता रखती है।[5] जो लिपियाँ इस शिलापट्ट पर अंकित हैं, वे तत्कालीन भारत में प्रचलित विभिन्न शैलियों की परिचायक हैं।[6] देवगढ़ के अभिलेखों में से कुछ ब्राह्मी लिपि में और शेष नागरी लिपि में उत्कीर्ण हैं।

६. वेशभूषा और प्रसाधन

खजुराहो आदि की भाँति देवगढ़ के कलाकारों ने वेशभूषा और प्रसाधन की विविधता और विशिष्टता की होड़ तो नहीं लगायी पर उन्होंने जो कुछ भी अंकित किया उससे तत्कालीन वेशभूषा और प्रसाधन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनका उद्देश्य आकर्षक वस्त्राभूषणों की अपेक्षा भावपूर्ण छवि अंकित करने का अधिक था। देवगढ़ में भी वेशभूषा आदि की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकसित कला के अच्छे नमूने उपलब्ध होते हैं। उनसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ज्यों-ज्यों समय बीता त्यों-त्यों कलाकार का ध्यान सादगी, भावपूर्णता तथा संयम की ओर से क्रमशः हटता गया और आकर्षक वेशभूषा एवं मुद्राओं तथा मोहक भंगिमाओं की ओर आकृष्ट होता गया। गुप्तकालीन वस्त्र झीने अवश्य होते थे परन्तु उन्हें पहनने का ढंग कुछ ऐसा था कि उनसे सौन्दर्य की अभिवृद्धि तो होती ही थी किन्तु भोंड़ापन या असंयम प्रकट नहीं होता था। परन्तु परवर्ती समय में यह प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। वस्त्र अवश्य ही अपेक्षाकृत मोटे दिखाये जाने लगे, किन्तु उनके धारण करने की प्रक्रिया एक दूसरा ही उद्देश्य अभिव्यक्त करती थी; इसे कला का क्रमिक ह्रास ही कहा जायगा। यह ह्रास देवगढ़ या मध्यवर्ती भारत में ही सीमित न रहा, बल्कि इसने व्यापक रूप भी ले लिया।

कला के इस ह्रास की पृष्ठभूमि अत्यन्त स्पष्ट है। गुप्त साम्राज्य एक बद्धमूल और सुप्रशासित साम्राज्य था। गुप्त सम्राट् कला और साहित्य के ही नहीं, धर्म एवं अध्यात्म के भी प्रेमी थे। फलस्वरूप तत्कालीन कला अध्यात्म से अनुप्राणित रही और उसमें सांसारिकता का उभार कम हो सका। गुर्जर-प्रतिहारों के समय तक यह बात न रही पर चूँकि वे लोग भी धर्म और अध्यात्म को महत्त्व देते थे। अतः कलागत संयम और भावपूर्णता बहुत कुछ गुप्तकाल की ही भाँति विद्यमान रही। किन्तु इसके पश्चात् कलचुरियों और चन्देलों के समय कला का ह्रास तीव्रगति से हुआ। कलचुरियों पर मत्तमयूर शाखा के साधुओं का प्रभाव था। ये साधु नैतिकता पर अधिक बल देते थे। परन्तु शैवों के

१. अब यह शिलापट्ट लन्दन के विक्टोरिया अल्बर्ट संग्रहालय में सुरक्षित है। २. और भी देखिए—प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : प्राचीन कला में गुरु-शिष्यों का चित्रण : त्रिपथगा, (लखनऊ, १९५९ ई.), पृ. १-४। ३. यह जैन धर्मशाला में सुरक्षित है। दे.—चित्र सं. ४९। ४. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ : अनेकान्त, दिल्ली, वर्ष १५, किरण १ (अप्रैल, १९६२ ई.), पृ. २७। ५. दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि. भाग दो—१९१८ ई., पृ. १० पर इस अभिलेख के सम्बन्ध में विचार किया गया है—"इस मन्दिर के उत्तरी बरामदे में मुझे एक महत्त्वपूर्ण अभिलिखित शिलापट्ट (३ फु. २ इं. × १ फुट ५ इं.) मिला है, जो उस अभिलेख के अनुसार ज्ञानशिला कहलाता है। उसमें १८ भाषाओं और १८ लिपियों का प्रयोग हुआ है। यह अभिलेख 'साधा (खा) नाम्नी' के द्वारा लिखाया गया था। यह देखना उपयोगी होगा कि प्रथम जिन ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी वर्तमान कालचक्र के सुषमा-दुषमाकाल में उत्पन्न हुई। उसने १८ विभिन्न वर्णमालाओं का आविष्कार किया था, जिनमें तुर्की, नागरी, सभी द्राविड़ी भाषाएँ, कन्नड़, फ़ारसी और उड़िया लिपियाँ भी सम्मिलित हैं। इस अभिलेख की प्रथम सात पंक्तियों में वास्तव में विभिन्न वर्णमालाओं के नमूने हैं, जिनमें अधिकांश द्राविड़ तथा मौर्यकालीन ब्राह्मी भी समाविष्ट हैं, यद्यपि तुर्की और फ़ारसी उनमें नहीं हैं।' ६. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी : देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ : अनेकान्त : वर्ष १५, किरण १, पृ. २७।

वाममार्गी साधु, जिनसे चन्देल शासक प्रभावित रहे, नैतिकता को कदाचित् शब्दों तक ही सीमित रखते थे। वे स्थूल भौतिकता और वासनाओं से भरा जीवन स्वयं बिताते और जनता को भी अपना पथगामी बनाते थे। उनकी इस प्रवृत्ति ने नौवीं से तेरहवीं शती तक की कला को अधिकाधिक प्रभावित किया, तभी तो चन्देलों के समय तक मूर्तियों से भौतिकता और संयम प्रायः लुप्त हो गये और उनमें अश्लीलता तथा कुत्सित अंकनों की प्रधानता हो गयी। कच्छपघातों के समय तक यह दोष अपनी चरमसीमा तक पहुँच गया। इस समय की मूर्तियों में मांसलता, अस्वाभाविक किन्तु कामोत्तेजक लोच, सम्भोगों के विविध आसन आदि अत्यन्त विकृत रूप में प्रस्तुत किये जाने लगे। इस समय की और गुप्तकाल की कला में एक बहुत बड़ा अन्तर स्पष्ट हो गया है। देवगढ़ में भी कला के इस क्रमिक ह्रास को देखा जा सकता है। जहाँ तक वेशभूषा और प्रसाधन का प्रश्न है, वह कला में सांसारिकता की वृद्धि के साथ समृद्ध और आकर्षक होती गयी।

देवगढ़ में पुरुषवर्ग की वेशभूषा अधिक भड़कीली नहीं थी। पुरुषवर्ग की वेशभूषा के अध्ययन के लिए हम उसे साधु और गृहस्थ के अवान्तर भेदों के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगे।

१. साधु-संस्था

(अ) दिगम्बर साधु

दिगम्बर साधु कोई वस्त्र नहीं पहनते थे। दिक् (दिशाएँ) ही उनके 'अम्बर' (वस्त्र) होते थे,[१] इसलिए उन्हें 'दिगम्बर'[२] साधु कहा जाता था। साधुओं के दिगम्बर (नग्न) रहने की प्रथा हज़ारों वर्ष प्राचीन है और आज भी विद्यमान है। दिगम्बर साधु जीवों की रक्षा के लिए पीछी रखते थे।[३] मल-मूत्र-त्याग के पश्चात् शुद्धि के लिए जल रखने को वे कमण्डलु भी रखते थे।[४] ये साधु उक्त दो उपकरणों के अतिरिक्त रंचमात्र भी परिग्रह नहीं रखते थे। यहाँ तक कि वे अपने भोजन के प्रति भी चिन्तित नहीं होते थे।

(ब) भट्टारक

जैसा कि कहा जा चुका है, मुनियों का एक रूपान्तर और भी था, जिसे 'भट्टारक' कहते थे। वे आजकल के ब्रह्मचारियों की भाँति दो वस्त्र पहनते थे, एक अधोवस्त्र (धोती) और दूसरा उत्तरीय। इनके गले में एक माला भी पड़ी रहती थी, जिससे वे जपमाला का काम लेते होंगे।

(स) ऐलक

ऐलक[५] केवल 'कौपीन' पहनते थे[६] और साधु की भाँति पीछी और कमण्डलु रखते थे।[७]

(उ) क्षुल्लक

क्षुल्लक,[८] जिनकी मूर्तियाँ देवगढ़ में नहीं मिली हैं, कोपीन के अतिरिक्त 'खण्डवस्त्र' (उत्तरीय) भी रखते थे। ये भी पीछी-कमण्डलु रखते थे।[९]

(इ) आर्यिका

आर्यिकाओं की वेशभूषा संयत और सामान्य थी। साड़ी और उपरिवस्त्र के अतिरिक्त पीछे कमण्डलु भी रखती थीं (दे. चित्र सं. ९२)।

२. गृहस्थ-संस्था

(अ) पुरुष

पुरुषवर्ग धोती पहनता था।[१०] आश्चर्य है कि देवगढ़ में कमर से ऊपर के किसी वस्त्र का अंकन एक भी

---

१. द्रष्टव्य—ब्र. शीतलप्रसाद : बृहद् जैनशब्दार्णव : द्वितीय खण्ड : (सूरत, १९३४), पृ. ४६२-६३। २. 'नग्नोऽवासा दिगम्बरे' द्रष्टव्य—'अमरकोष, ३-१-३९। ३. दे.—विभिन्न पाठशाला—द्वय तथा चित्र सं. ७७ से ८३ और ८५। ४. वही। ५. ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक, क्षुल्लक से श्रेष्ठ। ६. द्रष्टव्य—बृहद् जैनशब्दार्णव : भाग दो, पृ. ४०७। ७. आचार्य वसुनन्दि : वसुनन्दि श्रावकाचार (काशी, १९५२ ई.), भूमिका, पृ. ६३-६४ तथा गाथा ३११। ८. वही, भूमिका, पृ. ६१-६३ तथा गाथा ३०२-१०। ९. बृहद् जैन शब्दार्णव : द्वितीय खण्ड, पृ. ४३४। १०. दे. चित्र सं. ५२, ५३, ६०, ७४, १०४, १०७, ११६, १२१, १२२ आदि।

पुरुषमूर्ति में उपलब्ध नहीं हुआ है। कुछ ब्रह्मचारी अवश्य ही तनीदार दोहरी छाती की अंगरखी पहनते थे।[1] इस अंगरखी की बनावट इस प्रकार की आधुनिक अंगरखी से इतनी अधिक समानता रखती है कि सम्बन्धित मूर्ति की प्राचीनता पर सन्देह होने लगता है। कुछ पुरुष तुर्की टोपी लगाते थे।[2] एक ऐसी पुरुषाकृति भी अंकित है, जो फुलपेन्ट के जेबों में हाथ डाले हुए पुरुष के समान प्रतीत होती है।[3] इसी प्रकार एक पुरुष कन्धे पर झोली डाले दिखाया गया है।[4] जनेऊ (यज्ञोपवीत) पहनने का रिवाज था (दे. चित्र सं. ९८)।

पुरुष प्रायः वे ही आभूषण धारण करते थे जो स्त्रियाँ धारण करती थीं। यह बात आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। उनकी केशसज्जा भी स्त्रियों के समान ही होती थी। प्रायः सभी पुरुष क्षौरकर्म कराते थे। यद्यपि इस कार्य में संलग्न कृति का अंकन यहाँ कहीं नहीं हुआ है। कुछ पुरुष मुग़लों जैसी दाढ़ी रखते थे।[5] एक स्त्री रतिक्रीड़ा के समय अपने प्रेमी की दाढ़ी से खेलती हुई अंकित की गयी है।[6]

देव तथा सम्भ्रान्तवर्ग के लोग मस्तक पर मुकुट बाँधते थे।[7] ललाट पर तिलक लगाने का प्रचलन था।[8] कानों में कुण्डल, कर्णावतंस, कर्णिका आदि तथा गले में विभिन्न प्रकार के हार पहनते थे। केयूर, कटिसूत्र और पायलों का भी प्रचलन था।[9] चूड़ियाँ पहिनने का प्रचलन पुरुषों में नहीं था।

(ब) स्त्रीवर्ग

यहाँ स्त्रियाँ अधोवस्त्र के रूप में साड़ी पहनती थीं। उसे आजकल की भाँति ऊपर तक लाकर ओढ़ती नहीं थीं, बल्कि एक विशेष ढंग से कमर के नीचे ही लपेटती थीं।[10] देवगढ़ की किसी भी कृति में स्त्रियों को अवगुंठन धारण किये अंकित नहीं किया गया है। कंचुकी पहनने की प्रथा थी।[11] स्तनपट्टिका का प्रयोग प्रायः कम मिला है।[12] उत्तरीय प्रायः सभी स्त्रियाँ रखती थीं। उसका उद्देश्य कमर से ऊपर का भाग ढकने का रहा होगा, परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति कदाचित् ही कोई स्त्री करती थी। उत्तरीय को गले या उसके थोड़े नीचे से, पीछे की ओर से निकालकर कुहनियों के ऊपर से सामने लाया जाता था, तब उसके दोनों छोर एक आकर्षक लहरिया बनाते हुए हवा में लहराते रहते थे।[13] उत्तरीय का इस प्रकार का प्रयोग आज भी पंजाब और उसके आसपास के प्रदेश में लड़कियों द्वारा किया जाता है। मस्तक पर, देवगढ़ में ओढ़नी आदि कुछ भी नहीं दिखायी गयी। इसका कारण उस समय कदाचित् परदाप्रथा का अभाव ही हो सकता है। परन्तु उनकी केशसज्जा इतनी सुन्दर और कलापूर्ण होती थी कि ओढ़नी का मस्तक पर न पड़ा रहना ही अधिक सुन्दर दिखता है। कुछ स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति अपने सिर पर टोपियाँ लगाये हुए अंकित की गयी हैं। ये टोपियाँ दो प्रकार की प्राप्त होती हैं—एक का आकार तुर्की टोपी के समान है[14] और दूसरी का वर्तमान सैनिक की टोपी के समान।[15] कुछ स्त्रियाँ अपने ललाट पर तिलक भी लगाती थीं।[16]

देवी मूर्तियों के मस्तक पर मणिजटित मुकुट दिखाये गये हैं।[17] मुकुट को यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो आभूषणों का अंग तो कहेंगे ही, वस्त्र और केशसज्जा का अंग भी कह सकते हैं। देवगढ़ की स्त्रियाँ केश सज्जा में बहुत

---

१. दे.—मं. सं. १० के उत्तरी स्तम्भ पर (पूर्व की ओर) तथा चित्र सं. ६४। २. दे.—मं. सं. छह और पन्द्रह में स्थित मूर्तियाँ। और भी दे.—चित्र सं. ५२ और ५३ में चँवरधारी। ३. मं. सं. ११ के महामण्डप के प्रवेशद्वार की देहरी पर। ४. मं. सं. एक के मण्डप में। दे.—चित्र सं. ८०। ५. ऐसे मूर्त्यंकनों के लिए दे.—मं. सं. एक का पृष्ठ भाग तथा विभिन्न मानस्तम्भ। मं. सं. १२ के प्रदक्षिणापथ के प्रवेशद्वार के दायें पक्ष पर भी इस प्रकार की दाढ़ीवाले पुरुष का अंकन हुआ है। धर्मशाला में प्रदर्शित चक्रेश्वरी (चित्र ६६) के पादपीठ पर (दायें) दाढ़ीवाला श्रावक विनयावनत है। ६. दे.—जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई मूर्तिमाला। और भी दे.—चित्र स. १२१। मं. सं. चार के प्रवेशद्वार पर (दायें) भी एक युवती पुरुष की दाढ़ी सहला रही है। दे.—चित्र सं. ११४। ७. दे.—चित्र सं. ५७, ७२, ७४, १०७, १०८, ११०, ११३, ११६ आदि। ८. दे.—मं. सं. तीन में स्थित तीर्थंकर मूर्ति के पार्श्व में निर्मित इन्द्र के ललाट पर। ९. दे. चित्र सं. ७२, ७४, ६८, १०७, १०८, ११३, ११४, ११६, १२१, १२२ आदि। १०. दे.—चित्र सं. १६-२१, ३३, ३५, ८६, ८७, ९३, ९५-९७, १०१-१०२, १०४-१०८, ११०-११२, ११४-११५, ११७, ११६, १२१ आदि। ११. दे.—चित्र सं. ६३, ६६, १०५, १०६, ११७ आदि। १२. मं. सं. एक के मण्डप में एक मूर्तिफलक पर एक ऐसी श्राविका का अंकन है जो 'स्तनपट्टिका' बाँधे हुए है। उसकी ग्रन्थि पीछे दीख पड़ती है। कुछ पाठशाला दृश्यों में भी ऐसी श्राविकाएँ देखी जा सकती हैं। १३. दे.—चित्र सं. १६-२१, ३३, ३५, ८६, ८७, ९३, १०३-१०६, १०८, ११७, ११६, १२१। १४. दे.—चित्र सं. ६५। १५. देखिए—चित्र सं. ६८, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०८ आदि। १६. दे.—मं. सं. चार के प्रवेश-द्वार के बायें पक्ष पर देवी मूर्ति। १७. दे.—चित्र सं. १६-२१, ३३, ७६, १००, १०७, १११, ११२, आदि।

निपुण थीं। उनके जूड़े अनेक आकर्षक शैलियों में बँधे हुए देखे जा सकते हैं।[1] वे आजकल की भाँति गूँथकर लटकती हुई लम्बी चोटी पसन्द नहीं करती थीं। खुली हुई लम्बी चोटी भी नहीं रखी जाती थी। उसे विभिन्न शैलियों में लपेटकर गूँथा जाता था। कुछ स्त्रियाँ चोटी गूँथने के कार्य में विशेष अभिरुचि दिखाती थीं। उनकी चोटी कभी-कभी इतनी बड़ी (लम्बी नहीं) होती थी कि उनके द्वारा कृत्रिम चोटियों के प्रयोग किये जाने का सन्देह होता हो। चोटी गूँथने के लिए वे दर्पण का प्रयोग करती थीं।[2]

देवगढ़ की स्त्रियाँ आभूषणों के प्रति उदासीन न थीं, परन्तु खजुराहो आदि की भाँति आसक्त भी नहीं थीं। मस्तक पर आभूषण प्रायः नहीं पहना जाता था। कुछ उत्तरवर्ती मूर्तियों के सीमन्त में मारवाड़ी बोरला-[3] जैसा कोई आभूषण यदा-कदा दिख जाता है। कभी-कभी ललाटिका भी पहनी जाती थी,[4] उसे दर्पण की सहायता से सँवारा जाता था।[5] मुकुट का प्रचार जन-साधारण में नहीं था। उसे या तो देवियाँ ही बाँधती थीं अथवा 'तीर्थंकर की माता,[6] और साम्राज्ञी[7] आदि महत्त्वपूर्ण स्त्रियाँ। यहाँ मुकुटों के आकार भिन्न-भिन्न हैं।[8] कानों में कुण्डल और कर्णफूल पहने जाते थे।[9] हार और अर्द्धहार प्रायः वैसे ही होते थे,[10] जैसे खजुराहो में मिलते हैं। कुछ स्त्रियाँ कण्ठश्री (ठुसी) भी पहनती थीं,[11] जिसका प्रचलन बुन्देलखण्ड में अब भी दिखाई पड़ता है। स्तनहार पहनने की परम्परा भी देवगढ़में रही है,[12] इसके मध्य से मोतियों की एक लड़ी स्तनों के बीच से होती हुई नाभिपर्यन्त लटकती थी। मोहनमाला का यहाँ पर्याप्त प्रचार था।[13] बाजूबन्द (केयूर) प्रायः सभी स्त्रियाँ पहनती थीं,[14] पर वह प्रारम्भ में एक चौड़ी चूड़ी के आकार में बनता था और पीछे उसमें जड़ाव आदि मिलने लगता है। हाथों में चूड़ियाँ एक या दो से लेकर बीस-बीस तक पहनी जाती थीं।[15] कंकण भी पहने जाते थे।[16] बघमा के चूरा, बोंहटा, हथफूल आदि पहनने का पर्याप्त प्रचलन था।[17] आरसी और अँगूठियाँ पहनने का प्रचार बहुत था।[18] वे तर्जनी, मध्यमा आदि के अतिरिक्त अंगुष्ठा में भी पहनी जाती थीं। यहाँ की सभी स्त्रियाँ कटिसूत्र तथा मेखला धारण करती थीं।[19] ये कभी-कभी बहुत चौड़ी भी प्राप्त होती हैं[20]। उनमें कभी-कभी आजकल की भाँति झालर और घुँघरू भी लटकते हुए देखे जा सकते हैं।[21] पैरों में पाजेब और पायल, दोनों पहनी जाती थीं।[22] पायल कभी-कभी बहुत चौड़ी होती थी और उसमें (नूपुर) घुँघरू गुँथे होते थे। पाँवपोश पहनने की भी प्रथा थी।[23] कुछ आभूषण, जिनमें नथ और बिछुड़ी आदि उल्लेखनीय हैं, देवगढ़ में कहीं नहीं दिखे। साध्वियाँ किसी प्रकार का कोई भी आभूषण नहीं पहनती थीं।

७. आमोद-प्रमोद

अनुष्ठान और समारोह

आमोद-प्रमोद को देवगढ़ में पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था। वहाँ एतदर्थ अनेक साधन उपलब्ध थे। समय-समय

---

१. दे.—चित्र सं. ११४, ११५, ११७, ११९, १२१ आदि। २. इस तथ्य की पुष्टि चित्र सं. ११६ और ११७ से हो सकती है। वहाँ दर्पण का उपयोग ओष्ठ-प्रसाधन (चित्र ११७) और ललाटिका को सम्हालने के हेतु किया गया है (चित्र ११६)। ३. दे.—चित्र सं. २०, ९९, १०० आदि। ४. ५. दे.—चित्र सं. ११६। ६. दे.—चित्र सं. ९३ तथा मं. सं. चार और तीस में स्थित मूर्तियाँ। ७. दे.—जैन चहारदीवारी की उत्तरी बहिर्भित्ति में जड़ी हुई साम्राज्ञीमूर्ति। ८. दे.—चित्र सं. १९-२१, ३३, ७६, ९३, १००, १०७, १११, ११२ आदि। ९. दे.—चित्र सं. १९-२१, ३३, ९३, ९५, ९७, ९९ से ११२ तक, ११७, ११२ आदि। १०. दे.—चित्र सं. १९-२१, ९८, १००, १०३, १०६, १०८ आदि। ११. दे.—चित्र सं. १९, २०, ९५, ९९, १००, १०७, १२२ आदि। १२. दे.—चित्र सं. १९, ९५, ९६, १०० आदि। १३. दे.—चित्र सं. १९, २०, २१ आदि। १४. दे.—चित्र सं. १९, ९५, ९६, ९७, ९९, १०० आदि। १५-१६. दे.—मं. सं. चार के प्रवेशद्वार की विभिन्न मूर्तियाँ, मं. सं. १२ के गर्भगृह की अम्बिकामूर्तियाँ, मं. सं. चार में जड़ी तीर्थंकर की माता की मूर्ति आदि तथा धर्मशाला में स्थित और जैन चहारदीवारी में जड़ी विभिन्न देवी-मूर्तियाँ। और भी दे.—चित्र सं. १९, २०, २१, ३३, ९३, ९५, ९६, ९७, ९९, १०५, १०६, १११, ११७। १७. दे.—मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेशद्वार के सिरदल पर अंकित सरस्वती और लक्ष्मी की मूर्तियाँ तथा वहीं अन्तराल की मढ़िया में स्थित सरस्वती मूर्ति। और भी दे.—चित्र सं. १९, २०, ९५ आदि। १८. मं. सं. १२ के अन्तराल की मढ़िया में स्थित सरस्वती (चित्र ९५) तथा मं. सं. ११ में स्थित शिरहीन देवी (चित्र ९७) अपने दायें हाथों में आरसी धारण किये हैं। मं. सं. १२ के गर्भगृह के प्रवेशद्वार के दायें पक्ष पर प्रतिहारी के दायें हाथ के अँगूठे में भी 'आरसी' देखी जा सकती है। इसी मन्दिर के प्रदक्षिणापथ के प्रवेशद्वार पर (दायें) गंगा अपनी कनिष्ठा में अँगूठी पहने है। पद्मावती (चित्र सं. १०६) और चक्रेश्वरी (चित्र सं. ९९) आदि मूर्तियों में भी अँगूठी प्राप्त होती है। १९. दे.—चित्र सं. १९-२१, ३३, ९३, ९५, ९७, १०३-१०६, १०८, १२२ आदि। २०. दे.—चित्र सं. २१, ९३, ९६, ९७, १०८, १२२ आदि। २१. दे.—चित्र सं. १९, २१, ३३, ९३, १०३-१०५, १२२ आदि। २२. दे.—चित्र सं. १९-२०, ९५-९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०४, १०५ आदि। २३. दे.—चित्र सं. १९, २०, आदि।

पर आयोजित धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक समारोह मनोरंजन की अच्छी सामग्री जुटा देते थे।

संगीत और नृत्य

गायन, वादन और नृत्य में यहाँ के समाज की विशेष अभिरुचि थी।[1] शिलापट्टों, तोरणों, द्वारपक्षों और स्तम्भों आदि पर अनेक मण्डलियों के बीसों दृश्य अंकित हुए हैं। उनसे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि संगीत कला का उपयोग देवगढ़ में न केवल आमोद-प्रमोद के लिए ही होता था, अपितु भक्ति प्रदर्शन और हर्षोल्लास के अवसरों पर भी सफल आयोजन किया जाता था। संगीत मण्डलियों में पुरुष और स्त्रियाँ समान रूप से भाग लेते थे। कभी स्त्रियाँ नृत्य करतीं तो पुरुष साथ देते थे और कभी पुरुष नृत्य करते तो स्त्रियाँ उनका साथ देती थीं। संगीत की लय में खोये हुए स्त्री-पुरुष निश्चित ही दर्शक को मन्त्रमुग्ध बना देते थे। नृत्यकार पैरों में घुँघरू बाँधते थे और हाथों को विभिन्न मुद्राओं में संचालित करते थे।

वाद्ययन्त्र

वाद्य अनेक प्रकार के होते थे—जिनमें झाँझ, मँजीरा, मृदंग, ढोलक, वेणु, वीणा, इकतारा, तुरही (बिगुल) तमूरा, घण्टा, शंख आदि मुख्य हैं। कुछ स्त्रियाँ और पुरुष हाथ से भी ताल देते थे। खजुराहो आदि विभिन्न स्थानों की भाँति यहाँ भी अनेक प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता था।

अन्य साधन

कुछ लोग हाथी की पीठ पर उछल-कूद करते हुए अंकित किये गये हैं।[2] उस समय कदाचित् इस प्रकार का कोई खेल होता था। एक मनुष्य व्याघ्र पर आसीन दिखाया गया है।[3] इस प्रदेश में व्याघ्र अधिक होते थे। अतः उसे पालतू व्याघ्र माना जा सकता है। इसी प्रकार एक मनुष्य वृक्ष पर चढ़ता हुआ चित्रित है।[4] वृक्ष पर फल नहीं दिखाये गये हैं। अतः उसका उद्देश्य या तो मनोरंजन हो सकता है या किसी आक्रान्ता आदि से अपनी रक्षा। तत्कालीन मानव आमोद-प्रमोद के लिए; यदा-कदा मकर पर भी सवारी करता था।[5]

८. आर्थिक जीवन

यदि मन्दिरों और मूर्तियों की विपुलता, मूर्तियों में चित्रित वेशभूषा, नृत्य और संगीत की मण्डलियों तथा समय-समय पर आयोजित होनेवाले प्रतिष्ठा आदि समारोहों को ही मापदण्ड माना जाये तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि देवगढ़ का समाज आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न था। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का केन्द्र न होने से यह स्थान अधिक समृद्ध रहा होगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता। पुनरपि इसकी गणना पवाया (पद्मावती), एरन (ऐरिकिण) और विदिशा-जैसे कला समृद्ध नगरों में की जाती थी। क्योंकि यह एक बड़े राजमार्ग पर स्थित था। और गुप्तकाल में इसका सम्बन्ध उत्तर में पवाया से, दक्षिण में एरन, विदिशा, उदयगिरी और साँची से, पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में उज्जैन और बाघ से तथा झाँसी और कानपुर होकर प्रयाग, काशी और पाटलिपुत्र (पटना) से था।[6] इसकी समृद्धि का एक कारण और भी था वह यह कि यहाँ बड़े पैमाने पर मूर्तियों का निर्माण होता था। समीपवर्ती कलाकेन्द्रों—दूधई, चाँदपुर, जहाजपुर, आमनचार, सेरोन, बानपुर और ललितपुर आदि को मूर्तियों की अधिकांश पूर्ति कदाचित् देवगढ़ से ही की जाती थी।

---

१. दे.—चित्र सं. १६, २०, २२, २४, ३५, ५७, १०१, ११४ तथा जैन चहारदीवारी, विभिन्न मन्दिरों के प्रवेश-द्वार आदि। मं. सं. २४ की पश्चिमी बहिर्भित्ति में धरणेन्द्र पद्मावती का एक ऐसा मूर्ति-फलक जड़ा हुआ है, जिसके कि पादपीठ में छह श्राविकाएँ भक्ति विभोर होकर नृत्य कर रही हैं। २. दे.—मं. सं. ११ के महामण्डप का प्रवेश-द्वार, तथा मं. सं. २७ में स्थित चौबीस पट्ट। ३. दे—मं. सं. ११ के महामण्डप का प्रवेश-द्वार। ४. दे.—मं. सं. २८ का प्रवेश-द्वार। ५. दे.—मं. सं. १८ के महामण्डप के प्रवेश-द्वार की देहरी पर। ६. पं. माधवस्वरूप वत्स : दी गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़ : (मेम्वायर्स ऑफ़ दि आर्केओलाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, संख्या ७०) (दिल्ली, १९५२), पृ. १।

९. निष्कर्ष

समाज के विभिन्न वर्गों, धर्मपरायणता, शिक्षा, लिपि और भाषा, वेशभूषा तथा प्रसाधन, आमोद-प्रमोद तथा आर्थिक स्थिति के सूक्ष्म अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है—

१. देवगढ़ की जैनकला में चित्रित समाज सभ्य, सरल और शान्त था।

२. उसकी धार्मिक उदारता और निष्ठा सराहनीय थी।

३. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का यथोचित समन्वय वहाँ के निर्जीव पाषाणों में जीवन्त कर दिया गया प्रतीत होता है।

४. भारतीय संस्कृति की पवित्रता यहाँ अपनी पूर्णता को प्राप्त हुई है।

अभिलेख

१. प्रारम्भिक

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला और पुरातत्त्व के अध्ययन में देवगढ़ स्मारकों और मूर्तियों द्वारा ही नहीं अपितु अभिलेखों द्वारा भी सहायक है। यहाँ लगभग ३०० छोटे-बड़े अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनका विविध दृष्टियों से अध्ययन किया जाये, इसके पूर्व सामान्य दृष्टि से अभिलेखों का महत्त्व जान लेना उपयोगी होगा। इतिहास के स्रोतों में साहित्य के पश्चात् अभिलेखों का ही महत्त्व सर्वाधिक है। विभिन्न राजवंशीय अभिलेखों में निर्दिष्ट नगर, सीमा, मार्ग तथा विजययात्रा आदि के उल्लेखों से भौगोलिक ज्ञान की वृद्धि होती है। शासक तथा गुरु आदि की परम्परा का ज्ञान भी अभिलेखों से होता है। शासनप्रणाली और सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। धार्मिक जीवन की झाँकी मिलती है। आध्यात्मिक प्रगति का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही अभिलेखों से आर्थिक स्थिति का विस्तृत ज्ञान भी प्राप्त होता है। साहित्य के विभिन्न अंगों में अब अभिलेखों को भी एक माना जाने लगा है। उनमें कभी-कभी अत्यन्त उच्चकोटि का काव्यसौन्दर्य भी दिखाई पड़ता है। अभिलेखों में प्रयुक्त लिपियों और भाषाओं की विविधता तथा क्रमिक विकास के मूल्यांकन से लिपिशास्त्र और भाषाशास्त्र के लेखन में अनिवार्य सहायता मिलती है। अभिलेखों में तिथियाँ और संवत् उत्कीर्ण कराने की परम्परा भी रही है, इससे कालगणना में महत्वपूर्ण सुविधा होती है।

२. अभिलेखों के स्थान और उद्देश्य

अभिलेख, उद्देश्य के अनुकूल भिन्न-भिन्न स्थानों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे। राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजधानी, जयस्कन्धावार, राज्यों के सीमान्त और जयस्तम्भ आदि स्थान चुने जाते थे। प्रशासनिक उद्देश्यों से उत्कीर्ण किये जानेवाले अभिलेखों के स्थान राजधानी, प्रशासनिक इकाइयों के मुख्य नगर, राजनीतिक महत्त्व के केन्द्र और सामाजिक या सार्वजनिक समारोहों के स्थान होते थे। धार्मिक दृष्टि से उत्कीर्ण कराये गये अभिलेख मन्दिरों, मूर्तियों, स्तम्भों, शिलाखण्डों और धातु-पट्टिकाओं आदि पर मिले हैं, जो तीर्थ-स्थान, सांस्कृतिक-केन्द्र और समारोह-स्थल आदि से सम्बन्ध रखते हैं। कुछ अभिलेखों का उद्देश्य वैयक्तिक होता था, जिनमें किसी शासक, आचार्य और कवि आदि की प्रशस्ति, दानघोषणा या स्मृति आदि का उल्लेख रहता है। ऐसे अभिलेख सम्बद्ध व्यक्ति के निवास, शैलगृह, राजधानी, जयस्कन्धावार या सार्वजनिक महत्त्व के स्थानों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे।

३. अभिलेखों के अवसर

अभिलेख दानघोषणा, धर्मोत्सव, विजययात्रा, सामाजिक कार्यक्रम और व्यापारिक तथा राजनीतिक घटनाओं के अवसरों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे। कभी-कभी मन्दिर, भवन, स्तम्भ, कूप और तड़ाग आदि के निर्माण या जीर्णोद्धार के समय भी अभिलेख उत्कीर्ण कराये जाते थे।

४. देवगढ़ के अभिलेखों का अध्ययन

प्रस्तुत भूमिका के परिप्रेक्ष्य में देवगढ़ के अभिलेखों का अध्ययन करेंगे और यह भी देखेंगे कि प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला और पुरातत्त्व के लिए उनका क्या योगदान है।

(अ) बाह्य पक्ष

१. स्थान, उद्देश्य और अवसर

अधिकांश अभिलेख भित्तियों, स्तम्भों और मूर्तियों पर उत्कीर्ण हैं, कुछ शिलाओं पर भी अंकित हैं और कुछ (जैनेतर) वेत्रवती के तट पर निर्मित गुफाओं में और पर्वतशिलाओं पर प्राप्त हुए हैं। चूँकि सभी का उद्देश्य धार्मिक था इसलिए वे सभी मन्दिरों में या उनके आसपास ही उत्कीर्ण कराये गये हैं। पर्वतशिलाओं पर प्राप्त कुछ अभिलेखों का उद्देश्य धार्मिक नहीं है। अधिकांश अभिलेख दान के अवसर पर उत्कीर्ण कराये गये हैं। कुछ मन्दिरों और स्तम्भों के निर्माण और कुछ उनके जीर्णोद्धार तथा कुछ धार्मिक उत्सवों के अवसर पर अंकित किये गये हैं।

२. वर्गीकरण

देवगढ़ के अभिलेखों को मुख्य रूप से चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१. दानसूचक, २. स्तुतिपरक, ३. स्मारक और ४. अन्य।

१. दानसूचक

देवगढ़ में दानसूचक अभिलेख ही अधिकतर प्राप्त हुए हैं। ऐसे अभिलेख अत्यन्त संक्षिप्त हैं और कभी-कभी तो वे एक शब्द (दाता का नाम) तक ही सीमित होते हैं। उनमें दाता का नाम और उससे सम्बद्ध कुछ व्यक्तियों के नाम दिये जाते हैं, जिनसे तत्कालीन नामकरण की विधा पर प्रकाश भले ही पड़ता हो पर इतिहास आदि के क्षेत्र में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

२. स्तुतिपरक

यहाँ कुछ ऐसे अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं, जिन्हें स्तुतिपरक कहा जा सकता है। ऐसे अभिलेखों में मं. सं. १० (चित्र १४) स्तम्भलेखों का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिए। इस मन्दिर में तीन लघुस्तम्भों पर चारों ओर मध्यकालीन नागरी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेखों में ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरों की स्तुति गायी गयी है। वे संस्कृत के सुन्दर पद्यों में लिखे गये हैं। अक्षर सुडौल हैं, पर कहीं-कहीं टूट गये हैं। इन स्तम्भों का पाषाण सफेद बलुआ है, जिससे उनपर अंकित अभिलेखों की स्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय होती जा रही है।

३. स्मारक

यहाँ स्मारक अभिलेख बहुत हैं। दानसूचक अभिलेखों की भाँति कभी-कभी वे भी बहुत संक्षिप्त होते हैं। इनमें मन्दिरों के निर्माण की सूचना देनेवाला, एक अपवादस्वरूप लेख को छोड़कर कोई अभिलेख नहीं है। केवल एक अभिलेख[1] में किसी शान्तिनाथ-चैत्यालय के निर्माण की सूचना है, किन्तु अब यह चैत्यालय पूर्णतया नष्ट हो चुका है। यह कदाचित् वही मन्दिर होगा, जिसके अवशेष हमने मं. सं. एक के पास खोज निकाले हैं।[2] मं. सं. ५ के पीछे प्राप्त अवशेषों में भी इस मन्दिर का अस्तित्व माना जा सकता है।

मन्दिरों के जीर्णोद्धार की सूचना देनेवाले कई अभिलेख मिले हैं। इनमें से मं. सं. ५ का एक[3] और मं. सं. १२ के दो अभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं। मं. सं. १२ का एक अभिलेख[4] संवत् ९१९ (८६२ ई.) का है। उसमें लिखा है कि परम भट्टारक महाराजाधिराज भोजदेव के महासामन्त विष्णुराम पचिन्द के राज्य में कमलदेवाचार्य के शिष्य श्रीदेव ने इस स्तम्भ का निर्माण कराया। यह स्तम्भ, जैसा कि कहा जा चुका है[5] पूर्ववर्ती स्तम्भ के नष्ट हो जाने पर स्थापित किया गया होगा। इसमें उल्लिखित नाम विशेष महत्त्व के हैं जिसपर आगे प्रकाश डाला जायेगा।[6]

---

१. अब जैन धर्मशाला में प्रदर्शित। अभिलेख पाठ के लिए दे.—परि. दो., अभि. क्र. पाँच। २. दे.—रेखाचित्र संख्या १७। ३. दे.—परि. एक, अभि. क्र. १७। ४. परि. दो, अभि. क्र. एक। ५. दे.—अ. तीन में सम्बन्धित मन्दिर स्थापत्य का वर्णन। ६. दे.—प. सं. ३५३ से ३५५ तक।

इसी (सं. १२) मन्दिर का दूसरा अभिलेख,[1] संवत् १०५१ (९९४ ई.) एक द्वार के पुनर्निर्माण की सूचना देता है।

मं. सं. एक के पीछे की ओर स्थित एक स्तम्भ पर किसी कल्याण सिंह का नाम अंकित है, जिसने संवत् १११३ (१०५६ ई.) में उस स्तम्भ का निर्माण कराया था।[2] मं. सं. १८ के सामने विद्यमान दो (संख्या १५ और १६) में से एक मानस्तम्भ (दायें, सं. १५) पर उत्कीर्ण है कि संवत् ११२१ (१०६४ ई.) में आचार्य यशस्कीर्ति ने राज्यपालमठ (मं. सं. १८ का नाम) के सामने दो स्तम्भ (सं. १५ और १६) निर्मित कराये थे।[3] उपाध्याय परमेष्ठी की एक मूर्ति[4] पर संवत् १३४३ (१२७६ ई.) में उसके निर्माण का वर्णन है।[5] यहाँ के एक अभिलेख,[6] जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में सुरक्षित है, में बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है कि संवत् १४८१ (१४२४ ई.) में एक भट्टारक ने शुभचन्द्र की आज्ञा से पद्मनन्दी और दमबसन्त की मूर्तियाँ समर्पित की थीं।

संवत् १४९३ (१४३६ ई.) का एक अभिलेख[7] देवगढ़ की ही जैनधर्मशाला में सुरक्षित है, जिसमें उक्त शान्तिनाथ चैत्यालय के निर्माण का उल्लेख है। मं. सं. पाँच के संवत् १५०३ (१४४६ ई.) के एक अभिलेख[8] में उत्कीर्ण है कि शाह अलपखाँ के शासनकाल में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार किया गया। इसमें शाह अलपखां का उल्लेख महाराजाधिराज आलम्भक के नाम से हुआ है।

मं. सं. ७ विद्यमान चरणपादुका[9] पर संवत् १६९५ (१६३८ ई.) में उनके समर्पित किये जाने का वर्णन है।[10] उसमें महाराजाधिराज उदयसिंह और उनकी दो रानियों के साथ पालीगढ़ का भी उल्लेख है।

४. अन्य

अन्य अभिलेखों में समय-समय पर तीर्थयात्रियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर उत्कीर्ण किये गये लेख, 'प्रणमति नित्यं' आदि अपूर्ण वाक्य और मानचित्र[11] सम्मिलित हैं।

३. लिपि, भाषा और तिथि

देवगढ़ के अभिलेखों में से कुछ ब्राह्मी लिपि[12] में और शेष नागरी लिपि में उत्कीर्ण हुए हैं। 'ज्ञानशिला' नामक पूर्वोक्त अभिलेख में १८ लिपियों का प्रयोग हुआ माना जाता है।[13]

यहाँ के अभिलेखों में से कुछ संस्कृत, कुछ अपभ्रंश और कुछ हिन्दी भाषाओं में अंकित हुए हैं[14]। कुछ की संस्कृत अशुद्ध है। इससे अनुमान होता है कि उस समय से ही संस्कृत के अशुद्ध रूप का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। कभी-कभी एक ही अभिलेख में एक से अधिक भाषाओं का भी प्रयोग मिलता है। कुछ अभिलेख विशुद्ध और उच्चकोटि की काव्यमय संस्कृत में उत्कीर्ण हुए हैं।[15] यहाँ के अभिलेखों पर बुन्देलखण्ड की क्षेत्रीय भाषा और स्थानीय बोलियों का भी प्रभाव पड़ा है।[16]

जैनस्मारकों से सम्बन्धित तिथियुक्त अभिलेखों में से प्राचीनतम, संवत् ९१९ (८६२ ई.) और नवीनतम संवत् १९९५[17] (१९३९ ई.) में उत्कीर्ण हुए हैं।

---

१. प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर उत्कीर्ण। २. दे.—परि. एक, अभि. क्र. १०। ३. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ११। ४. सम्प्रति जैन-धर्मशाला स्थित दि. जैन चैत्यालय में विद्यमान। दे.—चित्र सं. ८३। ५. दे.—परि. दो, अभि. क्र. तीन। ६. दे.—परि. दो, अभि. क्र. चार। ७. दे.—परि. दो, अभि. क्र. पाँच। ८. भीतर की ओर पूर्वीद्वार के ऊपर जड़ा हुआ। दे.—परि. एक, अभि. क्र. ३७। ९. दे.—चित्र सं. १९। १०. अभिलेख पाठ के लिए दे.—परि. दो, अभि. क्र. छह। ११. दे.—मं. सं. १५ में स्थित त्रिलोक का मानचित्र। १२. जैन धर्मशाला में इस लिपि में अंकित एक अभिलेख सुरक्षित है। नाहरघाटी में भी इस लिपि में अभिलेख उत्कीर्ण है। १३. दे.—चित्र सं. ४६। १४. परिशिष्ट एक। १५. दे.—(अ) मं. सं. १० के स्तम्भों पर उत्कीर्ण स्तुतिकाव्य। (ब) जैन धर्मशाला में सुरक्षित सं. १४९३ का अभिलेख तथा परि. दो, अभि. क्र. पाँच। (स) राष्ट्रीय संग्रहालय, देहली में सुरक्षित देवगढ़ का अभिलेख तथा परि. दो, अभि. क्र. चार। १६. दे.—मं. सं. १२ के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख तथा परि. दो. अभि. क्र. एक। १७. दे.—सन् १९३९ में, सिंघई भैयालाल गुरहा गजरथ के समय प्रतिष्ठापित मूर्तियों के अभिलेख एवं मं. सं. ११ के द्वितीय खण्ड के गर्भगृह तथा धर्मशाला-स्थित दि. जैन चैत्यालय में क्रमशः संगमरमर और पीतल की मूर्तियाँ।

(ब) आन्तरिक पक्ष

देवगढ़ में प्राप्त अभिलेख बाह्य पक्ष की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष में अधिक समृद्ध हैं। उनसे कुछ ऐसी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो भारतीय इतिहास के कुछ विवादास्पद पक्षों पर प्रकाश डालती हैं। 'जैनसाधु-संस्था' में तो इन अभिलेखों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम और तिथियाँ जुड़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों का परिज्ञान भी इनसे होता है। इन सबका अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. भौगोलिक महत्त्व

यहाँ प्राप्त अभिलेखों में चन्देरीगढ़,[1] पालीगढ़ नगर[2] लुअच्छगिरि[3] और गोपालगढ़[4] के उल्लेख हैं। इन सबका समीकरण प्रायः सर्वमान्य है।

चन्देरीगढ़

चन्देरीगढ़ गुना जिले में स्थित वर्तमान चन्देरी है, वहाँ का गढ़ आज भी विद्यमान है। देवगढ़ और चन्देरी का राजनीतिक ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक सम्बन्ध भी रहा है।

पालीगढ़ नगर

पालीगढ़ नगर झाँसी जिले में स्थित वर्तमान पाली होना चाहिए, जो देवगढ़ से पूर्व की ओर लगभग बारह मील पर स्थित है।

लुअच्छगिरि

लुअच्छगिरि देवगढ़ के प्राचीन नामों में से एक है।

गोपालगढ़

गोपालगढ़ वर्तमान ग्वालियर होना चाहिए।[5]

वेत्रवती

एक अभिलेख में वेत्रवती का उल्लेख है।[6] यह वेतवा नदी है, इसके किनारे देवगढ़ स्थित है।

करनाटकी

एक शब्द करनाटकी भी प्राप्त हुआ है,[7] सम्बद्ध अभिलेख की भाषा इतनी अशुद्ध संस्कृत है कि उससे इस सुपरिचित शब्द कर्णाटक (भूतपूर्व मैसूर राज्य, जिसे अब कर्नाटक ही कहा जाने लगा है) की व्याकरण सम्बन्धी स्थिति जानना कठिन है। यह 'करनाटकी' शब्द यहाँ या तो लिपि के लिए आया है या किसी महिला के नाम या विशेषण के रूप में। इस शब्द के पूर्व 'देश' शब्द उत्कीर्ण है। अतः यह भी सम्भव है कि करनाटक को ही "करनाटकी' लिखा गया हो।

श्रीमालवनागत्रात

इसी प्रकार एक पद 'श्रीमालवनागत्रात'[8] भी विचारणीय है। चूँकि सम्बद्ध अभिलेख में इस शब्द के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं है, अतः इसमें उत्कीर्ण 'मालव' और 'नाग' शब्दों का समीकरण अनुमान से ही करना होगा। त्रात संस्कृत का विशेषणभूत कृदन्त (त्रै + क्त) शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'रक्षित'। अतः सम्पूर्ण शब्द का अर्थ हुआ मालव और नाग द्वारा रक्षित। यह अभिलेख मन्दिर संख्या २२ के द्वार-तोरण पर उत्कीर्ण है। इस अभिलेख के सम्बन्ध में दूसरी अनुमिति इस प्रकार हो सकती है : चूँकि देवगढ़ मालवगण की सीमा में आता था और उसके तुरन्त

---

१. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ३७। २. दे.—परि. एक. अभि. क्र ४१। ३. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ८८ तथा परि. दो, अभि. क्र. एक। ४. दे. परि. दो, अभि. क्र. छह। ५. ग्वालियर के अभिलेखों में भी उसका उल्लेख गोपालगढ़ नाम से प्राप्त होता है। दे.—ग्वालियर का सं. १५१० में अभिलिखित महाराजाधिराज श्री डूँगरेन्द्रदेव का लेख—जे. ए. एस. बी.; भाग ३१, पृ. ४०४ और ४२३-२४। तथा वहीं का संवत् १४६७ का एक अन्य अभिलेख। ६. दे.—परि. दो, अभि. क्र. चार। ७. दे.—परि. दो, अभि. क्र. छह। ८. दे.—परि. एक, अभि. क्र. १२१।

समीप उत्तर-पूर्व में नाग-भारशिवों की सीमा प्रारम्भ हो जाती थी। अतः यह सम्भव है कि इस क्षेत्र पर मालवों और नागों या उनके किन्हीं वंशजों की कृपा समान रूप से रही हो, जिसके फलस्वरूप यह मन्दिर (सं. २२, दे.—चित्र सं. ३०) निर्मित हुआ हो। यह भी सम्भव है कि दोनों ने इस मन्दिर की रक्षा आदि के लिए कोई स्थायी व्यवस्था कर दी हो, जिसके प्रमाणस्वरूप यह लेख उत्कीर्ण कराया गया हो।

२. इतिहास की सामग्री

इतिहास के निर्माण में देवगढ़ में प्राप्त अभिलेखों का विशेष महत्त्व है।

भोजदेव

यहाँ उपलब्ध तिथि सहित प्राचीनतम अभिलेख[1] गुर्जरप्रतिहार शासक भोजदेव का है। इसे आश्वयुज (आश्विन = क्वार) शुक्ल चतुर्दशी, विक्रम संवत् ९१९ और शक संवत् ७८४ तदनुसार १० सितम्बर ८६२ ई., गुरुवार को उत्कीर्ण कराया गया था। इस स्तम्भलेख में जिस महाराजाधिराज परमेश्वर भोजदेव का उल्लेख है, वही ग्वालियर के संवत् ९३३ (८७६ ई.) के एक अभिलेख में भी उल्लिखित हुआ है।[2] राजतरंगिणी में वर्णित ८८३ से ९०१ ई. तक के शंकरवर्म का समकालीन भोज भी यही था।[3] पेहोवा अभिलेख[4] का प्रमुख पात्र भी यही भोजदेव था। इन अभिलेखों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी ज्ञात होता है कि इस गुर्जर प्रतिहार शासक का शासन प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत पर था।

विष्णुराम पचिन्द

प्रस्तुत अभिलेख में महासामन्त विष्णुराम पचिन्द का भी उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि भोज के शासन में सामन्त प्रथा थी, जो महाराजाधिराज परमेश्वर का विरुद दिया गया है वह इस दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है।

राजपाल

दो अभिलेखों[5] से किसी राजपाल का नाम ज्ञात होता है। संवत् ११२१ में एक मन्दिर (सं. १८, चित्र १८) का नाम 'राजपाल मठ' प्रचलित था। श्री साहनी इसका समीकरण नहीं कर सके थे।[6] परन्तु जैसा कि डॉ. साँकलिया भी मानते हैं,[7] यह गुर्जर प्रतिहार वंश के अन्तिम शासकों में से कोई होना चाहिए।

उदयपालदेव

दो अभिलेखों[8] में महासामन्त उदयपालदेव का नाम प्रयुक्त हुआ है। उनमें से एक[9] पर संवत् १२१० अंकित है और दूसरे पर कोई संवत् नहीं है। चाँदपुर के संवत् १२०७ (११५० ई.) के एक अभिलेख[10] में भी उदयपाल का नाम आया है। ये दोनों उदयपाल एक ही व्यक्ति होने चाहिए। इससे, उसकी राजनीतिक स्थिति का भी परिज्ञान होता है। संवत् १२०७ में वह उल्लेखनीय व्यक्ति तो रहा होगा, पर संवत् १२१० (११५३ ई.) तक उसे महासामन्त का विरुद भी प्राप्त हो चुका था।

सुलतान महमूद

संवत् १५०३ (१४४६ ई.) के एक अभिलेख[11] से ज्ञात होता है कि चन्देरी पर (देवगढ़ पर भी) मालवा के सुलतान महमूद (१४३५-७५ ई.) का शासन था। इन्हीं दिनों जौनपुर में भी इस नाम का एक शासक था। सुलतान महमूद को यहाँ महाराजाधिराज कहा गया है।

---

१. दे.—परि. दो, अभि. क्र. एक। २. दे.—एपी. इं., भाग १८, पृ. ९९–११४ तथा एनु. रि., ए.एस.आइ., १९०३-४ ई., पृ. २७७-८५। ३. कनिंघम: ए.एस.आइ., जिल्द १०, पृ. १०१। ४. दे.—एपी इं. भाग एक, पृ. १८४–९०। ५. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ९९, १००। ६. दे.—ए. पी. आर., १९१८, पृ. १० । ७. दे.—बुलेटिन ऑफ़ दी डेक्कन कॉलेज रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द एक, सं. २-४ (मार्च, १९४० ई.), पृ. १६२। ८. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ४७, ४८। ९. मं. सं. १२ के गर्भगृह में दायीं ओर की देवकुलिका पर। १०. दे.—ए.पी. इं., जिल्द पाँच, परिशिष्ट, सं. १२६, पृ. ११। ११. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ३७।

उदयसिंह–उदेतसिंह

एक अभिलेख,[1] जिसमें संवत् १६९३ (१६३६ ई.) और संवत् १६९५ (१६३८ ई.) का उल्लेख है, में महाराजाधिराज उदयसिंह का नाम आया है। यहीं की 'सिद्ध की गुफा' के एक अभिलेख में उल्लिखित उदेतसिंह कदाचित् यही उदयसिंह होगा। श्री हारग्रीव्ज के अनुसार,[2] बरवासागर का दुर्ग और सरोवर बनवाने के लिए विख्यात और उद्योत-उदोत एवं उदेतसिंह नामों से प्रसिद्ध ओरछा नरेश ही यह उदयसिंह होना चाहिए।

देवीसिंह–दुर्गासिंह

ठीक इन्हीं संवतों (१६९३ और १६९५) के उल्लेख सहित एक अन्य अभिलेख[3] में महाराजाधिराज देवीसिंह का नाम अंकित है। 'सिद्ध की गुफा' में[4] भी संवत् १७८९ (१७३२ ई.) के एक अभिलेख में दुर्गासिंह के पितामह के रूप में भी यह देवीसिंह उल्लिखित है। नाहरघाटी में भी एक अभिलेख ठीक उसी दिन (वैशाख शुक्ल ९, संवत् १७८९) उत्कीर्ण कराया गया था, जिस दिन 'सिद्ध की गुफा' में। इसमें भी महाराजाधिराज देवीसिंह का नाम महाराजाधिराज दुर्गासिंह के पितामह के रूप में आया है। इस अभिलेख से इतना और ज्ञात होता है कि यह देवीसिंह चन्देरी का बुन्देला-शासक था। यहीं के एक सतीस्तम्भ से ज्ञात होता है कि यह शासक संवत् १६९८ (१६४१ ई.) में चन्देरी पर शासन कर रहा था। उसे संवत् १६४६ (१५८९ ई.) चन्देरी की राजगद्दी पर अभिषिक्त हुआ माना जाता है।[5]

३. समाज का चित्रण

जैसा कि सप्तम अध्याय में कहा जा चुका है, समाज का चित्रण करने में देवगढ़ से प्राप्त अभिलेखों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनसे समाज की विभिन्न गतिविधियों और रीति-रिवाजों का बोध होता है। समाज के वर्गीकरण का अनुमान भी इनकी सहायता से किया जा सकता है।

गोत्र तथा उपजातियाँ

कठनेरा और उसके साढ़े बारह गोत्र, अग्रोतक,[6] गर्ग,[7] अष्टशाख,[8] गोलापूर्व[9] आदि उपजातियों के उल्लेख तो केवल अभिलेखों से ही प्राप्त होते हैं।

सम्मानित पद

समाज के कुछ विशिष्ट श्रावक-श्राविकाओं का भिन्न-भिन्न प्रसंगों में उल्लेख हुआ है। इन उल्लेखों से निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक काल की भाँति उस काल में भी समाज में पण्डित[10] और प्रतिष्ठाचार्य[11] आदि का प्रचलन था। प्रतिष्ठाता,[12] प्रतिष्ठात्री,[13] संघाधिपति[14] और सिंघई[15] आदि जैसी पदवियाँ भी प्रदान की जाती थीं।

उदार श्रावक-श्राविकाएँ

यहाँ के अभिलेखों के अनुसार कल्याणसिंह (१०),[16] छात्र (परि. दो, अभि. तीन), रामचन्द्र (वही), देव

---

१. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ४१। २. दे.—ए. पी. आर.–१९१६, परि. अ. क्र. १५। ३. दे.—परि. दो, अभि. क्र. ६। ४. दे.—द्वितीय अ. में सम्बन्धित वर्णन। और भी दे.—दयाराम साहनी : ए पी. आर. १९१८, पृ. १०। ५. (अ) गजेटियर ऑफ़ दी युनाइटेड प्राविंसेज़, जिल्द २४, पृ. १९८। (ब) जे. ए. एस. बो., जिल्द ७१, भाग एक, १९०२ ई., पृ. १२५ पर पाद टिप्पणी। ६-७. दे.—परि. दो, अभि. क्र. ४। ८. दे.—परि. दो, अभि. क्र. ५। ९. दे.—परि. दो, अभि. क्र. ६। १०. दे.—पं. अजितसिंह, ललितसिंह (परि. एक, अभि. ८), पं. गुणनन्दि (वही, अभि. १७, ११४, ११९), पं. शुभंकरदेव और पं. लालदेव (वही), अभि. २२), पं. माघनन्दी (वही, अभि. ६५), पं. गोपाल (वही, अभि. १०४), पं. नेमिदेव (वही, अभि. १२८), पं. नयनसिंह (परि. दो, अभि. ५) आदि पण्डितों के नाम। ११. दे.—अजितसिंह (परि. एक, अभि. ४५) कमलदेवाचार्य (वही, अभि. ५८) लोकनन्दी का शिष्य (वही, अभि. १०१), नयनसिंह (परि. दो, अभि. ५) आदि प्रतिष्ठाचार्यों के नाम। १२. दे.—राजपाल (परि. एक, अभि. ६०), मठपति जज (वही, ६१), गंगक और शिवदेव (वही, ८९), कमलदेव के शिष्य श्रीदेव (परि. दो, अभि. एक) आदि प्रतिष्ठाताओं के नाम। १३. दे.—सोमती (परि. एक, अभि. ५१), मदन (वही, ५२) धनिया (वही, ५९), अमोदनी (वही, १०४) आदि प्रतिष्ठात्रियों की नामावलि। १४. दे.—होलो (परि. दो, अभि. चार), जुगराज (वही, पाँच) आदि संघाधिपतियों के नाम। १५. दे.—सिंघई लक्ष्मण, अर्जुन, जुगराज, चतुर्भुज (परि. दो, अभि. पाँच) आदि सिंघई उपाधिकधारियों के नाम। १६. यहाँ कोष्ठक में दर्शित अंक परिशिष्ट एक तथा दो में संलग्न अभिलेखों की संख्या के निर्देशक हैं।

(वही), साहजी (२२), होली (परि. दो, अ. चार) गल्हेश,[1] श्रीवल्लदेव, श्री लक्ष्मणकालदेव, क्षेमराज, नयनसिंह, रत्न, पद्मसिंह, वील्ह, पल्हिक, तल्हण, बोल्हण, महीचन्द्र (४), महीन्द्रसिंह (६), साहुसिंह (६), श्रीसिंह (९), जसदेव (९ और २०), जुगराज (परि. दो, ५), क्षेमराज (वही), अर्जुन (वही), रामदेव (वही), पद्म (वही), नेमिचन्द्र (२६), पाहुस (२०), केशव (२०), विरच (इन्द्र) (३१), भुवनसिंह (४६), गंगक (८६), शिव-देव (८६), कल्लन (९१), प्रभाकर (११७), रुद्रबान (११८) आदि श्रावकों ने विभिन्न धर्म कार्यों के लिए दान किये थे। इसी प्रकार सजासोधरा (१११), सागरसिरि (परि. दो, अ. तीन), सालसिरि (वही), उदयसिरि (वही), देवरति (परि. दो, अ. चार), पद्मश्री (वही), रत्नश्री (वही), साविनी (७), सलाखी (७), अक्षयश्री (परि. दो, अ. पाँच), क्षेमा (वही), गुणश्री (वही), पद्मश्री (वही), कालश्री (वही), पूर्णश्री (वही), जसदेवी (इन्दपई), ठकुरानी (१२), सदिया (९८) आदि श्राविकाओं ने विभिन्न अवसरों पर विविध धर्म कार्यों के लिए दान किये थे।

४. धार्मिक जीवन

संघ, गण, गच्छ

विवेच्य अभिलेखों में उल्लिखित अनेक संघों,[2] गणों,[3] गच्छों[4], आचार्यों, आर्यिकाओं और भट्टारकों आदि के नाम सूचित करते हैं कि देवगढ़ न केवल मन्दिरों और मूर्तियों के लिए ही प्रसिद्ध था, प्रत्युत धर्मात्मा पुरुषों और स्त्रियों के लिए भी प्रसिद्ध था।

साधु-साध्वियों द्वारा धार्मिक कृत्य

यहाँ के अभिलेखों में कमलदेव[5] (५८ और परि. २-१), श्रीदेव[6] (वही), रत्नकीर्ति[7] (३, परि. २-४) देवेन्द्रकीर्ति[8] (३, परि. २-५), त्रिभुवनकीर्ति[9] (३, १०२, १०३), शुभदेवनाथ (मुनि) (२३), यशस्कीर्त्याचार्य[10] (९९), माधवचन्द्र (५०),[11] जयकीर्त्याचार्य (२५),[12] माधवनन्दा (९५),[13] लक्ष्मीचन्द्रदेव[14] (परि. २-३), कनक-चन्द्रदेव[15] आचार्य (परि. २-३), हेमचन्द्रदेव[16] (परि. २-३), धर्मनन्दी[17] (५७), ललितकीर्ति[18] भट्टारक

१. यहाँ से बोल्हण तक के नाम परि. दो, अभि. क्र. चार में उत्कीर्ण हैं। २. दे.—मूलसंघ (परि. एक, अभि. तीन), नन्दिसंघ (परि. दो, अभि. तीन), मूलसंघ (परि. दो, अभि. चार), नन्दिसंघ (वही), मूलसंघ (वही, पाँच) आदि। ३. दे.—बलात्कारगण (परि. दो, अभि. तीन, चार और पाँच)। ४. दे.—सरस्वतीगच्छ (परि. एक, अभि. तीन), मद्दसारद्दगच्छ (परि. दो, अभि. चार), सरस्वतीगच्छ (परि. दो, अभि. पाँच) आदि। ५. जै. शि. सं. ह्वि., अभि. क्र. १२८। ६. जै. प्र., पृ. १२४। ७. (अ) भ. प्रस्ता. पृ. १६, पा. टि. २६, ८१, २३१, २३२, २५८, २७७, २९७, ३९९, ४००, ५२२, ५३६, ५४०, ५८९। (ब) जै. प्र. पृ. ११, १२, १४, २१, ३४, ५६, ६०, ६१, ८०, ८७, ९३। (स) जै. ह्वि. पृ. ३३, ५४, १३०। (ड) रा., पृ. ६३८, ७२२। (इ) बो., लेखांक १३०३। (ई) रा. जै. सं. पृ. ६१, ६२, ७०, १२४, १२७-३०, १३२-३६, १४८, १५३, १५६, १६१, १७१, १८३, १८५, १९१, १९२। (उ) अने. (व. १७ कि. एक), पृ. ३८, (जून ६४), पृ. ६४। (ऊ) जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २२, कि. एक, पृ. ५८। ८. (अ) भ. प्रस्ता., पृ. ६, पा. टि. २१, लेखांक १०२, १०३, १०८-१२, १४८-७८, १८६-९२, २६४, ३६०, ३६१, ४२५, ४२६, ५०६, ५१०, ६१३, ६६४-६६। (ब) बो. लेखक १४४४। (स) आ., पृ. ७ प्र., ८ प, ९२, ९४ प, १२३ प्र. १२५, १२७, १२८, १४०, १४२, १४३, १४४, १४७। प, १५३ प्र.। (ड) जै. शि. सं., ह्वि. ले. १४९-५०। (इ) ह्वि., पृ. ३४, २०० (पा. टि.), ४२६, ४६३, ५३१। (ई) रा. जै. सं., पृ. ४६, ६६, १०६, ११०, ११३, १५६, १६५, १६६। (उ) अने. (व. १५ कि. दो), पृ. १६०, (व. १८ कि. पाँच), पृ. २२३। ९. (अ) भ. लेखांक ५२३, ५२४, ६०७, ६३५, ६४४, ६५५। (ब) आ. १५३ प्र.: (स) जै. ह्वि. पृ. १२२, १३४। (ड) जै. प्र. पृ. ५५, ६८, २०४। (इ) रा. जै. स. पृ. १९३-९४। (ई) अने., (व. १५ कि. तीन) पृ. १४०। १०. (अ) भ., ले. २८८, ३१५, ४०१, ४०२, ५२५, ५२६, ५५७, ५६२, ५९७-९८, ६४६, ६५५। (ब) जै. प्र., पृ. ३४, ३५, ३७, ६०, ६१, ६८, ७०, ९८। (स) जै. ह्वि., पृ. ३७, ३८, ४१, ४२, ४४। (ड) आ. पृ. १५३, १५४ प, १७६ प्र. १८१, १८२ प। (इ) शो. सं. २०, पृ. ३५८। (ई) रा. जै. सं. पृ. ४१, ८४, ८५, ८७ १७१, १८५, १८६, १८८, १९३। ११. (अ) शो. स. पाँच पृ. २०। (ब) जै. शि. सं. ह्वि., अभि. क्र. ६५, १२१, १२२, १४२, १४५, १४८, १४६, २१३, २१६, २६७, २७७, २९९, ३१०। (स) सं. प्र. पृ. १६५, १६७, १८८। (ड) आ. पृ. १२४ प, १३२, १४७ प। (इ) जै. ह्वि., पृ. २१। १२. (अ) जै. प्र., पृ. २७, ५६, ६२, ७५। (ब) जै. ह्वि. पृ. २७। (स) आ., पृ. १२४, १३०, १४७ प। (ड) रा. जै. सं., पृ. १०, १८३। १३. (अ) जै. शि. सं. ह्वि., अभि. क्र. ६५, १२१, १२२, १४२, १४८, १४६, २१३, २१६, २६७, २७७, २९९। (ब) शो. सं. २०, पृ. ३५८। १४. (अ) भ., ले. २८३, ४६८-७६। (ब) जै. ह्वि., पृ. १३०। (स) रा. जै. सं. पृ. १०६, १०९, १११, १४८, १५६। (ड) अने. (व. १८ कि. ५), पृ. २२७। १५. (अ) आ., पृ. १३२, १३३। (ब) जै. शि. सं. ह्वि. अभि. क्र. २९९। १६. (अ) शो., सं. २०, पृ. ३६०। (ब) आ. पृ. ८४, १२३, १७०। (स) जै. प्र., पृ. ८८, १४२ १४५, २२२। (ड) जै. ह्वि. प. ५७, ६०, ७१। (इ) जै. शि. सं. ह्वि., अभि. क्र. २१३, २१५, २६९, २७४। (ई) ज. शि. सं. तृ. अभि. क्र. ५६०, ६४०, ६४३, ८३८। (उ) जै. शि. सं. च., अभि. क्र. १५८, २१४, २१६, २२१, ३००, ३०१, ३१८, ४०१, ४०२, ४१०-१२, ४१४, ४२२-२३, ४२८। (ऊ) ह्वि. पृ. ४६, ९०, १११-१३, ४२६, ४३६, ५२६, ५४२, ५६१। (ऋ) रा. पृ. ११६, १३८-३९, १७१, १७७, २६०, २६४, २७०-७१, २७७, ३०१, ४१६, ५७३। (ए) भ. ले. ३७६, ५८८, ५९६-९८, ६६३। १७. (अ) जै. शि. सं. ह्वि., अभि. क्र. १०४। (ब) शो., सं. २०, पृ. ३५९। १८. (अ) भ., ले. ५२५-२६, ५५२, ६१५-१७। (ब) आ., पृ. १६-१९, ३५,

(परि. २-६), लोकनन्दिन्[1] (१७, १०९, ११४, ११६), धर्मचन्द्र[2] मुनीन्द्र (परि. दो, अभि. चार), प्रभाचन्द्रदेव (परि. दो, अभि. चार, पाँच), पद्मनन्दी[4] (परि. दो, अभि. चार, पाँच), शुभचन्द्र[5] (परि. दो, अभि. चार), कीर्त्याचार्य[6] (१९), गणी (३२), माघनन्दी (३३),[7] चन्द्रकीर्ति (३९),[8] माधवदेवचन्द्र[9] (८५), नागसेनाचार्य[10] (९०) माघनन्दी[11] (१०१), सहस्रकीर्ति[12] (१२४) आदि अनेक आचार्यों और भट्टारकों के धार्मिक-कृत्यों का कभी संक्षिप्त तो कभी विस्तृत वर्णन उत्कीर्ण हुआ है। साथ ही इन्दुआ (११ और ३०) लवणश्री (१०७), नवासी (२५), मदन[13] (५२), धर्मश्री (२२) आदि आर्यिकाओं के सक्रिय धार्मिक सहयोग और जीवन की गाथाएँ भी अभिलिखित हैं।

तीर्थंकरों की उपासना

देवगढ़ में उपलब्ध सहस्रों तीर्थंकर मूर्तियों, उन पर उत्कीर्ण अभिलेखों तथा कुछ मूर्तियों के पादपीठ में विनीत भक्तों के अंकन के आधार पर वहाँ की समाज के धार्मिक जीवन और सुदृढ़ आस्था का परिचय सहज ही प्राप्त हो जाता है। इस सबके अतिरिक्त वहाँ के अभिलेखों में ऋषभ (१७, ४२-४४, ५२, ८२ तथा परि. दो, अभि. चार), अजित (५१, ६१), सम्भव (६०, १२०), सुमति (१, ४२-४४), चन्द्रप्रभ — (११४-१५, ११९), शान्तिनाथ (४२-४४, ४६, १०६ तथा परि. दो, अभि. चार), मल्लि (११७), पार्श्वनाथ (८६, ८७), तथा वर्द्धमान (४२-४४ एवं परि. दो, अभि. चार) आदि के नाम भी अंकित हैं। कुछ में[14] तीर्थंकरों का स्तवन भी हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि अभिलिखित तीर्थंकरों की उपासना देवगढ़ में विशेष रूप से प्रचलित थी।

९८, १०६, १११, १५३, १५४, १८२। (स) जै. प्र., पृ. २४, ३५, ६३, ६७, ९२, २०५। (ड) भी., लेखांक १५१४७ (इ) शो., सं. २०, पृ. ३६०। (ई) रा., पृ. ४६८, ५१४, ५४६, ६४५, ६६५, ७६४, २२०६। (उ) जै. शि. स. तृ., अभि. क्र. ४४८, ४५९-६०, ६३४, ६८०। (ऊ) जै. शि. सं. च. अभि. क्र. २२२-२३, २२५, २६५-६६, ३१६, ३५४-५५, ३७६, ३८२, ४०३। (ऋ) रा. जै. सं., पृ. ६।

१. (अ) जै. शि. सं. तृ., अभि. क्र. ३७१। (ब) शो., सं. २०, पृ. ३५८। २. (अ) जै. शि. सं. प्र., पृ. (भू.) ४१ तथा अभि. क्र. ११८। (ब) वही, तृ., अभि. क्र. ७१४। (स) वही, च., ७१७। (ड) आ., पृ. ९३, ९४, ९८, १२१, १५४। (इ) रा. जै. सं., पृ. १८१, १८४, १८५। (ई) अने., (ब. १७, कि. एक), पृ. ३७ तथा (ब. १५, कि. २), पृ. १६३-६४। (उ) जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग २२ कि. एक), पृ. ५८। ३. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू. पृ. ४०, ५५, ६२-६४, ९२, ९७, ५०० तथा अभि. क्र. ४३, ४४, ४७, ५०-५३, ५६, ६२, १०५, ११०, ११२, ११६, १२२, १२४, १२८, १३०, १३२, १३३, १४२, १५३, १५४, १५६, १५९, (ब) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. १०७, १२२-२३, १६०, १८०, २११, २६७, २६९, २७५, २७७, २८०, २९४, २९९, ३०१। (स) जै. शि. सं. तृ., अभि. क्र. ४५२, ४७०, ६१७। (ड) आ., पृ. १, ६, १२४-२५, १५५, १७९। (इ) रा. जै. सं., पृ. ११४, १८१, १८३-८५। (ई) जै. सा. इ., पृ. १६, ३५, ४७, ७०, ८१, १२८, १३७, १५८, २२०-२१, २३६, २८६, ३७८, ३८५, ५५०। (उ) अने. (व. १५, कि. ३), पृ. १३८, (ब. १७, कि. एक) पृ. ३८, (ब. १५, कि. २), पृ. १६१-६४। ४. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू. पृ. ४१, ११४, १३०, १३७, ४९८ तथा अभि. क्र. ४२, ११२, १२४, १२८, १५२, १५७, १५९-६०। (ब) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. २०९। (स) वही, तृ., अभि. क्र., ३१३, ४०८ ४३१, ५५१, ५८५, ६१७, ७०२। (ड) आ., पृ. ६, ८९, ११९, १२४, १३३, १५२-५३, १७४, १७८, १८९-९२, १९६। (इ) रा. जै. सं., पृ. ३, ७, १०६, १५९, १६१। (ई) जै. सा. इ., पृ. १०९, १६५, २५८, ३१७, ३७१, ३७८। (उ) अने. (ब, १७) कि. एक, पृ. ३९ तथा कि. चार, पृ. १५९-६०, १६२। (ऊ) जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग २२, कि. एक, पृ. ५८। ५. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू. पृ. ४०, ४१, ४६, १८८, ४७१, ४८९ तथा अभि. क्र. ४३, ४५-५० ५६, ६३-६५, ९०-९१, ९२, ९८, ११२, ११६, १३०, १४४, १५३, १५५, १५८, ३६०, ४४६-४७, ४८६-८७, ४८६, ४८९। (ब) वही द्वि., अभि. क्र. १६०, १८०, २३२, २४५, २५१, २५३, २८४, ३०१। (स) वही तृ.. अभि. ४३३, ४४८, ४४९, ४५४, ४५९, ४६५, ४७०, ५९२, ६१७, ६२१, ७०२। (ड) आ., पृ. २०, २१, २२, ६८, ११९। (इ) रा. जै. सं., पृ. ५ ६, ५२, ६२-६५, ६६-६८, १६०-६४, १७२, १७८, १८०, १८१, २०६, २०८. २०९। (ई) जै. सा. इ., पृ. ४८, १५६, २०३, ३१०, ३३२, ३७८, ४०८, ४६०, ४७३, ५५८। (उ) अने. (ब, १७) कि. एक, पृ. ३६, किरण चार, पृ. १५९, १६४। (ऊ) जैनसिद्धान्त-भास्कर, भाग २२, कि. एक, पृ. ५८। ६. म., ले. ६२२। ७. (अ) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. १३६। (ब) शो., सं. १०, पृ. ३६०। ८. (अ) आ., पृ. ८४, १३३। (ब) जै. प्र., पृ. ६२, ८३, १५०। (स) जै. द्वि., पृ. १४. ५६, १३०। (ड) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. २१२, २२७, २३९, २४१, २८०। (इ) जै. शि. सं. तृ., अभि. क्र. ५४५, ५७१, ६००। (ई) वही च., २०८, ३६७, ३८३, ४०२, ४०३, ४०५। (उ) भ. ले २०४, २२१, २२२, २६७, २८६, ५३१, ५४०, ७०१, ७२४ आदि। (ऊ) रा., ले. २०१, ५१४। (ऋ) रा. जै. सं., पृ. १५६, १५९-६०, १६७। ९. (अ) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. १४५, ३०१। (ब) वही तृ. ५३४, ५६८, ६६७। (स) वही च. पृ. १५४, २३३-३४, २४२-४३, २६६, २६८, ३७२। (ड) आ., पृ. १९४, १३२, १४७। (इ) जै. सा. इ., पृ. २७१-७३, ३१०। १०. (अ) जै. शि. स. प्र, भू. पृ. १४ तथा अभि. क्र. ११२, १२६, १५०। (ब) वही द्वि., अभि. ४५। (स) वही च., प. ७२, ८४-८५। (ड) आ., पृ. १२९। ११. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू. पृ. ४०, ४१, ५५, १०४, ११९, १३०, ४९९ तथा अभि. क्र. ४२, १००, ११२, १२४, १२८-३०, १३२-३४, १५७, १५९, ४६१। (ब) वही द्वि., अभि. क्र. २०४, २६७, २७७, २८०, २९३, ३००। (स) वही तृ., अभि. क्र. ३०७-८, ३१३, ३२०, ३३४, ४११, ४६५, ५१४, ५२४, ५७१, ६६७। (ड) वही च., पृ. २२, ५८, ६०, ९८, १५०, १५२, १६६, २०४, २०७, २२९, २५८, २७१ ७२। (इ) आ., पृ. २२, ४३-४७, १२४, १३३। १२. (अ) जै. शि. सं. च., पृ. ३७३, ३७६। (ब) जै. सा. इ., पृ. ३३३-३४, ३४१, ३६१, ३९८। (स) अने., (ब. १५, कि. दो), पृ. ८१। १३. जै. शि. सं. तृ., अभि. क्र. ४१८। १४. दे. — (१) मं. सं. १० में उत्कीर्ण अभिलेख (परि. एक, अभि. ४२-४४)। (२) परि. दो, अभि. चार और पाँच।

सिद्धात्माओं के उल्लेख

यहाँ के एक अभिलेख (परि. दो, अभि. क्र. चार) में रामचन्द्र, सुग्रीव आदि सिद्धात्माओं का गुणस्मरण और अत्यन्त आदर के साथ उल्लेख हुआ है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि देवगढ़ का समाज प्राचीन महापुरुषों का गुणस्मरण करता था तथा उसे पौराणिक कथाओं की अच्छी जानकारी थी।

स्मारक और देव-देवियाँ

देवगढ़ के कुछ अभिलेखों में वहाँ के स्मारकों और देव-देवियों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—शान्त्यायतन (परि. दो, अभि. एक) श्री शान्तिनाथ चैत्यालय (परि. दो, अभि. पाँच), जिनालय एवं जैन-धर्मालय (परि. दो, अभि. चार), दानशाला (परि. एक, अभि. क्र. १२५, १२६, १२९), चरणपादुका (परि. एक, अभि. क्र. १८, ४१), राजपाल मठ (परि. एक, अभि. क्र. ९९) आदि स्मारकों तथा चक्रेश्वरी (परि. एक, अभि. ५८, १००), सुलोचना (चित्र १०१), पद्मावती (परि. एक, अभि. १०४), मालिनी (परि. एक, अभि. १०२), सरस्वती (परि. एक, अभि. १०३ तथा परि. दो, अभि. चार) आदि देवियों के अभिलेखन भी देवगढ़ के समाज की धार्मिक आस्था को सूचित करते हैं।

५. शिक्षा और साहित्य

यह विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है कि देवगढ़ के प्राचीन समाज में शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था। यह तथ्य मूर्त्यंकनों,[१] द्वारा तो प्रमाणित होता ही है, अभिलेखों द्वारा भी सम्पुष्ट होता है। उनमें अनेक स्थानों पर गुरु-शिष्य परम्परा उत्कीर्ण की गयी है।[२] गुरुओं का स्मरण अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ किया गया है।[३] देव नाम के एक छात्र का उल्लेख हुआ है,[४] जो अपने गुरु को नित्य प्रणाम करता था (प्रणमति नित्यं)। गुरु-शिष्य परम्परा महिलाओं में भी प्रचलित थी। सागरसिरि नामक महिला-गुरु की दो शिष्याओं (चेली), सालसिरि और उदयसिरि के नाम उत्कीर्ण हुए हैं।[५]

अध्ययन-अध्यापन विविध विषयों का होता था। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि वहाँ समयसार जैसे अध्यात्मशास्त्र, ज्ञानार्णव-जैसे योगशास्त्र और यशस्तिलक चम्पू-जैसे काव्यग्रन्थों का पठन-पाठन होता था।[६]

जहाँ तक भाषा और साहित्य का प्रश्न है, देवगढ़ के पण्डित और आचार्य प्रकाण्ड विद्वान् थे। काव्यरचना में वे कितने कुशल थे, इसका प्रमाण उनके द्वारा लिखित स्तुतिकाव्यों[७] और अभिलेखीय काव्यों[८] में प्राप्त होता है। एक अभिलेख का प्रारम्भ करता हुआ काव्यकार प्राणिमात्र को मित्र की संज्ञा देकर उद्बोधित करता है, "अहो मित्र! आत्महित का आश्रय ग्रहण कर, मोहरूपी वन को त्याग, कर्तव्य और अकर्तव्य को समझ, वैराग्य धारण कर, शरीर और आत्मा में सुनिश्चित अन्तर का चिन्तन कर तथा धर्मध्यानरूपी अमृत के समुद्र में गहरा गोता लगाकर अनन्त सुखरूपी स्वरूप से सम्पन्न कमलवदना मुक्ति का संगम कर।"[९]

विरोधाभास और मुद्रा अलंकारों का समन्वित प्रयोग करता हुआ कोई कवि जिनेन्द्रदेव की स्तुति करता है, "जो अपनी वाम (पत्नी) माया के साथ रहते हैं, फिर भी अमाय (मायारहित) हैं। साथ ही अत्यन्त असुन्दर माया (छल) और आमय (रोग) से रहित हैं, सुन्दर हैं, शोभमान लक्ष्मणों (लक्षणों) से सम्पन्न हैं, पूजा के योग्य हैं, सीतापति रामचन्द्र और सुग्रीव द्वारा जिनका महान् सम्मान हुआ है और जो एकमात्र शिरोधार्य हैं, जो शल्य के साथ दुःशासन का भी नाश करनेवाले हैं साथ ही शल्यसहित (कष्टप्रद) दुश्शासन—(दूषितशासन) का नाश करनेवाले हैं,

---

१. दे.—चित्र सं. ७५ तथा ७७ से ८५ तक। २. दे.—परि. दो, अभि. क्र. एक, तीन, चार, पाँच आदि। ३. दे.—वही। ४. दे. परि. दो, अभि. क्र. तीन। ५. दे.—वही। ६. दे.—परि. दो, अभि. क्र. चार। ७. दे.—परि. एक, अभि. क्र. ४२-४४। ८. दे.—परि. दो, अभि. क्र. चार, पाँच।

९. दे.—परि. दो अभिलेख क्र. पाँच का पद्य प्रथम—

'आत्मार्थं श्रय मुंच मोहगगनं मित्रं विवेकं गुरु। वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनः।
धर्मध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वाऽवगाहं परम्। पश्यानन्त-सुख-स्वभावकलितं मुक्ति मुखाम्भोरुहम्।"

जो सहदेव द्वारा पूज्य अजातशत्रु (युधिष्ठिर) हैं साथ ही देवों के द्वारा उपास्य और शत्रुरहित है,...ऐसे मृगांक (मृगलांछनवाले) शान्तिनाथ की वन्दना करता हूँ।"[1] इसी प्रकार विभिन्न अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का प्रशंसनीय प्रयोग स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है।

६. आर्थिक स्थिति

अधिकांश अभिलेखों में मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार आदि के हेतु दान करनेवाले श्रावक-श्राविकाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि देवगढ़ का प्राचीन समाज इतना सम्पन्न था कि वह जीवन सम्बन्धी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करके भी पर्याप्त दान कर सकता था। इस कथन की पुष्टि उन मूर्त्यंकनों से भी होती है, जिनमें अनेक श्रावक-श्राविकाओं को बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से सुसज्जित तथा रंगरेलियाँ मनाते हुए प्रदर्शित किया गया है।[2]

७. उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिलेख देवगढ़ के प्राचीन इतिहास, संस्कृति, धर्म और कला आदि पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने में पूर्णतः समर्थ हैं।

---

१. दे.—परि. दो अभिलेख क्र. चार के पद्य पाँच और छह—

स्वधाममायामयमप्यमायं, धार्मं लसल्लक्ष्मणमर्हणार्हम्।
सोदेश-सुग्रीव-महार्हबाहुं, वन्दे सहर्षं सहसैकशीर्षम् ॥५॥
सहाक्ष्यदुःशासननाशहेतुमजातशत्रुं सहदेवमर्च्यं।
वन्दे विशालार्जुन सद्य+ +नन्दनसतां कर्णकुलं मृगाङ्कम् ॥६॥

२—दे.—चित्र सं. ८८, ९०, ९३, ११४, ११६, ११९, १२१, १२२ तथा ५७, ११८ आदि।

उपसंहार

शोध उपलब्धियाँ

प्रस्तुत प्रबन्ध के पिछले अध्यायों में देवगढ़ के जैन स्थापत्य, मूर्तिकला एवं सांस्कृतिक जीवन का समग्र अध्ययन प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है। सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के सन्दर्भ में सन् १८७४ ई. में देवगढ़ का भी आंशिक सर्वेक्षण किया था। उसके पश्चात् भी यहाँ की कला के सर्वेक्षण-अध्ययन के शासकीय तथा सामाजिक प्रयत्न होते रहे, किन्तु समग्र अध्ययन की दृष्टि से इस प्रबन्ध के पूर्व अन्य कोई प्रयत्न नहीं हुआ।

देवगढ़ में प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'देवगढ़' यह इस स्थान का प्राचीन नाम नहीं है। इस स्थान का प्राचीन नाम 'लुअच्छगिरि' था। इस नाम का उल्लेख यहाँ के जैन मन्दिर संख्या बारह के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण विक्रम संवत् ९१९ के अभिलेख में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में इस स्थान का नाम 'कीर्तिगिरि' प्रचलित हुआ। इस नाम का उल्लेख यहाँ की राजघाटी में चन्देलवंशी शासक कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज द्वारा उत्कीर्ण कराये गये विक्रम संवत् ११५४ के अभिलेख में उपलब्ध होता है। इस स्थान का 'देवगढ़' नामकरण बारहवीं शताब्दी के अन्त अथवा तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ प्रतीत होता है। चौदहवीं शताब्दी के एक अभिलेख में इस नाम का संकेत मिलता है। इस नाम के प्रचलन का प्रमुख कारण, यहाँ असंख्य देव-मूर्तियों तथा देवायतनों की उपलब्धि के साथ ही साथ एक विशिष्ट मूर्ति-निर्माण केन्द्र के रूप में इसकी प्रसिद्धि भी है। ऐसा एक भी साक्ष्य प्राप्त नहीं होता, जिसके आधार पर इस स्थान के नाम को किसी राजा, महाराजा और आचार्य के नाम के साथ जोड़ा जा सके।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देवगढ़ के अध्ययन की उपलब्धियाँ अनेक दृष्टियों से विशिष्ट हैं। यहाँ प्रागैतिहासिक काल से लेकर मुग़ल, मराठा एवं अँगरेजों के शासनकाल तक भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की एक अविच्छिन्न धारा प्राप्त होती है। यहाँ बेतवा के तट पर उत्खनन में प्रागैतिहासिक काल के अस्त्र प्राप्त हुए हैं तथा राजघाटी की कतिपय गुफाओं में आदिमानव द्वारा निर्मित प्रागितिहास काल के चित्र मिलते हैं। यहाँ के एक अभिलेख में मौर्यकालीन ब्राह्मी का भी प्रयोग प्राप्त हुआ है। गुप्त युग में तो यहाँ अनेक विशिष्ट मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण हुआ। गुर्जर प्रतिहारों के शासन में यहाँ की कला और स्थापत्य को पर्याप्त समृद्धि प्राप्त हुई। यहाँ उपलब्ध एक अभिलेख गुर्जर प्रतिहारवंशी शासक भोज का समय तथा राज्य सीमा को स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित करता है। चन्देलवंशीय शासक कीर्तिवर्मन् के समय से वर्तमान देवगढ़ का नाम लुअच्छगिरि से कीर्तिगिरि रखा गया तथा उसके मन्त्री वत्सराज ने यहाँ एक नवीन गिरिदुर्ग का निर्माण भी कराया था। उसके पश्चात् भी सांस्कृतिक समृद्धि की एक अविच्छिन्न धारा यहाँ प्रवाहित होती है।

देवगढ़ में विद्यमान इकतीस मन्दिरों, नौ लघु मन्दिरों एवं उन्नीस स्तम्भों—मानस्तम्भों की परिपूर्ण पैमाइश प्रथम बार इस अध्ययन में की गयी है। देवगढ़ दुर्ग तथा वहाँ की प्राचीन घाटियाँ—नाहरघाटी और राजघाटी, सिद्ध की गुफा, वराह एवं दशावतार मन्दिरों तथा सती स्तम्भों का भी इस प्रबन्ध में विवेचन किया गया है।

मन्दिर-वास्तु की दृष्टि से देवगढ़ के मन्दिरों में शास्त्रीय विधान का पूर्ण निर्वाह न होने पर भी सर्वतोभद्र, पूर्णभद्र, षोडशभद्र, पंचायतन आदि शैलियों का परिपूर्ण निदर्शन उपलब्ध होता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से गुर्जर प्रतिहारकाल तक मन्दिर-वास्तु का जो विकास हुआ, उसका स्पष्ट प्रभावांकन यहाँ के मन्दिर-वास्तु में परिलक्षित होता है।

देवगढ़ की जैनकला में तीर्थंकरों, देव-देवियों, विद्याधरों, साधु-साध्वियों तथा उपासकों की मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में यहाँ की मूर्तियों का योगदान अद्वितीय है। देवगढ़ में उपलब्ध दो इंच से लेकर तेरह फ़ीट तक की विशालकाय तीर्थंकर मूर्तियों के अतिरिक्त नामोत्कीर्ण चौबीस यक्षियों, विद्यादेवियों, विद्याधरों, साधु-साध्वियों एवं उपासकों की मूर्तियों के निदर्शन भारतीय कला में अत्यन्त विरल हैं।

देवगढ़ की जैनकला में निदर्शित युग्म और मण्डलियों, विभिन्न प्रकार के प्रतीकों, पशु और विभिन्न जीव-जन्तुओं, आसन एवं मुद्राओं तथा प्राकृतिक परिवेश के शिल्पांकन भारतीय कला में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं।

देवगढ़ की कला और स्थापत्य में वहाँ के सांस्कृतिक जीवन का इतिहास मुखरित होता है। समाज के विभिन्न वर्ग, चतुर्विध संघ, साधु सम्प्रदाय, भट्टारक, गृहस्थ-श्रावक, सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग, शिक्षा और साहित्य, लिपि एवं भाषा, वेशभूषा तथा प्रसाधन, आमोद-प्रमोद, आर्थिक जीवन इत्यादि का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है।

देवगढ़ के अभिलेख वहाँ की कला तथा सामाजिक जीवन के इतिहास की ही कहानी नहीं कहते प्रत्युत भारतीय भूगोल एवं प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिए भी प्रभूत सामग्री उपलब्ध कराते हैं और नागरी लिपि का विकास क्रम भी सूचित करते हैं।

प्रबन्ध के अन्त में संलग्न किये गये परिशिष्ट तथा १२३ चित्र एवं विन्यास रूपरेखाएँ समग्र विवेचन के साथ अपना निजी वैशिष्ट्य रखते हैं। देवगढ़ के सभी जैन अभिलेखों का एक साथ विवरण एवं विशिष्ट अभिलेखों का मूलपाठ भी प्रस्तुत किया गया है। कला और संस्कृति के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित इतने अधिक चित्र भी अन्यत्र नहीं सँजोये गये। वस्तुतः ये चित्र एवं विन्यास रेखाएँ देवगढ़ की जैनकला के अध्ययन का एक अनिवार्य और अभिन्न अंग हैं। इनके माध्यम से भारतीय मूर्तिकला एवं मन्दिर-वास्तु के अध्ययन के लिए अनेक नवीन आयाम उद्घाटित होंगे।

इस प्रकार भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया गया देवगढ़ की जैनकला का यह सांस्कृतिक अध्ययन वहाँ के स्थापत्य, शिल्प तथा सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन का एक विनम्र प्रयत्न है।

कतिपय शोचनीय तथ्य

प्रारम्भ में देवगढ़ के स्थपतियों और शिल्पियों ने अध्यात्म प्रधान कृतियाँ निर्मित कीं। कालान्तर में भट्टारकों के प्रभाव की वृद्धि के साथ यह प्रवृत्ति क्षीण होती गयी और उत्तरोत्तर भौतिक उपलब्धियों पर बल दिया जाने लगा। फलस्वरूप कला में निखार और विविधता तो अवश्य आयी, परन्तु उसमें प्राणतत्त्व का ह्रास होता गया। सात्त्विकता और मौलिकता गुप्तोत्तर काल में क्षीण से क्षीणतर होती गयीं। भले ही यह तथ्य भारतव्यापी हो पर इसके लिए देवगढ़ भी कम उत्तरदायी नहीं है। देवगढ़ के भट्टारकों ने जैनकला को कितना ही समृद्ध बनाया हो, पर उन्होंने जैन साहित्य की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। इस दृष्टि से देवगढ़ का महत्त्व एकांगी रह जाता है। यहाँ के कलाप्रेरकों और कलाकारों का झुकाव गुणवत्ता की अपेक्षा परिमाण की ओर अधिक रहा है। यही कारण है कि यहाँ सहस्रों मूर्तियाँ गढ़ी गयीं, पर कलागत विलक्षणता की दृष्टि से गिनी-चुनी मूर्तियों का ही उल्लेख किया जा सकता है। कुछ मन्दिरों को, विशेषतः उपत्यका के मन्दिरों की भूमि का चयन उपयुक्त न हो सका। फलस्वरूप वे समय के प्रवाह में उलझकर रह गये। अधित्यका पर निर्मित मन्दिरों में से भी अधिकांश ध्वस्त हो चले हैं। कुछ मन्दिरों के अधिष्ठान इतने नीचे रखे गये कि अब वे भूमि के समतल हो गये हैं। प्रवेशद्वार भी काफ़ी छोटे बनाये गये। एक निश्चित और क्रमबद्ध निर्माण-परम्परा के न रहने से देवगढ़ की वास्तुकला की एक स्वतन्त्र शैली न बन सकी, जैसा कि अन्य अनेक कलाकेन्द्रों में हुआ। शास्त्रीय विधानों का पालन यथोचित रूप में न तो स्थपतियों ने किया और न ही शिल्पियों ने। इस प्रकार देवगढ़ की कला में कुछ शोचनीय तथ्य भी प्राप्त होते हैं।

सुझाव

देवगढ़ की बहुमूल्य कलाराशि की सुरक्षा और मूल्यांकन की नितान्त आवश्यकता है।

(१) सुरक्षा के लिए जीर्णोद्धार प्राचीन काल से ही किया जाता रहा, पर यह कार्य आर्थिक दृष्टि से उतना

जटिल नहीं, जितना तकनीकी दृष्टि से। इसमें प्राचीन स्मारकों के मौलिक रूप का ज्ञान और उसके आधार पर जीर्णोद्धार कार्य आसान नहीं है। इसके लिये विशेषज्ञों की सहायता नितान्त आवश्यक है।

(२) कुछ वर्ष पूर्व अनेक मूर्तियों का भंजन तथा बहुत से दुर्लभ कलावशेषों की चोरी हो गयी है। शासन का ध्यान विशेष रूप से इस ओर जाना चाहिए।

(३) शासन की ओर से देवगढ़ 'क्षेत्रीय प्रबन्ध समिति' के अधिकार में जो भूमि दी गयी है, उसमें अधिकांश स्मारक स्थित हैं। कुछ स्मारकों के अवशेष उस भूमि के बाहर भी प्राप्त हुए हैं, अतः वह भूमि भी सुरक्षा की दृष्टि से क्षेत्रीय प्रबन्ध समिति के अधिकार में होनी चाहिए।

(४) बिखरी हुई प्राचीन सामग्री को एकत्र करके एक अच्छे संग्रहालय में सुरक्षित करना बहुत आवश्यक है। परन्तु सम्पूर्ण सामग्री एक तो उसमें प्रदर्शित किये जाने के योग्य नहीं और विपुलता के कारण वह प्रदर्शित भी नहीं की जा सकती। ऐसी सामग्री की सर्वथा उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। उसे जैन प्राचीर के पृष्ठभाग से संलग्न बरामदा जैसी अल्पव्ययसाध्य वीथिका निर्मित कराकर उसमें प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

(५) अभिलेखों को जलवायु और दर्शकों से पहुँचनेवाली क्षति से बचाये रखने के लिये पारदर्शक आवरणों से आवेष्टित किया जाना चाहिए।

(६) देवगढ़ के भूगर्भ में पर्याप्त सामग्री के दबे रहने के प्रमाण प्रायः मिलते हैं। अधित्यका पर खोदे जानेवाले कुएँ में छह फ़ीट की गहराई पर एक दीपक प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार जैनप्राचीर की नींव खोदते समय ईंटों की प्राचीन भित्तियाँ और अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थीं। वस्तुतः यहाँ अबतक उत्खनन कार्य नहीं किया गया। अतः केन्द्रीय तथा राज्यशासनों को यहाँ वैज्ञानिक उत्खनन कराने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(७) मूर्तिभंजकों द्वारा काटे गये मूर्तियों के जो सिर वापस मिले हैं उन्हें संग्रहालय में प्रदर्शित न करके सम्बद्ध मूर्तियों से यथास्थान संयुक्त करा देना चाहिए।

(८) अधित्यका तक परिवर्द्धित सड़क और भी परिवर्द्धित की जानी चाहिए ताकि नाहरघाटी, राजघाटी, सिद्ध की गुफा और वराह-मन्दिर तक वाहन द्वारा भी पहुँचा जा सके।

(९) कला का समुचित मूल्यांकन होना चाहिए। इसके लिए प्रशिक्षित-प्रदर्शक, प्रदर्शिका-पुस्तिका और चित्र-कार्डों की व्यवस्था की जा सकती है। कुछ मूर्तियों की 'पेरिस-प्लास्टर' की प्रतिकृतियाँ निर्मित करायी जा सकती हैं।

(१०) निकटवर्ती स्थानों से समय-समय पर प्राप्त होती रहनेवाली सामग्री का संचय और प्रदर्शन स्थानीय सामग्री से पूर्णतया भिन्न रूप में होना चाहिए, ताकि यहाँ की मौलिक विशेषताओं और उपलब्धियों की भिन्नता बनी रहे।

(११) देवगढ़ को एक प्रथम श्रेणी के पर्यटन केन्द्र का रूप दिया जाना चाहिए। मन्दिरों के आसपास उद्यानों की योजना की जा सकती है। हवाई पट्टी का निर्माण कराया जा सकता है। क्षेत्र को अधिकाधिक महत्त्व देने के लिए यहाँ विपुल मात्रा में उपलब्ध लकड़ी और पत्थर के उद्योग बड़े पैमाने पर स्थापित किये जा सकते हैं। वनोपज का 'डिपो' भी यहाँ स्थापित किया जा सकता है।

(१२) यहाँ की कला का मूल्यांकन करनेवाले विद्वानों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

अन्त में यह कहना उपयुक्त होगा कि देवगढ़ की जैनकला की सुरक्षा और मूल्यांकन न केवल एक स्थानविशेष और धर्मविशेष के कारण प्रत्युत प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के सन्दर्भ में अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

●

परिशिष्ट एक

इस परिशिष्ट में देवगढ़ के जैन अभिलेखों की सूची और उनका संक्षिप्त विवरण इस क्रम से दिया गया है—

(क) अभिलेखोत्कीर्ण वस्तु। (ख) माप। (ग) भाषा और लिपि। (घ) उत्कीर्ण तिथि और राजा का नाम। (ङ) अभिलेख का विषय।

१. (क) श्री एफ़. सी. ब्लेक को देवगढ़ दुर्ग में ही प्राप्त किन्तु सम्प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में प्रदर्शित शिलाफलक। (ख) छह फ़ीट दो इंच × दो फ़ीट नौ इंच × तीन इंच। (ग) साहित्यिक संस्कृत, देवनागरी। (घ) गुरुवार, वैशाख शुक्ल पूर्णमासी, विक्रमाब्द १४८१ तथा शालिवाहन (शक) संवत् १३४६। राजा—गोरी वंश का शाह आलम्भक, यह मालवा का शासक था। सुलतान दिलावर गोरी के द्वारा संस्थापित मालवा के गोरी वंश में द्वितीय सरदार सुलतान हुशंग गोरी उर्फ़ अलपखाँ था। इसने माण्डुनगर बसवाकर अपनी राजधानी धार से माण्डु स्थानान्तरित की थी। इसका शासनकाल ई. १४०५ से १४३२ ई. तक माना जाता है। इसी सरदार अलपखाँ को इस अभिलेख में शाह आलम्भक के नाम से अंकित किया गया है तथा इसी की नवीन राजधानी का नाम अभिलेख में 'मण्डपपुर' दिया गया है। (ङ) उच्चकोटि की काव्यात्मक संस्कृत में उत्कीर्ण इस अभिलेख में विस्तृत रूप से होली नामक दाता की प्रशस्ति अंकित हुई है। उसने आ. शुभचन्द्र की आज्ञा से देवगढ़ में एक विशाल जिनालय का निर्माण कराया था तथा कुछ मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी करायी थी। (अभिलेख पाठ के लिए देखें परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक चार)।

२. (क) सम्प्रति जैन धर्मशाला स्थित दिगम्बर जैन चैत्यालय में विद्यमान उपाध्याय मूर्ति। (ख) ग्यारह इंच × ढाई इंच। पाँच पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) रविवार, ज्येष्ठ वदी दशमी, विक्रमाब्द १३३३। (ङ) सालसिरि (शालश्री) एवं उदयसिरि (उदयश्री) नामक छात्राओं तथा देव नामक छात्र द्वारा श्रद्धापूर्वक इस मूर्ति के समर्पण का वर्णन। (अभिलेख पाठ के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक ३)।

३. (क) एक पत्थर की बावली के निकट रखा हुआ, किसी स्तम्भ का खण्डित अंश। (ख) तेरह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) माघ शुक्ल चतुर्दशी, संवत् १०१६। (ङ) श्रीमूलसंघान्तर्गत सरस्वतीगच्छ के आचार्य रत्नकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य त्रिभुवनकीर्ति की प्रशस्ति।

४. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के पीछे (पश्चिम में) ५ फ़ुट ३ इंच ऊँचा सादा स्तम्भ। (ख) दस इंच × दस इंच। नौ पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत (अशुद्ध), देवनागरी। (घ) बुधवार, माघ सुदी दशमी, संवत् १४९३। (ङ) महीचन्द्र द्वारा करायी गई मूर्ति स्थापना का वर्णन।

५. (क) जैन मन्दिर संख्या एक की दीवार का शिलाफलक। (ख) पाँच पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) वीरनन्दी नामक जैन मुनि की वंशावली अंकित हुई है।

६. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त स्तम्भ—एक ओर। (ख) दो-दो पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, सं. ११११। (ङ) महीन्द्रसिंह एवं साहसिंह नामक दो दातारों के नाम आदि दिये गये हैं तथा इन दोनों को मूर्ति के पादपीठ के मध्य में विनयावनत मुद्रा में उत्कीर्ण भी किया गया है।

७. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त स्तम्भ—दूसरी ओर। (ख) एक-एक पंक्ति के दो अभिलेख।

(ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, सं. ११११३। (ङ) साविनी और सलाखी नामक दो महिला-दातारों के नाम अंकित हैं।

८. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त स्तम्भ—तीसरी ओर। (ख) तीन-तीन पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, सं. ११११३। (ङ) पं. अजितसिंह तथा पं. ललितसिंह नामक दो दातारों के नाम उत्कीर्ण हैं।

९. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त स्तम्भ—चौथी ओर। (ख) दो-दो पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, सं. ११११३। (ङ) श्रीसिंह और जसदेव नामक दो दाताओं के नाम अंकित हैं।

१०. (क) जैन मन्दिर, संख्या एक के मण्डप में प्राप्त—चौथी ओर। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, सं. ११११३। (ङ) स्तम्भनिर्माण का वर्णन। इस पर कल्याणसिंह ने अभिलेख उत्कीर्ण कराया।

११. (क) जैन मन्दिर संख्या एक में कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १०९५। (ङ) आर्यिका इन्दुआ द्वारा मूर्ति प्रदान करने का विवरण।

१२. जैन मन्दिर संख्या एक की दीवार का शिलाफलक। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) माधविनी ठकुरानी जसदेवी इन्द्रपई के नाम का उल्लेख है।

१३. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के उत्खनन कार्य में प्राप्त तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) किसी महिला द्वारा प्रणाम।

१४. (क) जैन मन्दिर संख्या दो में विद्यमान बाहुबलि की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) यह गोम्मट की मूर्ति है, ऐसा उल्लेख है।

१५. (क) जैन मन्दिर संख्या दो में विद्यमान चार फ़ुट पाँच इंच ऊँची पद्मासन मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १०५२। (ङ) दाता का नाम उत्कीर्ण है।

१६. (क) जैन मन्दिर संख्या दो में विद्यमान चार फ़ुट आठ इंच ऊँची पद्मासन मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १०२३। (ङ) अस्पष्ट।

१७. (क) जैन मन्दिर संख्या दो के निकट प्राप्त आदिनाथमूर्ति का पादपीठ। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) श्री लोकनन्दिन् के शिष्य पण्डित गुणनन्दिन् द्वारा आदिनाथ की इस मूर्ति की स्थापना कराये जाने का विवरण दिया गया है।

१८. (क) जैन मन्दिर संख्या दो के निकट प्राप्त एक भग्न स्तम्भ। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) जिनेन्द्र भगवान् (तीर्थंकर) की चरणपादुका निर्माण कराने का विवरण।

१९. (क) जैन मन्दिर संख्या दो के निकट प्राप्त उपर्युक्त स्तम्भ—(दूसरी ओर)। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) कीर्त्याचार्य के नाम का उल्लेख है।

२०. (क) जैन मन्दिर संख्या तीन में स्थित सिरहीन कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति (तीन फ़ुट ऊँची)। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) पाहुस के पौत्र एवं जसदेव के पुत्र केशव ने यह मूर्ति स्थापित करायी।

२१. (क) जैन मन्दिर संख्या तीन में स्थित पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति (चार फ़ुट साढ़े आठ इंच ऊँची)। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) केवल (प्र) तिमा शब्द अंकित है।

२२. (क) जैन मन्दिर संख्या तीन में स्थित कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति (२ फ़ुट ६ इंच ऊँची)। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १२०९। (ङ) पण्डित शुभंकर देव, पण्डित लालदेव, आर्यिका धर्मश्री एवं साहुजी के नाम उत्कीर्ण हैं।

२३. (क) जैन मन्दिर संख्या तीन। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) शुभदेवनाथ मुनि का वर्णन है।

२४. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के मण्डप का स्तम्भ। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १२२४। (ङ) भट्टारक साधु की वंशावली दी गयी है।

२५. जैन मन्दिर संख्या चार के मण्डप का दायाँ स्तम्भ। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १२०७। (ङ) आचार्य जयकीर्ति और आर्यिका नवासी के नाम उत्कीर्ण हैं।

२६. (क) जैन मन्दिर संख्या चार की दक्षिणी बहिर्भित्ति में जड़ा, अभिलिखित प्रस्तरफलक। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) शनिवार, अगहन सुदी चतुर्दशी, संवत् १७०९। (ङ) नेमिचन्द्र तथा उनके पूर्वजों का विवरण अंकित है।

२७. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के ऊपर (गुमटी में) एक स्तम्भ (जिसपर चारों ओर एक-एक तीर्थंकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं) के चारों ओर। (ख) दो-दो पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) सर्वतोभद्र प्रतिमा। दातारों के नाम पढ़े नहीं जा सकते हैं।

२८. (क) जैन मन्दिर संख्या चार में स्थित चार फुट डेढ़ इंच ऊँचा प्रस्तरफलक (जिसपर दो कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं)। (ख) एक पंक्ति। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अक्षर टूट गये हैं। अनुमानतः दाताओं के नाम होने चाहिए।

२९. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के गर्भगृह में पश्चिमी भित्ति में जड़ी हुई तीर्थंकर की माता की मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १०३०। (ङ) संवत् १०३० के आगे उत्कीर्ण वर्ण अस्पष्ट हो गये हैं। अनुमानतः दाता का नाम होना चाहिए।

३०. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के गर्भगृह में स्थित (तीन फुट साढ़े आठ इंच ऊँची) पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) आर्यिका इन्दुआ का नाम उत्कीर्ण है।

३१. (क) जैन मन्दिर संख्या चार में दो फुट ११ इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) दाता, विरच (इन्द्र) उत्कीर्ण हैं।

३२. (ख) जैन मन्दिर संख्या चार में ५ फुट ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) आर्यिका गणी का नाम उत्कीर्ण है।

३३. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के मण्डप का स्तम्भ। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) भावनन्दी उत्कीर्ण है।

३४. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के मण्डप का स्तम्भ। (ख) सोलह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १३०७। (ङ) अस्पष्ट हो गया है।

३५. (क) जैन मन्दिर संख्या पाँच के पश्चिमी द्वार की देहरी। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १५००। (ङ) अस्पष्ट हो गया है।

३६. (क) जैन मन्दिर संख्या पाँच के प्रवेश-द्वार के दायें पश्चिमी भित्ति पर। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) मंगलवार, माघ सुदी अष्टमी, संवत् ११२०। (ङ) केवल तिथि उत्कीर्ण है।

३७. (क) जैन मन्दिर संख्या पाँच के गर्भगृह में पूर्वी द्वार के ऊपर जड़ा हुआ प्रस्तरफलक। (ख) चौदह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) सोमवार, भाद्रपद सुदी सप्तमी, वि. संवत् १५०३, सुल्तान महमूद। (ङ) इस मन्दिर के जीर्णोद्धार का विवरण दिया गया है।

३८. (क) जैन मन्दिर संख्या छह में स्तम्भ। (ख) क्रमशः दो और तीन पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।

३९. (क) जैन मन्दिर संख्या छह में तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ)

अज्ञात । (ङ) यह मूर्ति चन्द्रकीर्ति द्वारा अर्पित की गयी थी, इस तथ्य का विवरण दिया गया है ।

४०. (क) जैन मन्दिर संख्या छह में स्तम्भ । (ख) २१ पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) मार्गशीर्ष सुदी पंचमी, संवत् १३८२ । (ङ) अस्पष्ट हो गया है ।

४१. (क) जैन मन्दिर संख्या सात में चरणपादुका । (ख) आठ पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) फाल्गुन सुदी अष्टमी, वि. सं. १६९३ तथा पौष सुदी द्वितीया वि. सं. १६९५, महाराजाधिराज उदयसिंह । (ङ) चरण-पादुकाओं की स्थापना का विवरण दिया गया है ।

४२-४४. (क) जैन मन्दिर संख्या १० में मध्यवर्ती (मूर्तियुक्त) तीन स्तम्भ । (ख) .... (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) आदिनाथ, शान्तिनाथ, महावीर आदि जैन तीर्थंकरों का स्तवन है ।

४५. (क) जैन मन्दिर संख्या ११ की मुख्य मूर्ति (पहली मंजिल के गर्भगृह में स्थापित) । (ख) तीन पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् ११०५ । (ङ) धर्मसिंघ, ललितसिंघ और अजितसिंघ आदि के नाम उत्कीर्ण हैं । अनुमानतः ये मूर्तिसमर्पक होंगे ।

४६. (क) जैन मन्दिर संख्या ११ में शान्तिनाथ की मूर्ति । (ख) एक पंक्ति । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) इस मूर्ति की स्थापना भुवनसिंह द्वारा की गयी ।

४७-४८. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के गर्भगृह में उत्तरी एवं दक्षिणी भित्ति में देवकुलिकाएँ । (ख) एक-एक पंक्ति । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् १२१० । (ङ) महासामन्त श्री उदयपाल देव के द्वारा निर्मापित और भेंट की गयी एक मूर्ति की यहाँ स्थापना का विवरण ।

४९. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में एक फ़ुट चार इंच ऊँची पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति । (ख) दो पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् ११०५ । (ङ) अस्पष्ट ।

५०. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में एक फ़ुट साढ़े तीन इंच ऊँची पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति । (ख) एक पंक्ति । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् ११३९ । (ङ) यह मूर्ति माधवचन्द्र द्वारा स्थापित की गयी ।

५१. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में अजितनाथ की चार फ़ुट साढ़े चार इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति । (ख) दो पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) सोमवार, आषाढ़ सुदी ५, सं. ११७६ । (ङ) सोमती ने इस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी ।

५२. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में आदिनाथ की दो फ़ुट छह इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति । (ख) चार पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् १२०१ । (ङ) आर्यिका मदन जिन्होंने इस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी ।

५३. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के महामण्डप में पृथक् रखा हुआ स्तम्भ । (ख) छह पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् १३८४ (?) । (ङ) अस्पष्ट ।

५४. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के महामण्डप में पश्चिमी बहिर्भित्ति (जो अब हटा दी गयी है) में से प्राप्त अभिलेख । (ख) चार पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् १३९४ । (ङ) अस्पष्ट ।

५५. (क) उक्त बहिर्भित्ति से प्राप्त किन्तु सम्प्रति जैन धर्मशाला में सुरक्षित । (ख) तेरह पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) गुरुवार, वैशाख वदी पंचमी, सं. १४९३ । (ङ) शान्तिनाथ मन्दिर का मण्डप संघश्री के सहयोग से पति-भुवराज द्वारा बनवाये जाने का विवरण ।

५६. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के महामण्डप में छह फ़ुट ढाई इंच ऊँचा स्तम्भ । (ख) नौ पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) मार्गशीर्ष बदी ११, संवत् १५९१ । (ङ) अस्पष्ट ।

५७. (क) अठारह भाषा और लिपियों के लिए प्रसिद्ध 'ज्ञानशिला' नामक अभिलेख । (ख) नौ पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) इसकी सभी लिपियाँ अब तक नहीं पढ़ी जा सकी हैं ।

५८. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के महामण्डप का स्तम्भ । (ख) तीन पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) चक्रेश्वरी की मूर्ति तथा उसके मूल प्रतिष्ठापक श्री कमलदेवाचार्य एवं श्रीदेव का वर्णन ।

५९. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में चन्द्रप्रभ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) मूर्ति प्रतिष्ठात्री सोमती की बहन बनिया।

६०. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में सम्भवनाथ की चार फ़ुट दो इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) मूर्ति प्रतिष्ठापक राजपाल।

६१. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में अजितनाथ की चार फ़ुट ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) मूर्ति प्रतिष्ठापक मठपति अख।

६२-८१. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के प्रदक्षिणापथ की बहिर्भित्तियों में जड़ी हुई यक्षी मूर्तियाँ। (ख) एक-एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) यक्षी मूर्तियों के ऊपर उनके नाम उत्कीर्ण हैं।

८२. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में ऋषभनाथ की ४ फ़ुट ६ इंच ऊँची पद्मासन मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १२१०। (ङ) अस्पष्ट।

८३. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में चतुर्भुजी देवी। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।

८४. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के प्रदक्षिणापथ में ७ फ़ुट ३ इंच ऊँची पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।

८५. (क) उक्त मन्दिर के प्रदक्षिणापथ में स्थित १० फ़ुट ऊँची तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) चार पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) माधवदेवचन्द्र का नाम अंकित है।

८६. (क) उक्त मन्दिर के प्रदक्षिणापथ में स्थित पार्श्वनाथ की १० फ़ुट २ इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) छह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रतिष्ठापक युगल भ्राता गंगक और शिवदेव।

८७. (क) उक्त मन्दिर के महामण्डप में आठ फ़ुट ऊँची पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) क्रमशः तीन एवं दो पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संकृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।

८८. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के अर्धमण्डप का दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत देवनागरी। (घ) गुरुवार, अश्वयुज शुक्ल चतुर्दशी, वि. सं. ९१९, भोजदेव (कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारवंशी शासक)। (ङ) इस स्तम्भ की स्थापना श्री कमलदेवाचार्य के शिष्य श्रीदेव ने करायी थी। उस समय यह स्थान गुर्जर प्रतिहारवंशी शासक भोजदेव की राज्यसीमा में था और यहाँ उसके महासामन्त विष्णुराम पचिन्द का शासन था तथा इस स्थान का नाम उस समय लुअच्छगिरि था। अभिलेख पाठ के लिए देखें, परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक एक।

८९. (क) जैन मन्दिर संख्या १३ में तीर्थंकर मूर्ति का सिंहासन। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस मूर्ति के समर्पण का विवरण।

९०. (क) जैन मन्दिर सं. १४ का दायाँ प्रवेश-द्वार का सिरदल। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) श्री नागसेन आचार्य द्वारा इस द्वार के दान कराने का विवरण।

९१. (क) जैन मन्दिर संख्या १४ के द्वार के बाहर। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) दाता कल्लण।

९२. (क) जैन मन्दिर संख्या १५ में चार फ़ीट एक इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) मूर्ति समर्पण का विवरण।

९३. (क) जैन मन्दिर संख्या १६ के अर्धमण्डप का दायाँ स्तम्भ। (ख) चार अभिलेख। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) चार विभिन्न भक्तों द्वारा इस स्तम्भ के निमित्त किये गये दान का विवरण।

९४. (क) उक्त मन्दिर के अर्धमण्डप का बायाँ स्तम्भ। (ख) पाँच अभिलेख। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १२०८। (ङ) विभिन्न भक्तों द्वारा इस स्तम्भ के निमित्त दिये गये दान का विवरण।

९५. (क) उक्त मन्दिर के गर्भगृह का स्तम्भ। (ख) एक पंक्ति। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी (घ) संवत्

१२२० । (ङ) पण्डित माधवनन्दी की वन्दना का विवरण ।

९६. (क) उक्त मन्दिर के गर्भगृह के स्तम्भ पर उत्कीर्ण पद्मासन मूर्ति । (ख) दो पंक्तियाँ । (ग) हिन्दी, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) अस्पष्ट ।

९७. (क) उक्त मन्दिर के गर्भगृह का स्तम्भ । (ख) आठ पंक्तियाँ । (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी । (घ) बुधवार, माघ सुदी अष्टमी, संवत् १४९५ । (ङ) अस्पष्ट ।

९८. (क) जैन मन्दिर संख्या १७ में स्थित चार फ़ीट ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति । (ख) एक पंक्ति । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) प्रदाता सदिया ।

९९. (क) जैन मन्दिर संख्या १८ के समक्ष (चबूतरे पर) अवस्थित मानस्तम्भ । (ख) तीन पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् ११२१, राज्यपाल । (ङ) श्री यशस्कीर्त्याचार्य ने राज्यपाल मठ (मं. सं. १८) के समक्ष दो मानस्तम्भ स्थापित कराये । यह राज्यपाल मठ मन्दिर (सं. १८ का प्राचीन नाम होना चाहिए) ।

१००. (क) जैन मन्दिर संख्या १९ में विद्यमान चक्रेश्वरी यक्षी की मूर्ति । (ख) एक पंक्ति । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) इस मूर्ति का दान राज्यपाल की पत्नी ने किया ।

१०१. (क) जैन मन्दिर सं. १६ के समीप प्राप्त अभिलिखित स्तम्भ । (ख) बारह पंक्तियाँ, अपूर्ण । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) आचार्य माघनन्दी और उनकी प्रभावोत्पादक व्याख्यान शैली का वर्णन किया गया ।

१०२. (क) जैन मन्दिर सं. १९ में स्थित देवी मूर्ति । (ख) छह पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् ११—(यह अभिलेख १२वीं शती का होना चाहिए, इसमें ११ के परवर्ती दो वर्ण टूट गये हैं) । (ङ) इस देवी मूर्ति का निर्माण त्रिभुवनकीर्ति की प्रेरणा से हुआ ।

१०३. (क) जैन मन्दिर संख्या १९ में स्थित सरस्वती की मूर्ति । (ख) आठ पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) यह मूर्ति भी त्रिभुवनकीर्ति की प्रेरणा से निर्मित हुई ।

१०४. (क) जैन मन्दिर संख्या १९ में स्थित पद्मावती यक्षी की मूर्ति । (ख) छह पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् ११२६ । (ङ) पद्मावती यक्षी की यह मूर्ति अमोदिनी के द्रव्य से प्रतिष्ठित हुई । इस अभिलेख में उत्कीर्ण-कर्ता ने अपना नाम भी अंकित किया है—पं. गोपाल ।

१०५. (क) जैन मन्दिर संख्या २० का प्रवेश-द्वार । (ख) तीन पंक्तियाँ (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) अत्यन्त टूटा-फूटा ।

१०६. (क) जैन मन्दिर सं. २० में स्थित शान्तिनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति । (ख) एक पंक्ति । (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) प्रदाता—त्रिभुवनकीर्ति ।

१०७. (क) जैन मन्दिर सं. २० में चार फ़ीट ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति । (ख) एक पंक्ति । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् ११३५ । (ङ) प्रदात्री आर्यिका लवणश्री ।

१०८. (क) जैन मन्दिर संख्या २० में पाँच फ़ीट नौ इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति । (ख) दो पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) अस्पष्ट ।

१०९. (क) उक्त मन्दिर में एक तीर्थंकर मूर्ति का सिंहासन । (ख) एक पंक्ति । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) इस तीर्थंकर-मूर्ति की प्रतिष्ठा लोकनन्दी के शिष्य द्वारा हुई ।

११०. (क) उक्त मन्दिर में चार फ़ीट दो इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति । (ख) एक पंक्ति । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) प्रदाता मौनासाहु ।

१११. (क) उक्त मन्दिर में चार फ़ीट छह इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति । (ख) तीन पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) संवत् ११३६ । (ङ) सरजासौधरा के पुत्र द्वारा इस मूर्ति के समर्पण का विवरण ।

११२. (क) जैन मन्दिर संख्या २१ के मण्डप की भित्ति । (ख) दो पंक्तियाँ । (ग) संस्कृत, देवनागरी । (घ) अज्ञात । (ङ) श्री गुणनन्दी आदि का आदरपूर्वक उल्लेख है ।

११३. (क) उक्त मन्दिर में चार फ़ीट ग्यारह इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट है।

११४. (क) उक्त मन्दिर में चन्द्रप्रभ स्वामी की पद्मासन मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् ११३६। (ङ) आ. लोकनन्दी के शिष्य गुणनन्दी द्वारा यह मूर्ति प्रतिष्ठित हुई।

११५. (क) उक्त मन्दिर में पाँच फ़ीट-साढ़े चार फ़ीट ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो-दो पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) आ. लोकनन्दी के शिष्य गुणनन्दी द्वारा यह मूर्ति प्रतिष्ठित हुई।

११६. (क) उक्त मन्दिर के मण्डप की भित्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) लोकनन्दी के शिष्य गुणनन्दी द्वारा इस भित्ति के पुनरुद्धार का संकेत।

११७. (क) जैन मन्दिर संख्या २१ में चार फ़ीट साढ़े सात इंच ऊँची मल्लिनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदाता प्रभाकर।

११८. (क) जैन मन्दिर संख्या २१ में चार फ़ीट दस इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदाता रुद्रवाल।

११९. (क) उक्त मन्दिर में चन्द्रप्रभ की पद्मासन मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदाता गुणनन्दी।

१२०. (क) उक्त मन्दिर में सम्भवनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदात्री लालसा।

१२१. (क) जैन मन्दिर संख्या २२ के प्रवेशद्वार का सिरदल। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) 'श्री मालव नागत्रात' केवल इतना अभिलेख उत्कीर्ण है।

१२२. (क) जैन मन्दिर संख्या २८ में स्थित नौ फ़ीट दो इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) चार पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस मूर्ति का निर्माण चतुर्विध संघ के लिए किया गया।

१२३. (क) जैन मन्दिर संख्या २८ की पश्चिमी बहिर्भित्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) आषाढ़ बदी त्रयोदशी, संवत् १४९६। (ङ) केवल तिथि उत्कीर्ण है।

१२४. (क) जैन मन्दिर संख्या ३० में स्थित चार फ़ीट पाँच इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति का सिंहासन। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) सहस्रकीर्ति का उल्लेख है।

१२५. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) पाँच पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इसमें उल्लेख है कि कुछ पण्डितों ने सामूहिक रूप से एक दानशाला का निर्माण कराया था।

१२६. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इसमें उल्लेख है कि एक गोष्ठी द्वारा दानशाला का निर्माण कराया गया था।

१२७. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) एक गोष्ठी का वर्णन किया गया है।

१२८. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) श्री नेमिदेव पण्डित का वर्णन किया गया है।

१२९. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) एक दानशाला का वर्णन है।

१३०. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में स्थित तीर्थंकर मूर्ति। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) जैन शासन से प्रभावित किसी नागेन्द्र आदि का वर्णन है। अधिकांश अक्षर टूट गये हैं।

१३१. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में स्थित तीर्थंकर मूर्ति। (ख) पाँच पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी।

(घ) अज्ञात। (ङ) आचार्य माधवदेव और उनके शिष्यों का उल्लेख है। बीच-बीच में इस अभिलेख के अधिकांश अक्षर टूट गये हैं। इसके नीचेवाली पंक्तियों में उल्लेख है कि 'जिनबिम्ब कारितम् शुभम्।'

१३२. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में स्थित तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस अभिलेख के अक्षर सुरक्षित होने पर भी अपाठ्य हो गये हैं। केवल प्रारम्भिक शब्द 'सिद्धंश्री' पढ़ने में आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कुछ वर्ण बाद में उत्कीर्ण किये गये हैं।

१३३. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ में स्थित तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) उल्लेख है कि इस मूर्ति का निर्माण इत्ताम के पुत्र गणदेव ने कराया।

१३४. (क) जैन मन्दिर संख्या १२ के गर्भगृह के प्रवेशद्वार का दायाँ पक्ष। (ख) चार पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् १०५१। (ङ) संवत् १०५१ में इस प्रवेश-द्वार के नवीनीकरण का विवरण दिया है।

१३५. (क) जैन चहारदीवारी पश्चिमी भित्ति (भीतरी ओर) में प्रवेश-द्वार के दायें जड़ी हुई तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) ब्रह्मचारी नवल का प्रणाम उत्कीर्ण है।

१३६. जैन चहारदीवारी पश्चिमी भित्ति (भीतरी ओर) में प्रवेश-द्वार के दायें जड़ी हुई तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) जिनमती का प्रणाम अंकित है।

१३७. (क) जैन चहारदीवारी पश्चिमी भित्ति (भीतरी ओर) में प्रवेश-द्वार के दायें जड़ी हुई तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) सालसा का प्रणाम अंकित है।

१३८. (क) एक पत्थर की बावड़ी के निकट प्राप्त स्तम्भ का खण्डित अंश। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) शनिवार, फाल्गुन वदी दशमी, सं. १६३१। (ङ) कुछ पण्डितों का वर्णन है।

परिशिष्ट दो

अभिलेख–पाठ

अभिलेख क्रमांक एक

(विक्रम सं. ९१९, गुर्जर प्रतिहार शासक भोजदेव के समय का, मं. संख्या १२ के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण) ।

१. (ओं) परमभट्टारक । महाराजाधिराज परमेश्वर श्री
२. भोजदेव महीवर्द्धमान-कल्याण विजय राजे ।
३. तत्प्रदत्त पंच महाशब्द-महासामन्त श्री विष्णु ।
४. र+म परिभुज्य या (के) लुअच्छगिरे श्री शान्त्यायत (न)
५. (स) निधे श्री कमल देवाचार्य शिष्येण श्री देवेन कारा–
६. पितं इदं स्तम्भ ।। संवत् ९१९ अस्व (श्व) युज-शुक्ल
७. पक्ष-चतुर्दश्यां बृहस्पति दिनेन उत्तर भाद्रप-
८. दा नक्षत्रे इदं स्तम्भं समाप्तमिति ।।०।।

अभिलेख क्रमांक दो

[विक्रम संवत् ११५४, राजघाटी में चन्देल शासक कीर्तिवर्मा के मन्त्री द्वारा उत्कीर्ण कराया गया अभिलेख ।]

१. ॐ । नमः शिवाय । चान्देल्लवंशकुमुदेन्दु विशाल कीर्त्तिः, ख्यातो बभूव नृप संघनतांघ्रिपद्मः ।
२. विद्याधरो नरपतिः कमला-निवासो, जातस्ततो विजयपाल नृपो नृपेन्द्रः ।। (१) तस्माद् धर्म्मपरश्रीमा ...
३. न् कीर्तिवर्म्म नृपोऽभवत् । यस्य कीर्तिसुधाशुभ्रे त्रैलोक्यं सौधतामगात् ।। (२)
अगदं नूतनं विष्णुमाविर्भूतमवाप्स्य....
४. मम् । नृपाब्धितस्समाकृष्टा श्री रस्थैर्यममार्जयत् ।। (३)
राजोडुमध्यगत चन्द्रनिभस्य यस्य नूनं युधिष्ठिर यदा शिवराम च....
५. न्द्रः । एते प्रसन्नगुणरत्ननिधौ निविष्टा, यत्तद् गुण प्रकर रत्नमये शरीरे ।। (४)
तदीयामात्य-मन्त्रीन्द्रो रमणीपूर्व विनिर्ग-
६. तः । वत्सराजेति विख्यातः श्रीमान् महीधरात्मजः ।। (५)
ख्यातो बभूव किल मन्त्रिपदैकमन्त्रे वाचस्पति स्त....
७. दिह मन्त्रगुणैं रुमास्याम् ।। योऽयं समस्तमपि मण्डलमाशु
शत्रोराच्छिद्य कीर्तिगिरि-दुर्गमिदं व्यधत्त । (६) ।
८. श्रीवत्सराज घाट्टोऽयं नूनं तेनात्र कारितः ।
ब्रह्माण्डमुज्जवलं कीर्तिमारोहमिवु-मात्मनः ।
सम्वत् ११५४ चैत्रवदि २ बुधौ ।

अभिलेख क्रमांक तीन

(उपाध्याय मूर्ति पर उत्कीर्ण, विक्रम संवत् १३३३

सं. १३३३ ज्येष्ठवदि ११ रवौ श्री नन्दिसंघ बलात्कारगणे आचार्यश्री कनकचन्द्रदेव तस्य शिष्य लक्ष्मीचन्द्र देव तस्य शिष्य हेमचन्द्र देव।

रामचन्द्र तस्य माता सागरसिरि तस्य चेली सालसिरि। उदयसिरि। छात्रनामदेव। प्रणमति नित्यं॥

सरधानमत सुत हुसौ प्रणमति नित्यं॥

अभिलेख क्रमांक चार

(दिल्ली संग्रहालय में सुरक्षित, विक्रम संवत् १४८१)

१. वृषभ जयत संश्रीमद्वर्द्धमानमहोदये विपुलं विलसत्कान्तौ कान्ताख्येऽमृतसागरे। सुगतसुमतिमन्नैणांकाकलंक सकौमुदं वितनुते सतां शान्त्ये शान्तिश्रियं सुमिर्ति जयं॥१॥ + + + + र्भुवः श्रौते नश्वरानुदयाय ते। तच्चिद्रुद्यज्ज्वलज्ज्योतिरार्हतं श्रेयसे श्रये॥२॥ पायादपायात् सदयः सदा नः सदा शिवो यद्विशदो हितासो वंचच्चिदा–१

२. नन्दविशुद्धचन्द्रद्युतो चकोरं त्यपि (?) शुद्धहंसाः॥३॥ श्रीशंकरं श्रीरमणाभिरामं + + + सल्लक्ष्मणमर्हणार्हं। जिनेन्द्रनन्दं धनदं सुमित्रमजातशत्रुं विभजे चकोरं॥४॥ स्ववाममायामयमप्यमायं वामं लसल्लक्ष्मणमर्हणार्हं। सीतेशसुग्रीवमहार्हणार्हं वन्दे–२

३. सहर्षं सहसैकशीर्षं॥५॥ सशल्यदुःशासननाशहेतुमजातशत्रुं सहदेववर्य्यं। वन्दे विशालार्जुन सद्य + + + नन्दत्सतां कर्णकुलं मृगांकं॥६॥ वामयैघाष्टकं(?)स्वेन कर्म्माधाक्षीद् यरक्षरं(?)। साद्योर्द्धाद्धि दुरेखं तम्ह्लीयं विलयश्रियं॥७॥ विगर्ज्जन्नागरजाकं–३

४. मजितं तक्षकं नुमः। दुर्घटं सुघटद्वर्द्धमानजैनमहोत्सवं॥८॥ वदनपरगिरीशो....वित्रिदशन....वैत्रवत्याकलैर्यत्। प्रभवतु स मृगांकोप्यस्तदोषोऽकलंकः। कुवलयसुखहेतुर्नः श्रिये शान्तिसोमः॥९॥ योदीदहच्च तिलकेक्षण वह्निनेह कामं–४

५. अमीमरदरं जनकं तदीयं। शक्त्यान्वितस्त्रिनयनोप्यपवामवामः शान्तीश्वरस्त्रिजगतां स शिवाय.... पदपद्मयुग्म....छद्म उपास्महे तदहं मुदा यदमर्त्यमर्त्यभुजंगमनम्रमौलिकुलास्मजित। विदलत्तमालसमुल्लसत्सुनखेन्दुमण्डसमण्डलीविगलांशुभिर्भवश्री–५

६. मुषः शशिनोऽर्हतो भवसंभवे॥११ क्षीरकर्पूरनीहार-हारहीरहरावरां कुन्देन्दुकुमु....क्षीरसमुद्रसान्द्र विलसत्कल्लोलमालोज्ज्वलां श्रीसर्व्वज्ञ सुधांशुमण्डलमिलत्स्वर्लोककल्लोलिनीं। विद्रावन् निजभक्तचेतसि समुन्मीलत्तमोपद्रवां वन्दे–

७. जाड्यभिदे मुदे च भगवद्वाणीं च सत्सम्पदे॥१ श्रीमूल-लक्ष्म्या नृपनन्दिसंघे गच्छेपतुच्छे मदसारदाख्ये। क्षणे बलात्कारगणे गरिष्ठे श्रीकुं....जिनेन्द्रचन्द्रागमदुर्गमार्ग्गो यस्योडुपं त्यत्र सतां हि वाचः। अद्याप्युदंचद्यशसामजस्रबन्धाश्च स धर्म्मचन्द्रः॥२ यस्याशागजकर्णकैरववना–७

८. नन्दैकसत्कौमुदीकीर्तिर्नागनरामरेन्द्रभुवने जेगीयतेऽहर्निशं। धर्म्मेन्दुः सकलः कलंकविकलः स स्याच्छुधांशुश्रिये श्रीमूल....विलसल्ल....दये॥३ धर्म्मचन्द्रमुनीन्द्रस्य पट्टोत्कृष्टोदयाचले। यस्योदयोऽ भवत्तस्य तमस्तोमापनोदिनः॥४ रत्नकीर्त्तेर्लसन्मूर्त्तेस्तिग्मांशोः क–८

९. मलोदये। सतामप्यपपंकानां तपसां स्युर्यशोंऽशवः॥५ अद्याप्युच्चैर्जजृम्भे चरणचयचिलसम्मदम्भाद् यदीया ज्योत्स्नेवानुष्णरश्मेः क्षरदमृतमयी....। सस्या....समिनां पुण्यपुण्योपदेष्टा सृष्टा सत्प्रतिष्ठासु च जिनशशिनो रत्नकीर्ति प्रशस्त्यै॥२ रत्नकीर्तिपदाम्भोजकमलालंकृतासने। ये नौधद्वाग्वि–९

१०. लासेन भारती भूषणायितं॥१ गर्ज्जद्दुर्वादिवृन्दाम्बुददलनविधौ योऽभवत्तीव्रवातस्त्वैकान्तध्वान्तभानुः कुवलयसुखकृद् यस्त्वनेकान्त....द्वान्तांकोकलंक....सकलकलः शंकरो + + वृत्तः स्याद्वृद्धये मूलसंघामलकमलनिधौ श्री प्रभाचन्द्रदेवः॥१ पदे ततो नमदशेषमहीशभाललग्नानि यत्क्रमरजस्तिलकान्यभूवन्–१०

११. कल्याणकारिकमलाकुचकेलिदानि पापापहानि समभूदिह पद्मनन्दी ॥१ कः सरीसर्ति साम्यत्वं सन्निधाव-ब्जनन्दिनः । न....न सम्ममे यस्य स....॥२ के के पुराणसारीव्यं शिष्यानाकर्ण्य कर्णयोः । श्रीपद्मतस्विनः प्रापुः सस्मितां धर्म्मदेशनां ॥३ प्रेम्णा कज्जलितं विशच्छलमितं चेतोमुवा वर्ति....११

१२. तं रागाद्यैः स्मयदूषितैः परमतैर्ध्वस्यत्तमस्तोमितं । भावैः प्रस्फुटितं नयैर्विरचितं धर्म्मैः समुद्योतितं सत्पाबा-म्बुजनन्दिदीपतपसि प्राग्जैनधर्म्मालिये ॥४ से....क + चलति, सद्वंसत्यनुष्णा द्युतिः श्रीराम्भोध्यतिचन्द्रमस्यहरहः स्पर्द्धन्ति हन्तीं क्षति । श्रीमानम्बुजनन्दिलस्त्रिभुवने जेगीयमाना न यै-१२

१३. वर्धित्सद्यशसा न केन सुनटी कीर्त्तिर्नरीनर्त्यहो ॥५ ज्ञानार्णवः समयसारगभीरशब्दसल्लक्षणः प्रणवलीनलयः प्रमाणः । सि—भुवनोपकृत्यै....॥६ इन्द्रोपेन्द्रफणीन्द्रगीष्पतिमति यः कोऽपि धत्ते पुमान् मन्ये पंकजनन्दिनो गणगुणान् वक्तुं न सोपीश ते । संसारार्णवतीर्ण-१३

१४. यामलधिया सन्नौकया सन्मुनेर्निष्कल्लोलचिदम्बुधावचलया पद्मायितं लीलया ॥२ श्रीपद्मनन्दिसुगुरोः पद-पद्मप.......धर्मोपलक्षितदिशा + + + + मारमनोभिरम्यः प्रोद्भेद्य कौमुदभरं शुभचन्द्रदेवः ॥१ अथ संवत्सरेस्मिन् नृपविक्रमादित्यगताब्द १४८१ शा-१४

१५. के श्रीशालिवाहानाम् १३४६ वैशाखमासशुक्लपक्षीय पूर्णमास्यां गुरुवासरे । स्वातिनः(न)क्षत्रे । सिंह-लग्नोदये ॥ अतिविक्र + + र्य्येब्दे चन्द्राद्रधब्धीन्दु........वैशाखे पूर्णराकायां........मृगयोदये ॥....साक्रष्टकृपाणपाणिविलसत्तीव्र-प्रतापानलज्वालाजालसमाकुलीकृतगजाधीशा-१५

१६ धरीशैणपे । श्रीमान् मालवपालकैशकनृपे गौरीकुलोद्योतके निःक्रान्ते विजयाय मण्डपपुराच्छ्रीसाहि आलम्भके ॥१........सुमण्डलमण्डमानाखण्डलबालकुलमण्डमपी + + न्ये । संनिर्म्ममे शिवशिरोमणिवन्मनोज्ञं सद्बोधितः सुविधिना सुविधिः सुबोधः ॥१ सोऽभूत्तस्मिन् त्रिभुवनपालो भुवने-१६

१७. लसद्यशः कलशः योऽलं त्रिभुवनलक्ष्म्या लेभे गणगुणं गणा + + रणं ॥२ निर्दम्भः स्तम्भगर्जद् गजसकलकला + + + + लांकाकलंक........विपुलयशसो यस्य चित्रं पवित्रं । तस्य श्रीपुण्यलक्ष्याखिलगुणनिलयो धीरधीरो गभीरः पुत्रो गोत्रामप + पममहिमनिधिर्धीरधीः साधुसाधुः ॥३ + + लवालकीर्त्तिलता बि-१७

१८. तानधारावरः सुसमयोप्यतमस्ककल्यः । सन्तापहारि........कापसार्यभव....वनिवि + देवः ॥ विद्युल्लतेव विमला........पतिव्रतांका सौभाग्यभूधरसुता नररत्नगर्भा तस्याम्बिका च वनिता जनिताम्बिकेव ॥५ अभूदसमसौम्योपि तयोपि तयोर्वार्गिर्थयोरिव होलीसुनन्दनः श्रीमान्-१८

१९. रसोत्साहाभिनन्दनः ॥६ वर्द्धमानार्थिनामर्थे वर्द्धमानान् मनोरथान् सार्थयन्नर्थतः श्रीमान् होली कल्पां-घ्रिपायते ॥७ सन्मूलः सदलोल्लसत्........प्रशाखोच्छ्रिखः श्लाघ्य स्वच्छ कुलैः फलैरविकलः सुच्छायकायश्रियः । सन्तापेऽपि क्षपाकरः कुवलये श्रीहोलिकल्पांघ्रिपो जीयात्तर्ज्जितदुर्ज्जनोऽर्जुनय-१९

२०. शोबासोऽर्कचन्द्रार्थिभिः (?) ।८ अविकल्पकल्पलतया सुकान्तया कान्तया कान्तः । असकृत् सुकृतसमुन्नत-धाराधरनिर्भरासारैः ॥९ यः कान्ता + + लत........कमलाख्ययाधनाख्यं धनदं सुधनंजयं साधुः ॥१० वधूधनश्रीफलमालयालं गल्हैशवंशानुजनन्दनैश्च सुवर्णरुक्माहिरमा-२०

२१. नरेभिः सरत्नभूगजरठकुराम्यैः ॥११ गाम्भीर्य्यजलदासयैं विचलतां देवाचलो मार्द्दवं नृत्यत्कार्त्तिककेकिकाय विगलत्प + + तं + दयः........सदाश्रिततया सव्वे सहत्वं धरा यस्मादेव मिता ददुः स जयतात् श्रीहोलिसंघाधिपः ।१२ विस्मयन्ते परित्राणि........होलिसाधुना । य-२१

२२. दाशोऽक्कृतदुग्धाब्धो वृषः कौमुदमेधते ॥१३ यद्यशो विष्णुनाप्युच्चैः कलावप्यकलंकिना । + + स मेशयोपत्वं विश्वविश्वमुपाददे ॥१४ + दैव + ति सुजनवांछ........णां । अनुभवति वचांसि गुरुविश्वं विस्मयति होलिकृती ॥१५ गुणवानपि धर्म्मात्मा वक्रः सद्धर्म्मजोपि यः । यद + सोमदो हो-२२

२३–ली ऋजुपन्थाप्यलोभभाक् ॥१६ रोदसोंबरसत्कुवलासंपुराद् यद्यशोलसत् मुक्ता मुक्त्यंकता मुक्ताहारं होल्या रत्नोर्हतात् ॥१७ सत्केतकीकु........काशसंकास....यशसात्ममयीकृताद्या: । सोल्लाससारसनिवासिमथा महान्तो होलीश्वरेऽस्तु सधनंजयसार्थवाह: ॥१८ नाको–२३

२४. सि त्वमहं वृषस्तनुतनु: किं पुत्रपित्रो: शुचा सानन्दं वद सद्य किं मृगयसे भूयोवतारस्तयो: । त + + क्व कलो वदाशु नृकवे किं वर्द्धमानेऽक्षये...मद्रूपो....होलि सं. + + रे ॥१९ श्रीहोलीकमलाकरे कुवलयं सत्कीर्त्तिकंजायते श्रेयेनालसि सद्द्लीयति गर्जेदिक्षु प्रकाशीयति । मेरौ चित्रम–२४

२५. जात्र चित्रमपि तन्मित्रास्तचिन्तापमृद् यन्नालीयति सन्मरालति कलंकी यत्र दोषाकर: ॥२० चन्द्रो निहूसिता + तिप्रविकशद्........जम्बालति । सिद्दीपत्यखिलाचलाचलविभुमं + + नन्तमितस्युद्यद्धोलियशोम्बुधौ सम........धम्म-कनौकेत्यहो ॥

२६. २१ तत्रप्यत्रेको हेतुस्तद् यथा तथा हि ॥ विविक्त: शक्तिमान् होली विविद्यवचोक्तिमानहं । इत्यावयोर्महान् स्नेह: सततं ववृधे बुधा: ॥२३ येनाकारि मनोहारि........पुरन्दर........श्रीलजिनालयं ॥२३ सतां सन्तोषपोषाय श्रेयसे चात्मन: श्रिये । सुखाय विमुखाक्षाणां चेह स्नेहाय पश्यतां ॥२४ खण्डे भू + त + शो–२६

२७. तंसोभूत् साधुदेहाख्य: । वेदश्रिया स लेभेसुसृतं श्रीवल्लदेवाख्यं ॥ स वल्लणश्रीरमणोपि सूनुं विचक्षणं लक्षणलक्षितांग । लेभे नृपं लक्षणपालदेवं देवा........श्रिया श्रीमत्क्षेमराजाभिधांगजं ॥ धर्म्मार्थकामसंसिद्धिसाधकं भाग्यतोऽलभत् ॥३ द्वितीयमद्वितीयोद्यतप्रतापातापि–२७

२८. तद्विषं । + + भाग्धुराधूर्य्यवर्य्यं माधुर्य्यसागरं ॥४ नाम्ना देवरतिं सदोदयमतं सन्मर्त्यलक्ष्मीपतिं धर्म्मध्यानगतिं निरस्तकुमतिं यो नित्यमेवाददे । यश्चक्रे जिन + र्च्चनेऽ चलरतिं स..... ..साधुजनेवि........॥५ श्रेष्ठ: पद्मश्रिया श्रेष्ठं स्ववंशाम्भोजभास्करं सूनुं नयनसिंघाख्य लेभे रत्यामरावरं १ ॥६ नृरत्नं रत्ननामानम्–२८

२९. यत्नाम्यस्तपादवं ? सुतमाप्य समस्तास्तकुमतिं स दिवं ययो ॥७ अलभन्मल्हणदेगनयारम्भाभयांगजं चाथ । बालकलेशमिवालंकलया कलया........पतिसंघनाथो........दिल्हणदेव्याभिनन्दितनन्दन: । अथ पद्मसिंहनन्दनमुख्यैरपि नन्दतादनिशं ॥९॥ प्रतिष्ठयाति गारिष्ठ्यं यन्नामादेव देहिनां । तस्याब्जनन्दि–२९

३०. नो मूर्त्ते: क: प्रतिष्ठाघटामटेत् ॥ १ शुभसोमाज्ञया सोसौ तथापि गुणकीर्त्तिना । वर्द्धमानाभिधै: श्रीमद्वरपत्यादिभिर्बुधै: ॥२ श्रीपद्मनन्दि........दमवसन्तमहात्मने मूर्त्योर्व्विधाय विधिनाभिमतां प्रतिष्ठामेतां हि नन्दनसुनन्दन मन्दनाद्यै: ॥३ संघेश्वर: कुवलये मलहोलिचन्द्र: संघेश–३०

३१. देवपतिवाक्पतिनेन्द्रमुद्र: । सन्मंगलै: सकलबन्धुजनो + वृन्दैर्वर्षत् सहर्षमुपकारसुधाश्रुधारां ॥४ परोपकर्ता यो यद् यशा........श्रीमान् सततधर्म्मात्मवृष्टिं यो दानवारिणा । धत्ते स सत्यधर्म्मेशो जीयाद्धोलो नरोत्तम: ॥२ मोदत् कुवलयं यस्य यशस्तिलकमुत्तमं । दि–३१

३२. दीपे उपमं सोम: स जीयाद्धोलिशंकर: ॥३ प्रात: कालीयरागदलदखिलतमोरेर्गुरैपादपद्महृत्पद्मोल्लासिलक्ष्मास्तरुण........चंचच्चान्द्रीयश्राकलंक सकलकुवलये साधुतां होलिसाधो: ॥४ अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे हाटबुधांगजा: बभू–३२

३३. वु: साधव: क्षीमाहरगंगामराभिधा: ॥५ तेषामाद्यात्मजस्तत्र वील्होभूत्पल्हिकांगज हरुरत्नश्रियो: सुतुस्ततो भूतल्हण: सुदृक् ॥२........गनया तत: ॥३ समजनि वसन्तकीर्त्याय्यो वोल्हणवर्द्धमानजन्मा मृगयन् पाताजयितश्रीक्षाल्हीचार्य्याकिरो हिमासबुध: ॥३३

३४. प्रशस्तिमुद्यद्वृषमार्हचन्द्रसान्द्रार्थतीर्थो + + धा चकोर: । सतां मुदे सत्कविवर्द्धमनो जिनं समाराध्य विबद्धमानं ॥५ श्रीवर्द्धमानविबुधाननपद्मचंचत् पीयू........धारां पीत्वा द्रुतां श्रुतियुगांजलिभिस्त्वमीमां नन्दस्तु संसुमनस: शुचिचंचरीका: ॥६॥ शुभमस्तु सतां सदा ॥........सुतश्चिरं जीयात् । रिपुनृपसिन्धुसवा........विभू........पस्माद्धि बालकम: ॥१ श्रीसाह्यालम्भाधिपतनुजे रिभूपमौलिमाणिके । गर्जति गर्जनस्थाने म + + गौरीकुलं कुवलयेस्मिन्........

अभिलेख क्रमांक पाँच

(विक्रम संवत् १४९३, सम्प्रति जैन धर्मशाला में सुरक्षित)

ॐ। आत्मार्थं श्रय मुंच मोहगगनं मित्रं विवेकं कुरु।
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनः।
धर्मध्यान सुधासमुद्रकुहरे कृत्वाऽवगाहं परम्।
पश्यानन्त सुखस्वभावकलितं मुक्तिं मुखाम्भोरुहं ॥१॥

आयुस्त्वं न्यन्तु तुष्टिं विदधतु विविधाश्चापदः घ्नन्तु विघ्नान्।
कुर्वंत्वारोग्यमुर्वी वलय-विलसितां कीर्तिवल्लीं सृजन्तु।
धर्मं सम्वर्धयन्तु श्रियमभिरामामनपायां........चेष्टिकामान्।
कैवल्यश्री कटाक्षानपि जिनचरणा सज्जयन्तं........साधः॥

संवत् १४९३ शाके १३६८ वर्षे वैशाख वदी ५ गुरौ दिने मूलनक्षत्रे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः तच्छिष्यः वादवादीन्द्रभट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेवः तच्छिष्यः श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवस्तत्योदारपादान्वये अष्टशाखे आहारदान दानेश्वरः श्रीसिंघई लक्ष्मणः तस्य भार्यां अक्षयश्रीः तस्याः कुक्ष्यावुत्पन्नः सिंघई अर्जुनस्तस्य भार्या क्षेमा त (त्र) तः जातः खेमराजः तत्भार्या खियुसिणि संघाधिपतिरर्जुनस्तत्पुत्रः संघाधिपतिः सिंघई जुगराजः तस्य भार्यां गुणश्रीः सुबान्धववंशस्तत्पुत्रभार्यां पद्मश्रीः तत्पुत्रः बंवबं रामदेवः तत्भार्या कालश्रीः तत्पुत्रः सिंघई चतुर्थवतः तत्भार्यां रव्युश्रीः रव्युराजः तस्य पुत्रः म्युराजश्च म्युश्रीः तस्य भार्या सघनपतिः तत्पुत्रः भ्राता वेनुः श्री शान्तिनाथ चैत्यालये सकलकलाप्रवीणः पद्मस्तस्य भार्या पूर्णश्रीः तस्याः पुत्रः पण्डितनयनसिंहस्तेन प्रतिष्ठितं संघाधिपतिः सिंघई जुगराजः तेन कर्मक्षयनिमित्तेनेदंकारितं नित्यं प्रणमन्ति। सूत्रधारः जैनसि पुत्रक कर्मचन्द्रः सघनपतिः तत्पुत्रः जिनः तस्य पुत्र संघपेन सासा सूत्रधारः। येन कृतमिदं नित्यं प्रणमन्तीति।

अभिलेख क्रमांक छह

(विक्रम संवत् १६९३, मन्दिर संख्या सात में चरणपादुकाओं पर उत्कीर्ण)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः गुरुपूज्यपाद........ज्ञानदर्शनचारित्र मोक्ष मार्ग-श्रीललितकीर्ति भट्टारक-बध देवलोवन शान्तिनाथ सं. १६९३ फाल्गुन सुदी ८ विक्रमादित्य साके सालवाहन तस्यांनगरी वर्तते महाराजाधिराज देवीसिंह तस्य पद्मनी सुजानकुमारी दुहिता राणितं कुरिग दीक्षिते ललितकीर्ते सं. १६९५ पौष सुदी २ वर्तमान दिनधरी दीक्षा ६॥ मोक्षप्राप्ते श्रीसागरे देशजाति देशकरनाटकी अठारा लिखा गोलापूरव गोपालयढ़।

परिशिष्ट तीन

सहायक ग्रन्थ सूची

प्राचीन ग्रन्थ

१. अकलंकदेव (आचार्य) : तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य सम्पादित, द्वितीय भाग, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ई. ।

२. अगरचन्द भँवरलाल नाहटा : बीकानेर जैन लेख संग्रह, प्रका. नाहटा ब्रदर्स, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता, २४८२ वी. नि. ।

३. अमरसिंह : अमरकोष, पं. हरगोविन्द शास्त्री सम्पादित, प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सिरीज ऑफ़िस, बनारस, १९५७ ई. ।

४. अर्हद्दास (कविवर) : मुनिसुव्रत काव्य, पं. के. भुजबाले शास्त्री तथा पं. हरनाथ द्विवेदी सम्पादित, प्रका. श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा, १९२९ ई. ।

५. अंगविज्जा : सम्पा. मुनि पुण्यविजय, प्रका. प्राकृत जैन टेक्स्ट सोसायटी, १९५७ ई. ।

६. आदिसागर (मुनि) : त्रिकालवर्ती महापुरुष, प्रका. दिगम्बर जैन समाज, वारासिवनी, १९५९ ई. ।

७. आशाधर (पण्डित) : अनगार धर्मामृत, सम्पा. पं. वंशीधर एवं मनोहरलाल, प्रका. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१९ ई. ।

८. आशाधर (पण्डित) : प्रतिष्ठासारोद्धार, सम्पा. पं. मनोहरलाल शास्त्री, प्रका. जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बम्बई, १९७४ वीर नि. ।

९. आशाधर (पण्डित) : सागार धर्मामृत, सम्पा. पं. मोहनलाल शास्त्री, प्रका. हरप्रसाद जैन, लुहर्रा, (झाँसी), २४७४ वी. नि. ।

१०. उमास्वामी (आचार्य) : तत्त्वार्थसूत्र, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र. मूलचन्द किसनदास कापडिया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, २४७२ वी. नि. ।

११. (डॉ.) आ. ने. उपाध्ये : प्रवचनसार (आ. कुन्दकुन्द कृत), प्रस्तावना, प्र. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३५ ई. ।

१२. (डॉ.) आ. ने. उपाध्ये : वरांगचरित (जटासिंहनन्दीकृत), प्रस्तावना, प्र. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३८ ई. ।

१३. ए. चक्रवर्ती : समयसार (आ. कुन्दकुन्दकृत) (अँगरेजी) प्रस्तावना, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५० ई. ।

१४. ओववाइए : प्रकाशक पं. भूरालाल कालिदास, सूरत, १९१४ वि. सं. ।

१५. कालिदास (महाकवि) : कुमारसम्भव (कालिदास ग्रन्थावलि), सम्पा. पाण्डेय तेजराम शास्त्री, प्र. पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९६१ ई. ।

१६. कुन्थुसागर (आचार्य) : श्रावकधर्मप्रदीप, सम्पा. पं. जगन्मोहनलाल सि. शा., प्र. वर्णी जैन ग्रन्थमाला, बनारस, २४८१ वी. नि. ।

१७. (पं.) के. भुजबली शास्त्री : प्रशस्ति संग्रह, प्र. मन्त्री, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, १९४२ ई. ।

१८. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : उपासकाध्ययन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९६४ ई. ।

१९. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : न्यायकुमुदचन्द्रोदय, प्रथम भाग, प्रस्तावना, प्र. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३८ ई. ।

२०. गणेश सहस्रनाम : प्र. गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१५ वि. ।

२१. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा : संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, प्र. रामनारायणलाल, इलाहाबाद, १९५७ ई. ।

२२. छान्दोग्योपनिषद् : सम्पा. पं. रामस्वरूप शर्मा, प्र. सनातन धर्म प्रेस, मुरादाबाद, १९३४ ई. ।

२३. जम्बुद्दीवपण्णत्ती : प्र. देवचन्द लाल भाई ग्रन्थमाला, बम्बई १९२० ।

२४. जयसेन (आचार्य) : प्रतिष्ठा पाठ, प्र. सेठ नेमचन्द हीराचन्द दोशी, शोलापुर, १९२५ ई. ।

२५. जिनप्रभसूरि : भैरवपद्मावती कल्प (शारदास्तवन), अहमदाबाद, १९३७ ई. ।

२६. जिनप्रभसूरि : विविध तीर्थकल्प, सम्पा. मुनि जिनविजय, प्रका. सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, कलकत्ता १९३४ ई. ।

२७. बृहज्जिनवाणी संग्रह : सम्पादक पं. पन्नालाल बाकलीवाल, प्र. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, नं. ६२ बाँसतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, १९३७ ई. ।

२८. जिनसेन (आचार्य) : पार्श्वाभ्युदय, प्र. सेठ नाथारंग गान्धी, आकलूण, १९०९ ई. ।

२९. जिनसेन (आचार्य) : महापुराण (आदिपुराण), भाग १ तथा २, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१ ई. १९५४ ई. ।

३०. जिनसेन (आचार्य) : हरिवंशपुराण, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३ ई. ।

३१. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार एवं पं. परमानन्द शास्त्री : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, प्र. वीर सेवा मन्दिर, सरसावा ।

३२. जे. एल. जैनी : समयसार (आ. कुन्दकुन्दकृत) (अँगरेजी) प्रस्तावना, प्रका. दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ, १९३० ई. ।

३३. ठक्कुर फेरु : वास्तुसार प्रकरण, सम्पा. पं. भगवानदास जैन, प्रकाशक—जैन विविध ग्रन्थमाला, मोतीसिंह भोमिया का रास्ता, जयपुर सिटी, १९३६ ई. ।

३४. णिरयावलियाओ : प्रका. आगमोदय समिति, अहमदाबाद, १९३४ ई. ।

३५. तारानाथ भट्टाचार्य : वाचस्पत्यम्, तृतीय भाग, प्रका. चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ ऑफ़िस, वाराणसी, १९६२ ई. ।

३६. (प्रो.) दरबारीलाल कोठिया : देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा, प्रस्तावना, प्रका. वीर सेवा संघ, दिल्ली, १९६७ ई. ।

३७. दिगम्बर जैन व्रतोद्यापन संग्रह : सम्पा. फूलचन्द्र सूरचन्द दोशी, ईडर, १९५४ ई. ।

३८. (डॉ.) द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल : वास्तुशास्त्र, जिल्द २, प्रका. वास्तु वाङ्मय, प्रकाशन, शुक्ल कुटी, फिरोजाबाद रोड, लखनऊ (प्रकाशन वर्ष नहीं दिया) ।

३९. देवसेन सूरि : दर्शनसार, सम्पा. पं. नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९७४ वि. ।

४०. दौलतराम (पण्डित) : छहढाला, अनु. मगनलाल जैन, प्रकाशक श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, २०१७ वि. ।

४१. धनंजय : नाममाला, सम्पा. पं. शम्भुनाथ त्रिपाठी, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५० ई. ।

४२. धर्मचन्द्र (भट्टारक) : गौतमचरित्र, अनु. पं. लालाराम जैन, प्र. पं. मूलचन्द्र किसनदास कापडिया, सूरत, १९२७ ई. ।

४३. नायाधम्मकहाओ : सम्पा. एन. वी. वैद्य, पूना, १९४० ई. ।

४४. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह : सम्पा. पं. मोहनलाल शास्त्री, प्र. सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, पुरानी चरहाई, जबलपुर, २४९२ वी. नि. ।

४५. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : त्रिलोकसार, सम्पा. पं. मोहनलाल शास्त्री, प्र. हिन्दी जैन साहित्य प्रकाशक कार्यालय, बम्बई, १९१८ ई. ।

४६. नेमिचन्द्रदेव (पण्डित) : प्रतिष्ठा तिलक, (मराठी अनुवाद सहित), बम्बई, १९१४ ई. ।

४७. (पं.) पन्नालाल साहित्याचार्य : महापुराण (आ. जिनसेन कृत), भाग १, प्रस्तावना, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१ ई. ।

४८. (पं.) परमानन्द शास्त्री : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, द्वितीय भाग, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली ।

४९. प्रभाचन्द्र : प्रभावकचरित, प्र. सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, २०१५ वि. ।

५०. (पं.) फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५ ई. ।

५१. (डॉ.) बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श, प्र. चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफ़िस, बनारस, १९६५ ई. ।

५२. भद्रबाहु स्वामी : उवसग्गहर स्तोत्र (सप्त स्मरण के साथ प्रकाशित), प्र. देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३३ ई. ।

५३. भद्रबाहु स्वामी : कल्पसूत्र, सम्पा. हरमन याकोबी, लिपजिग, १८७९ ई. ।

५४. भावदेवसूरि : पार्श्वनाथ चरित्र ।

५५. भुवनदेव (आचार्य) अपराजितपृच्छा, सम्पा. पोपट भाई अम्बाशंकर मनकड, (गायकवाड़) ओरियण्टल सीरिज़ नम्बर (८×४), प्र. ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५० ई. ।

५६. भोज : समरांगण सूत्रधार, खण्ड एक, सम्पा. टी. गणपति शास्त्री, प्र. ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९२४ ई. ।

५७. मत्स्य महापुराण : प्र. आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९०७ ई. ।

५८. मल्लिषेण सूरि : पद्मावती दण्डक, सम्पा. के. वी. अभ्यंकर, अहमदाबाद, १९३७ ई. ।

५९. मल्लिषेण सूरि : भैरवपद्मावती कल्प, अहमदाबाद, १९३७ ई. ।

६०. मल्लिषेण सूरि : सरस्वतीकल्प, (भैरव पद्मावती कल्प), अहमदाबाद, १९३७ ई. ।

६१. महाराजाधिराज श्री डूँगरेन्द्रदेव का संवत् १५१० का अभिलेख, जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल, जिल्द ३१ ।

६२. (श्री) मा. स. महाजन : नागपुर के संग्रह की हस्तलिखित प्रति संख्या ४९ ।

६३. (पं.) महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य : न्यायविनिश्चय विवरणम्, प्रथम भाग, प्रस्तावना, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४९ ई.

६४. माघ (महाकवि) : शिशुपालवध महाकाव्य, प्रका. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, ऑफ़िस, वाराणसी, १९६४ ई. ।

६५. यतिवृषभ (आचार्य) : तिलोयपण्णत्ति, सम्पा. डॉक्टर आ. ने. उपाध्ये तथा डॉ. हीरालाल जैन, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९४३ ई. ।

६६. योगीन्द्रदेव : परमात्मप्रकाश, सम्पा. पं. मनोहरलाल शास्त्री, बम्बई, १९७२ वि. ।

६७. वराहमिहिर : बृहत्संहिता, प्रका. पं. भूषण वी. सुब्रह्मण्य, वातवनगुड़ी, बंगलोर, १९४७ ई. ।

६८. वसुनन्दि (आचार्य) : वसुनन्दिश्रावकाचार, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२ ई. ।
६९. वादिचन्द्र : अम्बिका कथासार ।
७०. वादिराज सूरि : पार्श्वनाथ चरित्र, सम्पा. पं. मनोहरलाल, प्रका. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१६ ई. ।
७१. वासुपूज्य (महर्षि) : दानशासन, सम्पा. पं. वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, शोलापुर, १९४१ ई. ।
७२. (पं.) विजयमूर्ति : जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीय भाग, प्र. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५२ ई. ।
७३. (पं.) विजयमूर्ति : जैन शिलालेख संग्रह, तृतीय भाग, प्रकाशक उपर्युक्त, १९५७ ई. ।
७४. (डॉ.) विद्याधर जोहरापुरकर : जैन शिलालेख संग्रह, चतुर्थ भाग, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, २४९१ वीर नि. ।
७५. (डॉ.) विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारक सम्प्रदाय, प्रका. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर ।
७६. विष्णुसहस्रनाम : प्रका. गीताप्रेस, गोरखपुर, २०१३ वि. सं. ।
७७. वीरनन्दी (महाकवि) : चन्द्रप्रभचरितम्, सम्पा. पं. काशीनाथ शर्मा, प्रका. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९२ वि. सं. ।
७८. वेदव्यास : अग्निपुराण, सम्पा. डॉ. बलदेव उपाध्याय, प्र. चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफ़िस वाराणसी, १९६६ ई. ।
७९. वेदव्यास : गरुड़पुराण, सम्पादक डॉ. रामाशंकर भट्टाचार्य, प्रका. उपर्युक्त, १९६४ ई. ।
८०. रविषेण (आचार्य) : पद्मपुराण, प्रथम भाग, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८ ई. ।
८१. रामचन्द्र मुमुक्षु : पुण्यास्रव कथाकोश, सम्पा. पं. नाथूराम प्रेमी, प्रका. जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, १९१६ ई. ।
८२. शिवकोटि (भट्टारक) : रत्नमाला, अनु. पं. गौरीलाल (सिद्धान्तसारादि संग्रह में प्रकाशित), प्रका. माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३३ ।
८३. शिवसहस्रनाम : प्रका. गीताप्रेस, गोरखपुर ।
८४. शुभचन्द्र (आचार्य) : ज्ञानार्णव, सम्पा. पं. पन्नालाल बाकलीवाल, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, जवेरीबाग, बम्बई, १९२७ ई. ।
८५. श्रुतसागर सूरि : तत्त्वार्थवृत्ति, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४९ ई. ।
८६. श्रुतसागर सूरि : षट्प्राभृत (आ. कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड पर संस्कृत टीका) सम्पा. पं. पन्नालाल सोनी, प्रका. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९७७ वि. ।
८७. श्रीकुमार : शिल्परत्नम्, सम्पा. के. साम्बशिव शास्त्री, प्रका. त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज (नं. ९८), त्रिवेन्द्रम्, १९२९ ई. ।
८८. श्रीकृष्ण मिश्र : प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, प्रका. चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफ़िस, वाराणसी, १९५५ ई. ।
८९. समन्तभद्र (आचार्य) : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रका. अ. भा. केन्द्रीय जैनमहासमिति, दिल्ली, १९५१ ई. ।
९०. समन्तभद्र (आचार्य) : स्तुतिविद्या, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९५० ई. ।
९१. समवायांग : अहमदाबाद से १९३८ में प्रकाशित ।
९२. सुकुमार सेन (मुनि) : विद्यानुशासन, भैरवपद्मावती कल्प ।

९३. पं. सुमतिबाई शहा : षट्खण्डागम, प्रस्तावना, प्रका. श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन, शोलापुर, १९६५।

९४. सोमेश्वरदत्त : मानसोल्लास, प्र. ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३९ ई.।

९५. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् : प्रका. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२५ ई.।

९६. हरमन याकोबी : दी कल्पसूत्र आफ़ भद्रबाहु, लिपजिग, १८७९ ई.।

९७. हरिकृष्ण (कवि) : बृहत्पंचकल्याणक विधान, प्रका. जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, १९२९ ई.।

९८. हेमचन्द्र (आचार्य) : अभिधानचिन्तामणि, सम्पा. पं. हरगोविन्द शास्त्री, प्रका. चौखम्भा संस्कृत विद्या-भवन, वाराणसी, १९६४ ई.।

९९. (डॉ.) हीरालाल जैन : जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, प्र. माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२८ ई.।

१००. (डॉ.) हीरालाल जैन : षट्खण्डागम, जिल्द एक, प्रस्तावना, प्रका. श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र शिताबराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती, १९३९ ई.।

१०१. (पं.) हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री : जैन धर्मामृत, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६० ई.।

आधुनिक ग्रन्थ और शोध-निबन्ध

१०२. अगरचन्द नाहटा : भारतीय वास्तुशास्त्र में जैन प्रतिमा सम्बन्धी ज्ञातव्य; अनेकान्त, व. २०, कि. पाँच।

१०३. अमूल्यचन्द्र सेन : सोसल लाइफ़ इन जैन लिटरेचर : कलकत्ता रिव्यू, मार्च १९३३ ई.।

१०४. आनन्द के. कुमारस्वामी : आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स।

१०५. ,, ,, : केटलाग आफ़ दी इण्डियन कलेक्शन इन दी म्युजियम आफ़ फ़ाइन आर्ट्स, बोस्टन, जिल्द चार, बोस्टन, १९२४ ई.।

१०६. आनन्द के. कुमारस्वामी : यक्षस्, खण्ड एक, प्रकाशक दी स्मीथसोनियम इन्स्टीट्यूट, वाशिंगटन, १९२८ ई.।

१०७. आनन्द के. कुमारस्वामी : हिस्ट्री आफ़ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, प्रका. डोवर पब्लिकेशन्स, १८० वैरिक स्ट्रीट, न्यूयार्क।

१०८. आर. जी. हर्षे : मेरु, होमलैण्ड आफ़ दी आरियन्स, विश्वेश्वरानन्द भारत-भारती, होशियारपुर।

१०९. (डॉ.) उमाकान्त प्रेमानन्द शाह : स्टडीज़ इन जैन आर्ट, प्रका. जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस-५, १९५५ ई.।

११०. (डॉ.) उमाकान्त प्रेमानन्द शाह : ए नोट आन अकोटा होर्ड जैन ब्रोंजेज़ : बड़ौदा थ्रू दी एजेज़।

१११. ,, ,, ,, : दी ट्रेडीशन आफ़ जीवन्तस्वामी इमेजेज़ : जर्नल आफ़ दी ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, जिल्द एक, अंक एक और जिल्द एक, अंक चार।

११२. (प्रो.) उदयचन्द एम. ए. : आचार्य वीरसेन की धवला टीका, भारतीय जैन साहित्य परिवेशन, एक, प्रका. प्रधान मन्त्री, भारतीय जैन साहित्य संसद, भोला भवन, महाजनी टोली, आरा, १९६५ ई.।

११३. (डॉ.) उर्मिला अग्रवाल : खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देयर सिग्नीफ़िकन्स, प्रका. एस. चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, १९६४ ई.।

११४. (डॉ) एन. वेंकटराम नय्यर : एस्से आन दी ओरिजन आफ़ दी साउथ इण्डियन टेम्पल्स, मद्रास, १९३० ई.।

११५. एलन : केटलाग आफ़ क्वाइन्स आफ़ एंश्येण्ट इण्डिया इन दी ब्रिटिश म्युजियम, लन्दन, १९३६ ई.।

११६. (पं.) कल्याण कुमार जैन 'शशि' : देवगढ़ काव्य, प्रका. सिंघई नाथूराम जैन, मन्त्री श्री देवगढ़ मैनेजिंग दिगम्बर जैन कमेटी, ललितपुर, १९३९ ई.।

११७. (डॉ.) कस्तूरचन्द कासलीवाल : तीन ऐतिहासिक भट्टारक पट्टावलियाँ : सन्मति-सन्देश, मार्च १९६२ ई.।
११८. राजस्थान के जैनशास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची, चतुर्थ भाग, प्रका. मन्त्री, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी, जयपुर।
११९. राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रका. उपर्युक्त, १९६७ ई.।
१२०. भट्टारक सकलकीर्ति : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जैन सन्देश शोधांक सोलह।
१२१. क्लाउड बटले : दी डिजायन डेवलपमेण्ट आफ़ इण्डियन आर्किटेक्चर, लन्दन, १९४८ ई.।
१२२. (डॉ.) क्लॉज ब्रून : देवगढ़ के जैनमन्दिर, वीर, मई, १९५६ ई.।
१२३. ,, ,, : मध्यप्रदेश के जैनतीर्थ : देवगढ़, जैनयुग, मई १९५९ ई.।
१२४. ,, ,, : लैक्चर रेड एट दी मेला एट देवगढ़ : १९५६ ई.।
१२५. (मुनि) कान्तिसागर : खोज की पगडण्डियाँ, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३ ई.।
१२६. ,, ,, : खण्डहरों का वैभव, प्रकाशक उपर्युक्त, १९५९ ई.।
१२७. (डॉ.) कामताप्रसाद जैन : जैनतीर्थ और उनकी यात्रा, प्रका. मन्त्री भारतीय दि. जैन परिषद्, पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६२ ई.।
१२८. (डॉ.) कामताप्रसाद जैन : महारानी चेलनी, प्रका. मूलचन्द किशनदास कापडिया, दि. जैन पुस्तकालय, सूरत, १९६७ ई.।
१२९. काशीप्रसाद जायसवाल : कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण : नागरी-प्रचारिणी सभा पत्रिका, भाग आठ, अंक तीन।
१३०. (प्रो.) कृष्णकान्त हन्दिकी : यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, प्रका. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९४९ ई.।
१३१. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : उत्तरप्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, प्र. शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं. प्रा. लि. आगरा, १९५९ ई.।
१३२. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी। उत्तरप्रदेश की ऐतिहासिक विभूति, प्र. शिक्षा विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९५७ ई.।
१३३. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : उत्तरप्रदेश में पुरातत्त्वीय अनुसन्धान, शिक्षा, अक्तूबर, १९५५ ई.।
१३४. ,, ,, ,, : कंकाली टीला (मथुरा) की जैनकला का अनुशीलन, गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ, सागर, १९६७ ई.।
१३५. ,, ,, ,, : कला का इतिहास : हिन्दी साहित्य, जिल्द दो, प्रयाग, १९६२ ई.।
१३६. ,, ,, ,, : गुप्त तथा मध्यकालीन मूर्तिकला : कल्पना, जनवरी १९६२ ई.।
१३७. ,, ,, ,, : चन्देल और उनकी देन : मध्यप्रदेश सन्देश, ११ अगस्त १९६२ ई.।
१३८. ,, ,, ,, : देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ, अनेकान्त, वर्ष १५, कि. १, अप्रैल १९६२ ई.।
१३९. ,, ,, ,, : प्राचीन भारत के तपोवन, नागरीप्रचारणी पत्रिका, काशी, वि. सं. २००५, अंक ३-४।
१४०. ,, ,, ,, : प्राचीन भारत के शिक्षाकेन्द्र, विक्रम स्मृति ग्रन्थ (संवत् २००१) ग्वालियर, १९४४ ई.।
१४१. ,, ,, ,, : प्राचीन कला में गुरु शिष्यों का चित्रण : त्रिपथगा, १९५६ ई.।
१४२. ,, ,, ,, : भारतीय कला में भगवान् महावीर : सन्मति-सन्देश, मई १९६१ ई.।
१४३. ,, ,, ,, : भारतीय पुरातत्त्व में तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ : अहिंसावाणी, अगस्त-सितम्बर, १९६३ ई.।

१४४. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय साहित्य और कला में लक्ष्मी, त्रिपथगा, नवम्बर १९५५ ई.।
१४५. ,, ,, ,, : भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योग, प्रका. सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६७ ई.।
१४६. ,, ,, ,, : मथुरा का 'देवनिर्मित बौद्धस्तूप : श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ, खण्ड एक, १९४८-४९ ई.।
१४७. ,, ,, ,, : मथुरा कला में नाग, त्रिपथगा, जुलाई १९६२ ई.।
१४८. ,, ,, ,, : मथुरा से प्राप्त दो नवीन अभिलेख : वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, सागर, २४७६ वी. नि.।
१४९. ,, ,, ,, : म. प्र. की कला का ऐतिहासिक परिशीलन : मध्यप्रदेश सन्देश, २६ जनवरी १९६३ ई.।
१५०. ,, ,, ,, : युग-युगों में उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १९५४ ई.।
१५१. ,, ,, ,, : सागर थ्रू दी एजेज, प्रका. प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर, १९६४ ई.।
१५२. कुन्दनलाल जैन : गंज बासोदा के जैनमूर्ति व यन्त्र लेख : सन्मति-सन्देश, अगस्त, १९६५ ई.।
१५३. ,, : भट्टारक सकलकीर्ति कृत द्वादशअनुप्रेक्षा चुपई : सन्मति-सन्देश, वर्ष १२, अंक ११।
१५४. ,, : आचार्य सकलकीर्ति और उनकी हिन्दी सेवा : अनेकान्त, वर्ष १९, अंक एक-दो।
१५५. (पं.) के. भुजबलि शास्त्री : मेरी देवगढ़ यात्रा : जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग आठ, कि. दो।
१५६. (पं.) कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, प्रका. भा. दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, १९५५ ई.
१५७. ,, ,, ,, : जैन न्याय, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६६ ई.।
१५८. ग्वालियर अभिलेख (सं. ९३३)-एपीग्राफ़िया इण्डिका, जिल्द १८।
१५९. (डॉ.) गोकुलचन्द्र जैन : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, प्रका. सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९६७ ई.।
१६०. (पं.) गोपीलाल अमर : एक प्रतीकांकित द्वार : अनेकान्त, वर्ष २२, किरण २।
१६१. (पं.) गोपीलाल अमर : पतियानदाई, एक गुप्तकालीन जैन मन्दिर : अनेकान्त, वर्ष १९, किरण छह।
१६२. (पं.) गोपीलाल अमर : पतियानदाई की अद्वितीय प्रतिमा : जैन सिद्धान्त भास्कर, भभाग २५, किरण दो।
१६३. गोरेलाल तिवारी : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, प्रका. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, संवत् १९९० वि.।
१६४. (भिक्षु) चिमनलाल : जब शिवजी ने जापान को चीन के हमले से बचाया था : धर्मयुग, १२ फरवरी, १९६१ ई.।
१६५. (डॉ.) जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास, प्रका. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१ ई.।
१६६. (सर) जान मार्शल एण्ड अलफ्रेड फोचर : दी मानुमेण्ट्स आफ़ साँची, जिल्द एक और तीन, प्रका. मैनेजर आफ़ पब्लिकेशन्स, गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया, दिल्ली, १९३७ ई.।
१६७. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, प्रका. वीर शासन संघ, कलकत्ता १९५६ ई.।
१६८. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : देवगढ़ पर सम्पादकीय टिप्पणी : अनेकान्त, वर्ष एक, किरण दो।
१६९. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : युगवीर निबन्धावली, प्रथम भाग, दिल्ली, १९६३ ई.।

१७०. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : समीचीन धर्मशास्त्र, प्रका. वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली, १९५५ ई.।
१७१. पं. जुगलकिशोर मुख्तार : स्वामी समन्तभद्र, प्रका. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, १९२५ ई.।
१७२. जे. एफ. फ्लीट : कार्पस इंस्क्रिपशनम इण्डीकेरम, जिल्द तीन, कलकत्ता, १८८८ ई.।
१७३. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : जैन साहित्य में मथुरा, अनेकान्त, व. १५, कि. दो।
१७४. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : दिल्ली पट्ट के मूलसंघी भट्टारकों का समय क्रम : अनेकान्त, व. १७, कि. दो।
१७५. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : देवगढ़ और उसका कला वैभव : जैन सिद्धान्त भास्कर, भा. २१, कि. एक।
१७६. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : प्राचीन भारत का वैभव देवगढ़ : वीर, मई १९५६ ई.।
१७७. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६१ ई.।
१७८. टी. ए. गोपीनाथ राव : एलीमेण्ट्स आफ़ हिन्दू आइकानोग्राफी, जिल्द एक, प्रका. दी ला प्रिंटिंग हाउस, माउण्ट रोड, मद्रास, १९१४ ई.।
१७९. डी. सी. दासगुप्ता : जैन सिस्टम आफ़ एजुकेशन, कलकत्ता, १९४२ ई.।
१८०. (प्रो.) दलसुख भाई मालवणिया : जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, प्रका. जैन कलचरल रिसर्च सोसायटी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस, १९४९ ई.।
१८१. दिगम्बरदास जैन : स्वस्तिक के चमत्कार : जैनमित्र, फाल्गुन सुदी १५, वी. नि. संवत् २४९४।
१८२. देवगढ़ चित्रावलि : प्रका. मन्त्री श्री देवगढ़ मैनेजिंग दिगम्बर जैन कमेटी, ललितपुर (प्रकाशन वर्ष नहीं दिया)।
१८३. (भिक्षु) धर्मरक्षित : सारनाथ का इतिहास, वाराणसी, १९६१ ई.।
१८४. नवलजी : नालन्दा विशाल शब्द सागर, दिल्ली, २००७ विक्रमाब्द।
१८५. पं. नाथूराम प्रेमी : विद्वद्रत्नमाला, प्रका. जैनमित्र कार्यालय, बम्बई, १९१२ ई.।
१८६. पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, प्रका. संशोधित साहित्यमाला, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्रा.) लि. बम्बई, १९५६ ई.।
१८७. नाथूराम सिंघई : देवगढ़ : अनेकान्त, व. एक, किरण दो।
१८८. नीरज जैन : देवताओं का गढ़ : देवगढ़, अनेकान्त, व. १७, कि. चार।
१८९. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी : मथुरा की मूर्तिकला, प्रका. पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा, १९६५ ई.।
१९०. (डॉ.) नेमिचन्द्र शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, प्रका. गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, अस्सी, वाराणसी, १९६८ ई.।
१९१. (डॉ.) नेमिचन्द्र शास्त्री : जिनसेन का काव्य सिद्धान्त : अनेकान्त, व. १६, कि. एक।
१९२. (पं.) परमानन्द शास्त्री : काष्ठासंघ लाट बागड गण की गुर्वावली : अनेकान्त, व. १५, कि. तीन।
१९३. (पं.) परमानन्द शास्त्री : ब्रह्म नेमिदत्त और उनकी रचनाएँ : अनेकान्त, व. १८, कि. दो।
१९४. (पं.) परमानन्द शास्त्री : मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व, मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, ब्यावर, १९६५ ई. तथा अनेकान्त, अप्रैल, जून १९६६ ई.।
१९५. प्रभाकर गोविन्द परांजपे : केन्द्रीय संग्रहालय इन्दौर की संक्षिप्त मार्गदर्शिका, १९६१ ई.।
१९६. पी. के. आचार्य : मानसार आन आर्किटेक्चर एण्ड स्कल्पचर, प्रका. दी आक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९३२ ई.।

१९७. पेहोवा अभिलेख (८८२ ई.) : एपीग्राफ़िया इण्डिका, जिल्द एक ।
१९८. (ब्र.) प्रेमसागर : अतिशय क्षेत्र देवगढ़-पूजा, प्रका. सिंघई नाथूराम जैन, व्यवस्थापक श्री देवगढ़ जीर्णोद्धार कमेटी, ललितपुर, वी. नि. संवत् २४५४ ।
१९९. (डॉ.) प्रेमसागर जैन : जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९६३ ई. ।
२००. बरह कापरप्लेट : एपीग्राफ़िया इण्डिका, जिल्द उन्नीस ।
२०१. (डॉ.) बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, प्रका. शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६० ई. ।
२०२. (पं.) बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : आ. वीरसेन और उनकी धवला टीका : गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ, सागर, १९६७ ई. ।
२०३. बूलर : स्पेसीमेन्स आफ़ जैन स्कल्पचर्स फ़ाम मथुरा : एपीग्राफ़िया इण्डिका, जिल्द दो ।
२०४. बी. एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, प्रका. लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, अस्पताल मार्ग, आगरा–३, १९६६ ई. ।
२०५. बी. एल. राइस : मर्करा ताम्रपत्र : इण्डियन एण्टीक्वेरी, भा. एक, १८७२ ई. ।
२०६. बी. सी. भट्टाचार्य : जैन आइकानोग्राफ़ी, लाहौर, १९३९ ई. ।
२०७. बेंजामिन रौलेंड : दी आर्ट एण्ड आर्चिटेक्चर आफ इण्डिया : हिन्दू, बुद्धिस्ट एण्ड जैन, प्रकाशक पेन-जाइन बुक्स लि., विक्टोरिया, १९५९ ई. ।
२०८. (प्रो.) भागचन्द्र भागेन्दु : भारतीय संस्कृति में जैन तीर्थों का योगदान, प्रका. अ. विश्व जैन मिशन, अलीगंज (एटा), १९६१ ई. ।
२०९. (पं.) माधवस्वरूप वत्स : मेम्वायर्स आफ़ दी आर्केओलाजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, (संख्या ७०), दी गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़, प्रका. दी मैनेजर आफ़ पब्लिकेशन्स, गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया, नयी दिल्ली, १९५२ ई. ।
२१०. (श्रीमती) माधुरी देसाई : दी गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़, प्रका. भूलाभाई मेमोरियल इंस्टीट्यूट, बम्बई, १९५८ ई. ।
२११. मिलापचन्द्र कटारिया आदि : जैन निबन्ध रत्नावली, प्रका. श्री वीर शासन संघ कलकत्ता १९६६ ई. ।
२१२. मिलापचन्द्र कटारिया : भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म काल : वीरवाणी, व. २१, अंक २४ ।
२१३. (पं.) मोहनलाल शास्त्री : जैनाचार्य, प्रका. सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, पुरानी चरहाई, जबलपुर, २४८२ वी. नि. ।
२१४. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्र. चौखम्भा संस्कृत विद्यापीठ, वाराणसी, १९६० ई. ।
२१५. (प्रो.) वामन सदाशिव आप्टे : संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९६३ ई. ।
२१६. (डॉ.) वासुदेवशरण अग्रवाल : ए शार्ट गाइड बुक टु दी आर्केओलाजिकल सेक्शन आफ़ दी प्राविंशियल म्युजियम, लखनऊ, १९५३ ई. ।
२१७. (डॉ.) ,, मथुरापुरी कल्प : ब्र. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, आरा, १९५४ ई. ।
२१८. (डॉ.) ,, लम्पसकस से प्राप्त भारतलक्ष्मी की मूर्ति : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (विक्रमांक), २००० वि. ।
२१९. (डॉ.) विमलचन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, प्र. सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १९६५ ई. ।
२२०. विंसेंट ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, कार्ल खण्डेलवाला द्वारा परिष्कृत संस्करण (तृतीय), बम्बई ।

२२१. विन्सेंट ए. स्मिथ : जैन स्तूप एण्ड अदर एंटीक्विटीज फ्राम मथुरा, ए. एस. आई., न्यू इम्पीरियल सीरीज जिल्द २०, इलाहाबाद, १९०१ ई.।
२२२. विश्वम्भरदास गार्गीय : देवगढ़ के जैन मन्दिर, ललितपुर, १९२२ ई.।
२२३. (म. म.) विश्वेश्वरनाथ रेऊ : जैनाचार्य और बादशाह मुहम्मदशाह, वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, सागर, २४८६ वी. नि.।
२२४. (पं.) बेचरदास : भगवान् महावीर नी धर्मकहाओ।
२२५. (डॉ.) रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली १९५५ ई.।
२२६. ,, ,, ,, हिस्ट्री आफ़ कन्नौज, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९५९ ई.।
२२७. रमेशचन्द्र मजूमदार : दी एज आफ़ इम्पीरियल कन्नौज, प्रका. भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६४ ई.।
२२८. ,, दी एज आफ़ इम्पीरियल युनिट, प्रका. उपर्युक्त, १९५३ ई.।
२२९. (डॉ.) रमेशचन्द्र मजूमदार : डॉ. हेमचन्द्रराय चौधरी तथा डॉ. कालिकिंकर दत्त : एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, प्रका. मैकमिलन एण्ड कम्पनी लि., लन्दन, १९६० ई.।
२३०. (डॉ.) रमेशचन्द्र मजूमदार : भारत का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग (प्राचीन भारत), प्रका. उपर्युक्त, १९६४ ई.।
२३१. राखालदास बैनर्जी : दी एज आफ़ इम्पीरियल गुप्ताज, बनारस, १९६३ ई.।
२३२. (डॉ.) राजकुमार जैन : अध्यात्म पदावली, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५४ ई.।
२३३. (डॉ.) राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, प्र. नन्दकिशोर एण्ड संस, वाराणसी, १९६२ ई.।
२३४. (डॉ.) राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत, प्र. राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली ६, १९६२ ई.।
२३५. (डॉ.) रामजी उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्र. रामनारायणलाल बेनीमाधव इलाहाबाद, २०१८ वि.।
२३६. (डॉ.) राय गोविन्दचन्द्र : प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, प्र. हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१, १९६४ ई.।
२३७. रिचार्ड अल्डिंगटन एण्ड डिलानो अमेस : लारोसी एनसाइक्लोपीडिया आफ़ माइथालोजी, लन्दन, १९५९ ई.।
२३८. लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर, लन्दन, १९५९ ई.।
२३९. शान्ताराम भालचन्द्रदेव : हिस्ट्री आफ़ जैन मोनाकिज्म फ्राम इंस्क्रिपशन्स एण्ड लिट्रेचर, प्र. डेक्कन कॉलिज पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९५६ ई.।
२४०. (ब्र.) शीतलप्रसाद : बृहत् जैन शब्दार्णव, द्वितीय भाग, प्र. मूलचन्द किसनदास कापडिया, सूरत, २४६० वी. नि.।
२४१. (ब्र.) शीतलप्रसाद : संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक, प्र. हीरालाल जैन एम. ए., जैन होस्टल, इलाहाबाद, १९३२ ई.।
२४२. (डॉ.) सत्यनाराण दुबे : प्राचीन भारत का इतिहास, प्रका. शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा-३, १९६७ ई.।
२४३. (पं.) सुमेरचन्द्र दिवाकर : जैन शासन, प्रा. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५० ई.।
२४४. (प्रो.) सैयद मुजफ्फ़रअली : दी जाग्रफ़ी आफ़ दी पुराणाज, प्रका. पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रा. लि., नयी दिल्ली, १९६६ ई.।
२४५. डॉ. स्टेला क्रैमरिश : दी हिन्दू टेम्पल, जिल्द दो, प्र. कलकत्ता युनिवर्सिटी, १९४६ ई.।

२४६. **हरमन गट्ज :** आर्ट आफ़ दी वर्ल्ड : इण्डिया, प्र. डी. बी. तारापोरवाला सन्स एण्ड कम्पनी प्रा. लि., बम्बई, १९५९ ई.।
२४७. **हरिप्रसाद 'हरि'** : देवगढ़, प्र. दरबारीलाल जैन, ललितपुर, १९५४ ई.।
२४८. (डॉ.) **हंसराज धीरजमुख संकालिया :** जैन आइकानोग्राफ़ी : ए वाल्यूम आफ़ इण्डियन एण्ड इरानियन स्टडीज़, बम्बई (प्रकाशन वर्ष नहीं दिया है)।
२४९. (डॉ.) **हंसराज धीरजमुख संकालिका:** जैन यक्षस् एण्ड यक्षिणीज़ : बुलेटिन आफ़ दी डेक्कन कॉलेज, रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द १, अंक २, ४ मार्च १९४० ई.।
२५०. (डॉ.) **हीरालाल जैन :** भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, प्रका. मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२ ई.।
२५१. **डॉ. हीरालाल जैन :** संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक, प्रस्तावना, प्रका. हीरालाल जैन, जैन होस्टल, इलाहाबाद, १९२३ ई.।
२५२. **हैनरिच जिम्मर :** दी आर्ट ऑफ़ इण्डियन एशिया, जिल्द १ (वालिंगटन सीरीज़) न्यूयार्क, १९५४ ई.।

अभिनन्दन और स्मृति ग्रन्थ

२५३. **ब्र. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ :** सम्पादक श्रीमती सुशीला सुलतानसिंह एवं श्रीमती जयमाला जैनेन्द्रकिशोर, प्रका. अ. भा. दि. जैन महिला परिषद्, आरा, १९५४ ई.।
२५४. **वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ :** सम्पा. प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला आदि, प्रका. श्री वर्णी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति, सागर, २४७६ वी. नि.।
२५५. **गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ :** सम्पादक पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि, प्रका. अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सागर, १९६७ ई.।
२५६. **श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ :** बम्बई १९४८-४९ ई.।
२५७. **विक्रम स्मृति ग्रन्थ :** ग्वालियर, २००१ वि. सं.।
२५८. **मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ :** प्रधान सं. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्रका. मुनिश्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), १९६५ ई.।

रिपोर्ट्स

२५९. **ए. कनिंघम :** ए. एस. आई. आर. : टूर्स इन बुन्देलखण्ड एण्ड मालवा इन १८७४-७५ एण्ड ७६-७७, जिल्द १०, कलकत्ता, १८८० ई.।
२६०. **ए. कनिंघम** : ए. एस. आई. आर., जिल्द १८।
२६१. (डॉ.) **ए. फुहरर :** ए. एस. आई. आर., दी मानुमेण्टल एण्टिक्विटीज़ एण्ड इंस्क्रिपशन्स इन दी नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज़ एण्ड अवध, इलाहाबाद, १८९१ ई.।
२६२. **पी. सी. मुकर्जी :** रिपोर्ट आन दी एण्टिक्विटीज़ इन दी डिस्ट्रिक्ट आफ़ ललितपुर, जिल्द १, १८९१ ई.।
२६३. **वी. ए. स्मिथ :** दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज़ आफ़ मथुरा, ए. एस. आई., न्यू इम्पीरियल सीरीज़, जिल्द २०, इलाहाबाद १९०१ ई.।
२६४. एनुअल रिपोर्ट ऑफ़ दी आर्केआलोजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, १९०३-४ ई.।
२६५. दी इम्पीरियल गजेटियर ऑफ़ इण्डिया, जिल्द ११, १९०८ ई.
२६६. **वाई. आर. गुप्ते :** ए. पी. आर. : हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स, नादर्न सर्किल, लाहौर, १९१५ ई.।
२६७. एच. हारग्रीव्ज़ : ए. पी. आर., ए. एस. आई, १९१५ ई.।

२६८. एच. हारग्रीव्ज : ए. एस. आई. एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट फ़ार १९१६ ई. ।
२६९. सर जॉन मार्शल : ए. एस. आई. : एनुअल रिपोर्ट, १९१४-१५, भाग १, कलकत्ता, १९१६ ई. ।
२७०. दयाराम साहनी : ए. पी. आर. ऑफ़ दी सुप्रिटेण्डेण्ट हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स, नादर्न सर्किल, भाग २, लाहौर, १९१८ ई. ।
२७१. डॉ. डी. बी. स्पूनर : ए. एस. आई : एनुअल रिपोर्ट, १९१७-१८, भाग १, कलकत्ता, १९२० ई. ।
२७२. दयाराम साहनी : ए. एस. आई : एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट, १९२०, लाहौर १९२१ ई. ।
२७३. सर जॉन मार्शल : ए. एस. आई. : ए. पी. आर., १९१९-२०, कलकत्ता १९२२ ई. ।
२७४. गजेटियर आफ़ दी युनाइटेड प्राविंसेज, जिल्द २४ ।
२७५. पं. माधवस्वरूप वत्स : ए. एस. आई. संख्या ७०, दी गुप्ता टेम्पल ऐट देवगढ़, दिल्ली, १९५२ ई. ।

पत्र-पत्रिकाएँ

२७६. अनेकान्त, २७७.. अहिंसावाणी, २७८. आर्केओलोजी इन इण्डिया २७९. इण्डियन आर्केओलोजी २८०. इण्डियन एण्टिक्वेरी, २८१. एपीग्राफ़िया इण्डिका, २८२. कलकत्ता रिव्यू, २८३. कल्पना, २८४. जर्नल आफ़ इण्डियन सोसायटी आफ़ ओरियण्टल आर्ट, २८५. जर्नल आफ़ एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल, २८६. जैन मित्र, २८७. जैन युग, २८८. जैन सन्देश, २८९. जैन सिद्धान्तभास्कर, २९०. जैन हितैषी, २९१. धर्मयुग, २९२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, २९३. बुलेटिन आफ़ एंश्यण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्केओलाजी, सागर विश्वविद्यालय, २९४. बुलेटिन आफ़ दी डक्कन कॉलिज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, २९५. मध्यप्रदेश सन्देश, २९६. विश्वेश्वरानन्द भारत-भारती, होशियारपुर, २९७. वीर, २९८. वीरवाणी, २९९. शिक्षा, ३००. सागर विश्वविद्यालय पुरातत्त्व पत्रिका, ३०१. सन्मति-सन्देश, ३०२. त्रिपथगा ।

चित्रावलि-परिचय

यहाँ परिचय के प्रारम्भ में दिये गये अंक चित्र-संख्या के सूचक हैं।

४३. मानस्तम्भ क्रमांक चार, तीन, दो (मन्दिर संख्या एक के पीछे स्थित)।
४४. मानस्तम्भ क्रमांक पाँच।
४५. मानस्तम्भ क्रमांक ग्यारह।
४६. मानस्तम्भ क्रमांक बारह : १७६ मूर्तियाँ उत्कीर्ण।
४७. मानस्तम्भ क्रमांक १३ : १७६ मूर्तियाँ उत्कीर्ण
४८. मानस्तम्भ क्रमांक १७।
४९. अठारह भाषा और लिपिवाला अभिलेख।
५०. प्राचीनतम तीर्थंकर मूर्ति : मन्दिर संख्या १२।
५१. विशालतम तीर्थंकर मूर्ति (शान्तिनाथ के नाम से प्रसिद्ध) मन्दिर संख्या १२।
५२. पद्मासन तीर्थंकर : मन्दिर संख्या १५।
५३. पद्मासन तीर्थंकर : मन्दिर संख्या छह।
५४. नेमिनाथ : मन्दिर संख्या १५।
५५. पार्श्वनाथ : दोनों बगलों में सर्प का अंकन—मन्दिर संख्या ६।
५६. पार्श्वनाथ : चकवा के चिह्न सहित (जैन चहारदीवारी)।
५७. संगीत मण्डली, नृत्यमण्डली तथा पद्मासन तीर्थंकर : जैन चहारदीवारी।
५८. अभिनन्दननाथ : मन्दिर संख्या ९।
५९. आदिनाथ : मन्दिर संख्या ३।
६०. आदिनाथ तथा अन्य तीर्थंकर : मन्दिर संख्या २।
६१. कलापूर्ण किन्तु सम्प्रति शिरहीन तीर्थंकर : मन्दिर संख्या २१ के पश्चिमी कोष्ठ में।
६२. नमिनाथ : मन्दिर संख्या २८।
६३. तीर्थंकर : नवग्रह एवं अम्बिका यक्षी अंकित होते हुए भी फणावलिधारी (मन्दिर संख्या १२)।
६४. कलापूर्ण चतुर्विंशति पट्ट : मन्दिर संख्या १२।
६५. चतुर्विंशति पट्ट : जिसमें केवल २३ मूर्तियाँ हैं : मन्दिर संख्या ४।
६६. आदिनाथ : मन्दिर संख्या २।
६७. आदिनाथ : मन्दिर संख्या २।
६८. तीर्थंकर : (१) लम्बी और सुसज्जित केश राशियुक्त तथा (२) नवग्रह अंकित (मन्दिर संख्या १३)।
६९. तीर्थंकर : १. तकिया के रूप में फणावलि तथा २. सुसज्जित केशराशि (जैन चहारदीवारी)।
७०. पार्श्वनाथ : तकिया के रूप में फणावलि : मन्दिर संख्या १२।
७१. पार्श्वनाथ : सर्प के आसन पर आसीन : मन्दिर संख्या २५।
७२. तीर्थंकर (जैन चहारदीवारी) तथा तीर्थसेवक बरयाजी।
७३. तीर्थंकर : चीनी मुखाकृति तथा केशराशि : मन्दिर संख्या १२।
७४. ऋषभनाथ (जैन धर्मशाला)।
७५. तीर्थंकर, पाठशाला दृश्य एवं चतुर्विंशति पट्ट : मन्दिर संख्या ४।
७६. तीर्थंकर तथा खड़ी सरस्वती : मन्दिर संख्या १।
७७. तीर्थंकर तथा पाठशाला-दृश्य : मन्दिर संख्या १।
७८. पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या १।
७९. पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या ४।
८०. आचार्य, जिनके पीछे एक ओर श्राविका छत्र लिये खड़ी है तथा दूसरी ओर अंजलिबद्ध भक्त (झोली लटकाये हुए) अंकित है। पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या १।
८१. पाठशाला दृश्य : द्वितीय कोट का प्रवेशद्वार।
८२. पाठशाला दृश्य तथा तीर्थंकर : मन्दिर संख्या १२ के सामने पड़ा हुआ, किसी द्वार का सिरदल।
८३. उपाध्याय (दिगम्बर जैन चैत्यालय)।
८४. उपाध्याय (जैन धर्मशाला)।
८५. उपाध्याय : मन्दिर संख्या एक के निकट ध्वस्त अधिष्ठान पर।
८६. बाहुबलि (जैन धर्मशाला)।
८७. बाहुबलि (मन्दिर संख्या ११)।
८८. बाहुबलि (मन्दिर संख्या २)।
८९. भरत चक्रवर्ती : जैन धर्मशाला।
९०. मुनिविहार, उपदेश एवं प्रेमालिंगित युग्म : मन्दिर संख्या १२ के सामने पड़े हुए ध्वंसावशेष।
९१. लेटे हुए मुनि : कोई महिला जिनका संवाहन कर रही है : मन्दिर सं. १८।
९२. साधु तथा आर्यिका : मन्दिर संख्या १०।
९३. तीर्थंकर की माता : मन्दिर संख्या ४।
९४. उदासीन श्रावक : मन्दिर संख्या १०।
९५. सरस्वती : मन्दिर संख्या १९।
९६. सरस्वती-मन्दिर संख्या १९।
९७. मानसी देवी : मन्दिर संख्या १९।
९८. गोमुखयक्ष : मन्दिर संख्या १२।

९९. चक्रेश्वरी : विंशतिभुजी (जैन धर्मशाला)।
१००. चक्रेश्वरी : विंशतिभुजी (जैन धर्मशाला)।
१०१. सुलोचना यक्षी (मन्दिर संख्या १२)।
१०२. सुमालिनी यक्षी (मन्दिर संख्या १२)।
१०३. अम्बिका : बड़ा पेट (जैन चहारदीवारी)।
१०४. अम्बिका।
१०५. अम्बिका : मन्दिर संख्या १२।
१०६. पद्मावती : जैन धर्मशाला।
१०७. धरणेन्द्र पद्मावती (मन्दिर संख्या २४)।
१०८. धरणेन्द्र पद्मावती : जैन चहारदीवारी।
१०९. संगीत मण्डली, नृत्य मण्डली, धरणेन्द्र पद्मावती एवं अम्बिका (जैन चहारदीवारी)।
११०. धरणेन्द्र पद्मावती।
१११. चक्रेश्वरी : दशभुजी (मानस्तम्भ क्रमांक ११)
११२. देवी : द्वादशभुजी (मानस्तम्भ क्रमांक ११)।
११३. क्षेत्रपाल (मानस्तम्भ क्रमांक तीन)।
११४. स्नेही दम्पति (मन्दिर संख्या ४)।
११५. पिटता हुआ पुरुष और लजाती हुई नारी : मन्दिर संख्या चार।
११६. दर्पण के सहारे ललाटिका ठीक करती हुई सुन्दरी (मन्दिर संख्या १८)।
११७. दर्पणधारिणी शुचिस्मिता : मन्दिर संख्या ११।
११८. संगीत मण्डली और गोमुख यक्ष : मन्दिर संख्या १२ का अर्धमण्डप।
११९. युग्म : स्नेहालिंगन (जैन धर्मशाला)।
१२०. सम्भोगरत एवं स्नेहालिंगित युग्म (मन्दिर संख्या ११)
१२१. स्नेहालिंगन, दाढ़ी आदि (जैन चहारदीवारी)।
१२२. वैभवसम्पन्न किन्तु विनम्र उपासक (जैन चहारदीवारी)।

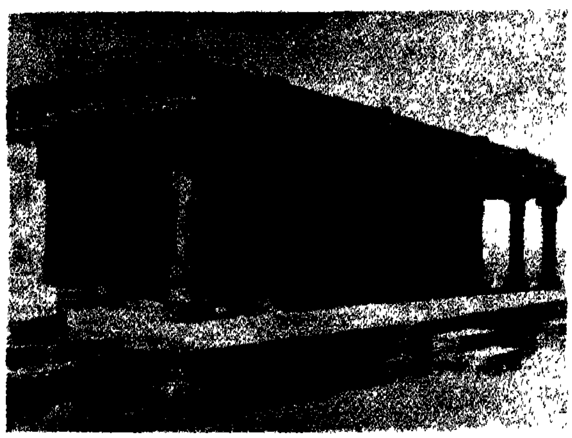
चित्रावलि



चित्र संख्या–१



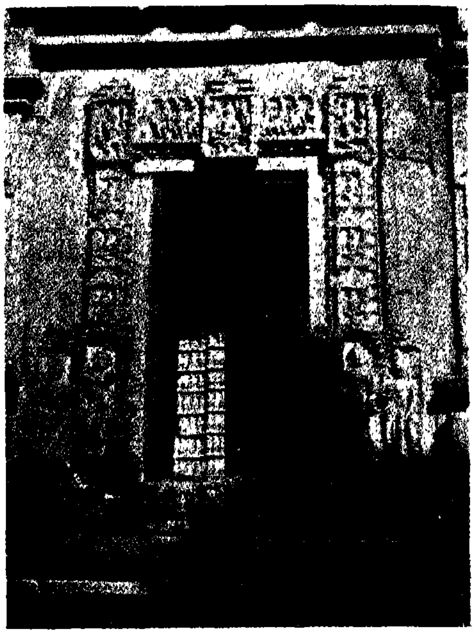
चित्र संख्या–२



चित्र संख्या–३



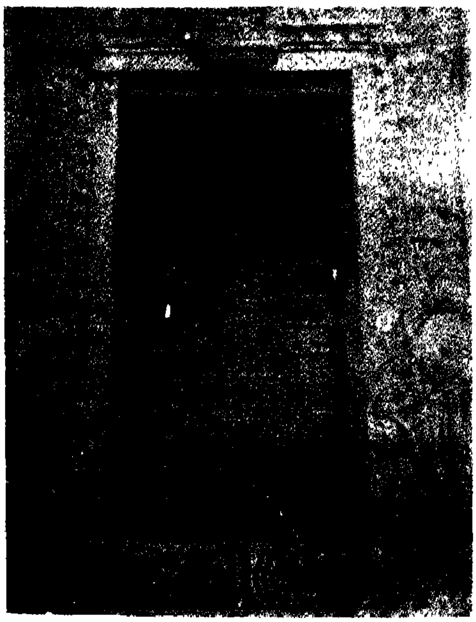
चित्र संख्या—४



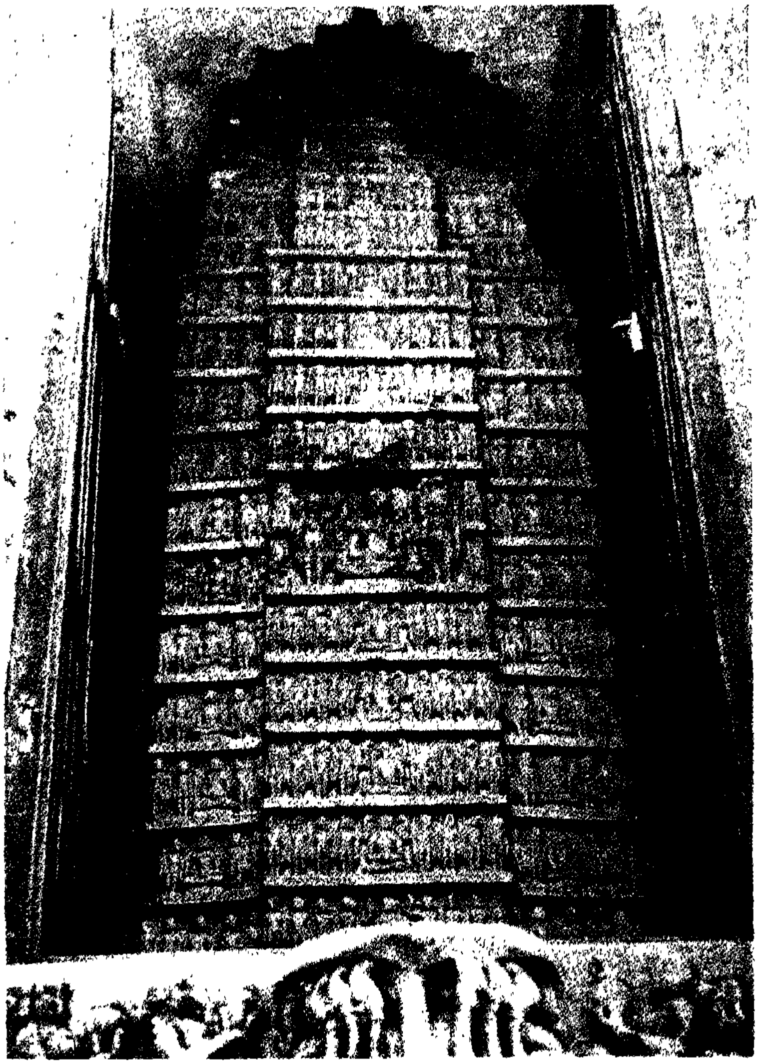
चित्र संख्या—६



चित्र संख्या—५



चित्र संख्या—७



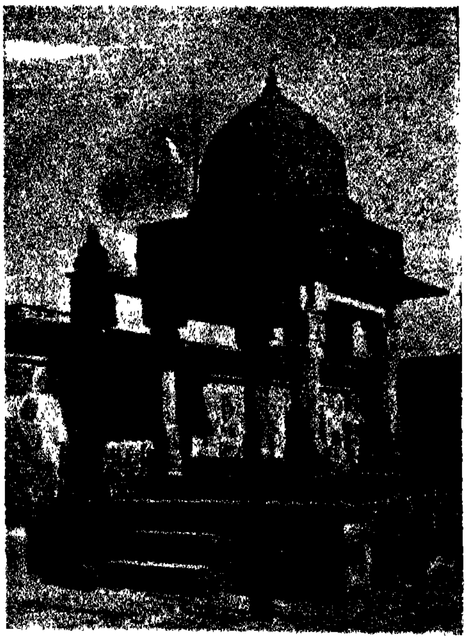
चित्र संख्या–८



चित्र संख्या–९



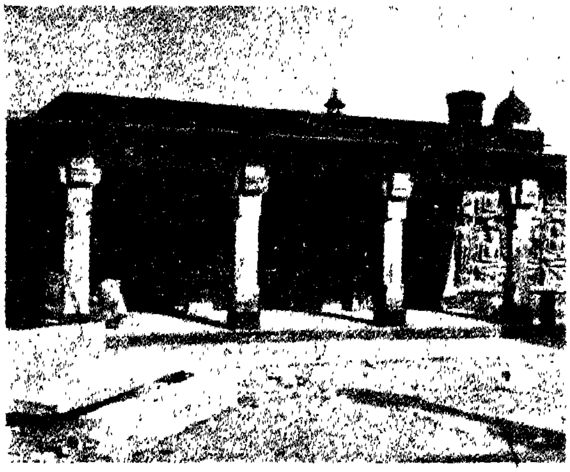
चित्र संख्या–११



चित्र संख्या–१०



चित्र संख्या–१२



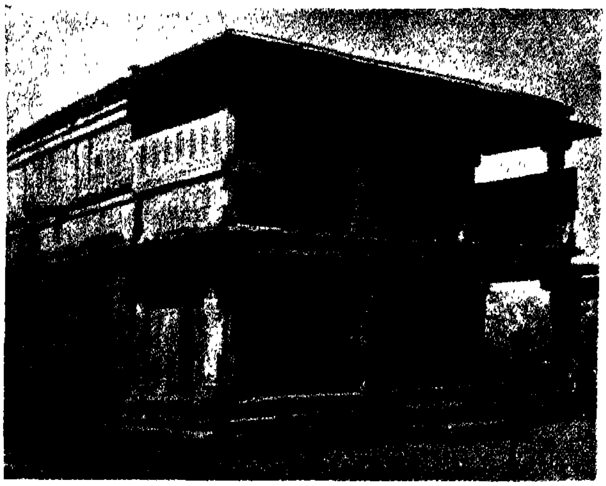
चित्र संख्या–१३



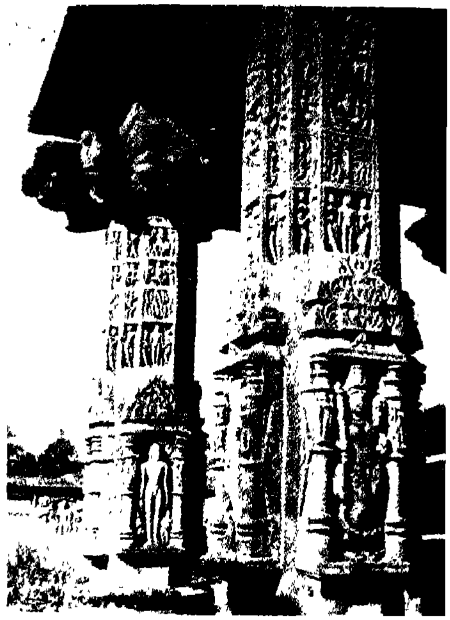


चित्र संख्या–१४

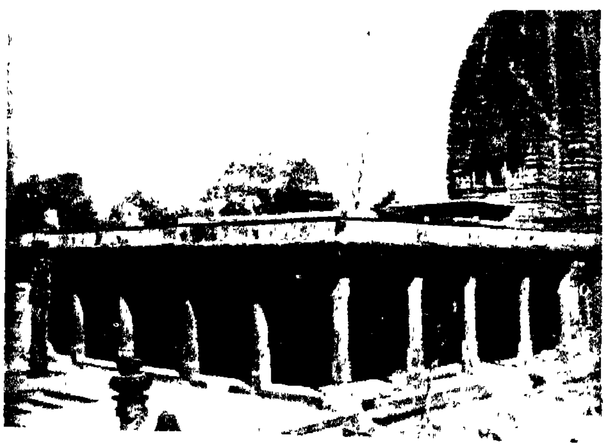
चित्र संख्या-१४ (द)



चित्र संख्या–१५



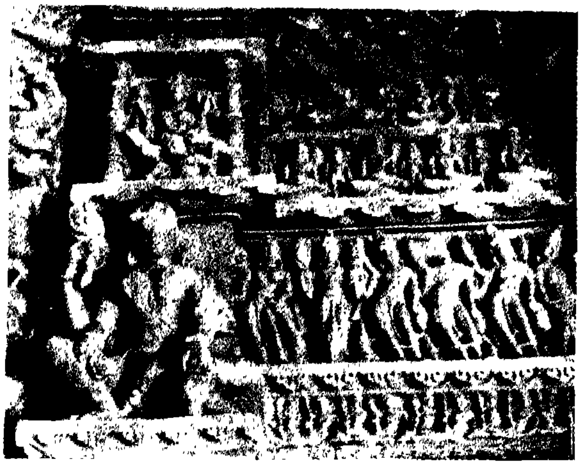
चित्र संख्या–१६



चित्र संख्या–१७



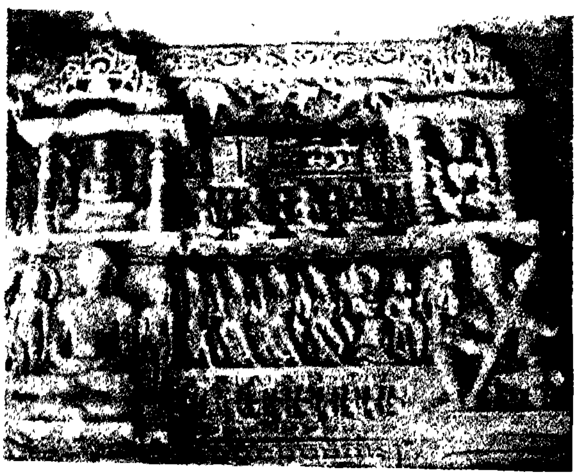
चित्र संख्या–१८



चित्र संख्या—१९



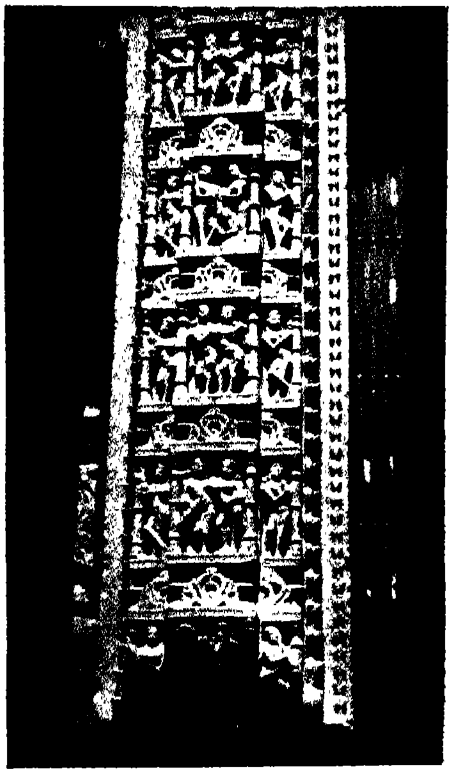
चित्र संख्या—२१



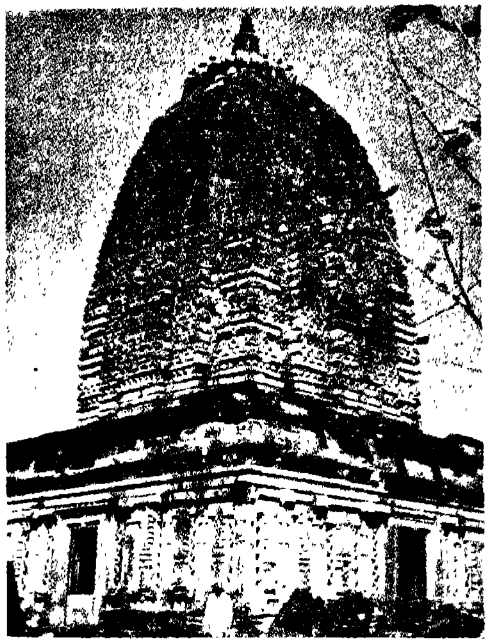
चित्र संख्या—२०



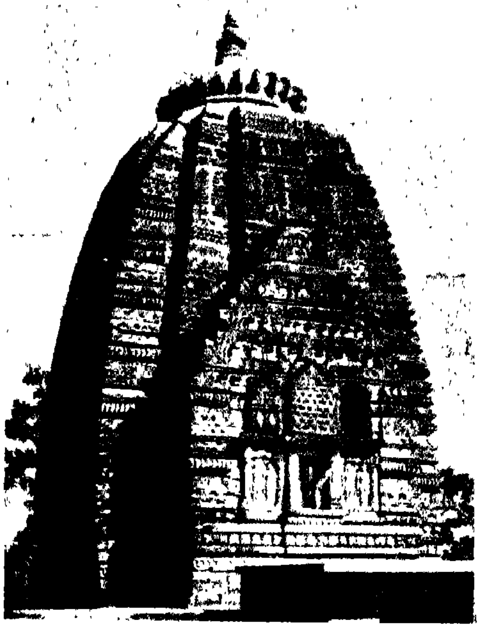
चित्र संख्या—२२



चित्र संख्या–२३



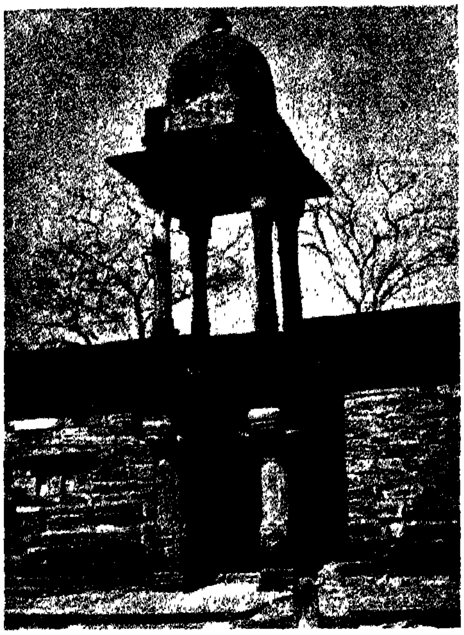
चित्र संख्या–२४



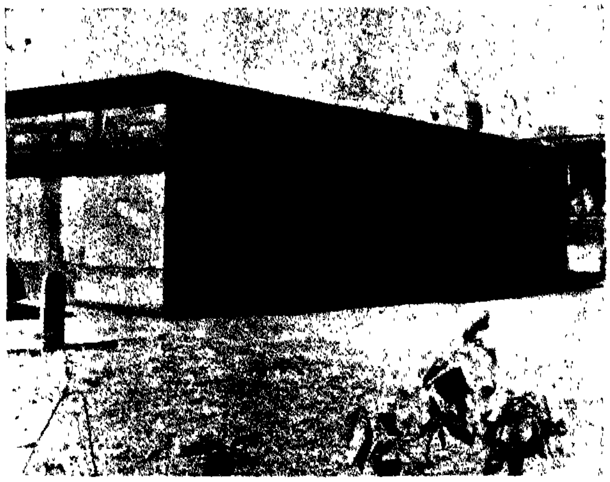
८ चित्र संख्या–२५



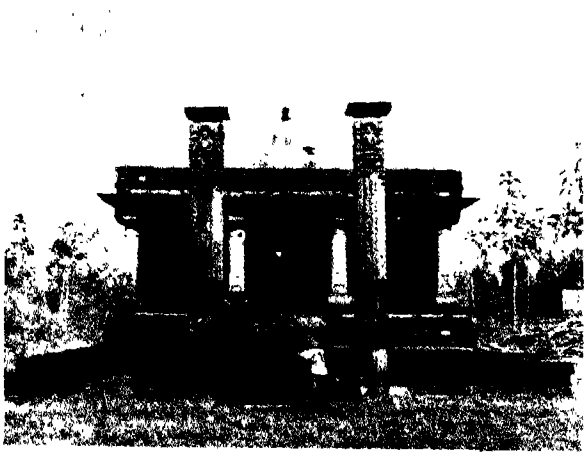
चित्र संख्या–२६



चित्र संख्या–२७



चित्र संख्या–२९



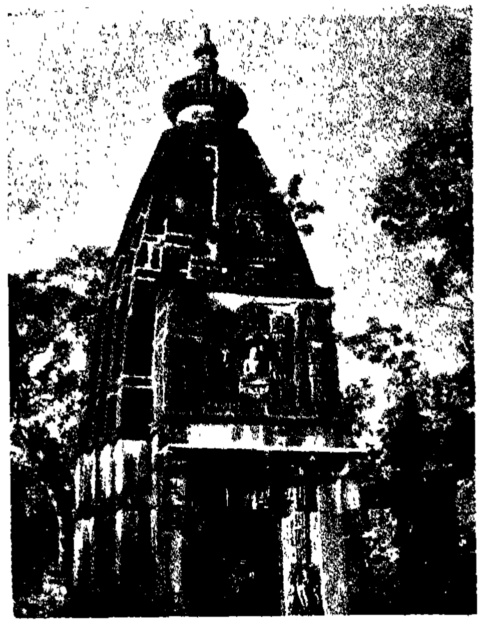
चित्र संख्या–२८



चित्र संख्या–३०



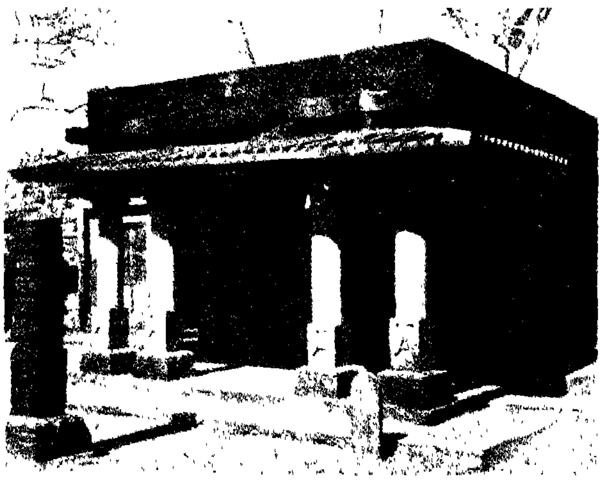
चित्र संख्या–३१



चित्र संख्या–३२



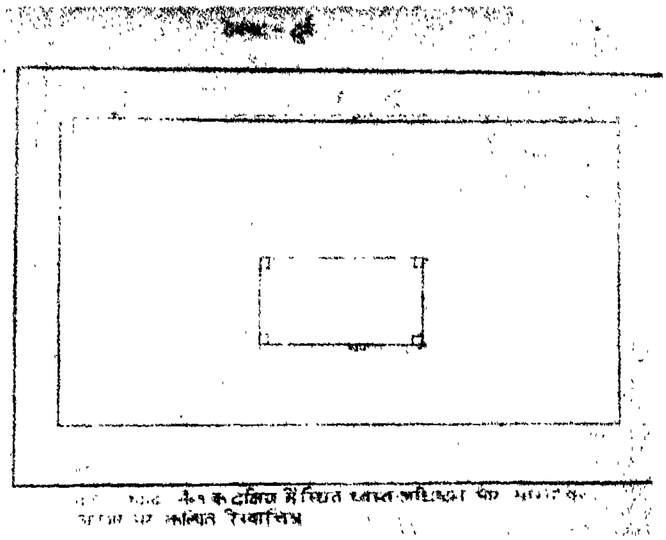
चित्र संख्या–३३



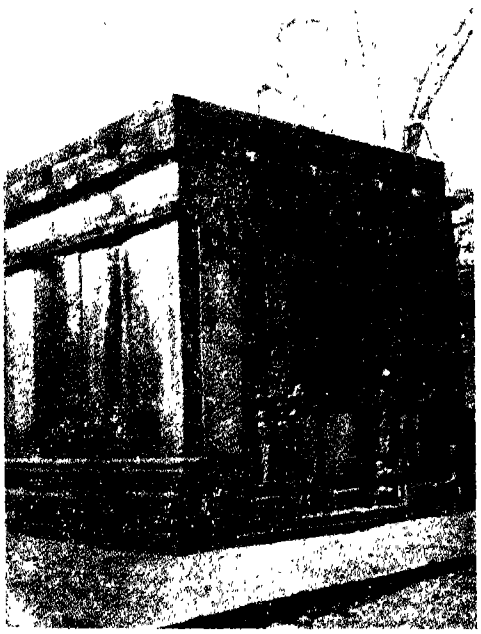
चित्र संख्या–३४



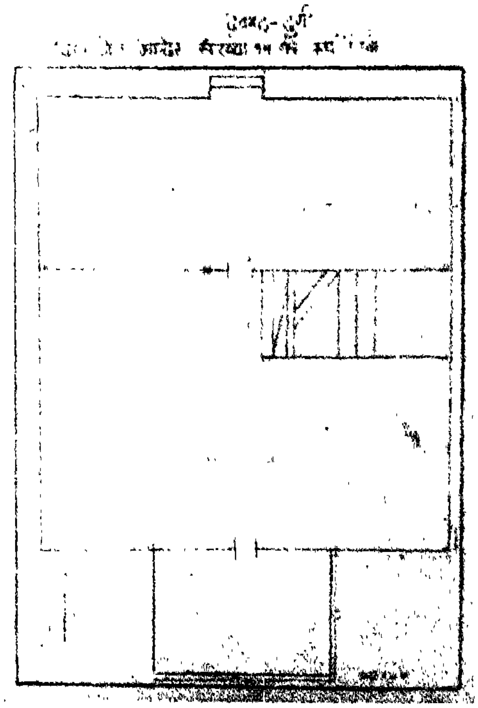
चित्र संख्या—३५



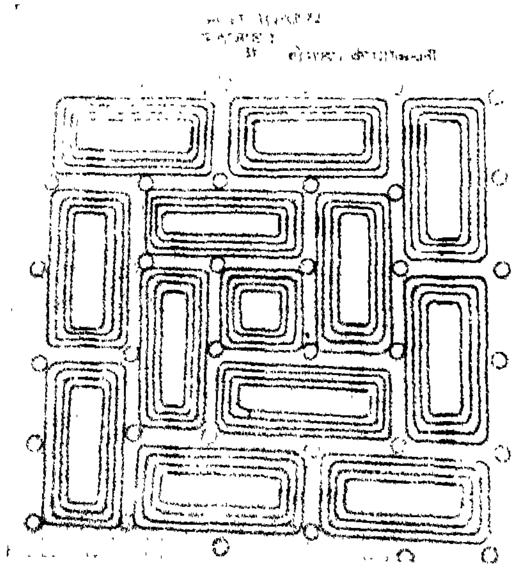
चित्र संख्या—३७



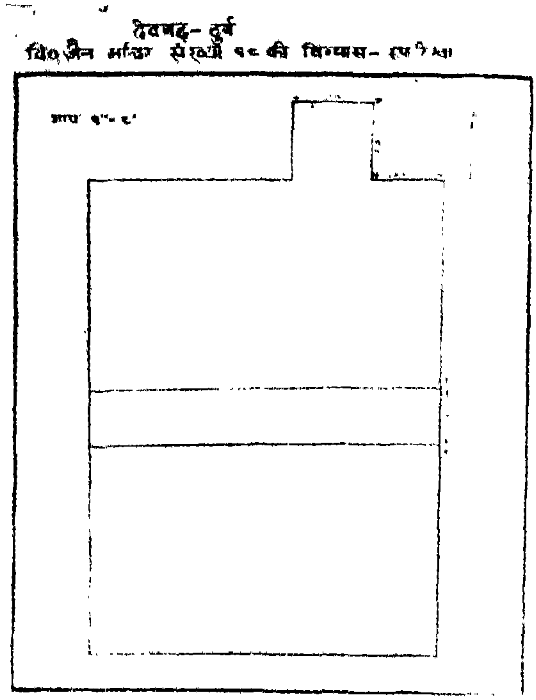
चित्र संख्या—३६



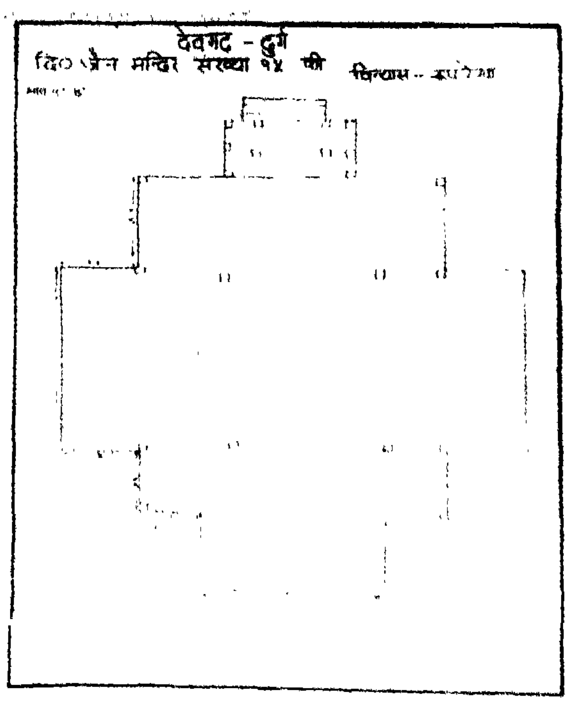
चित्र संख्या—३८



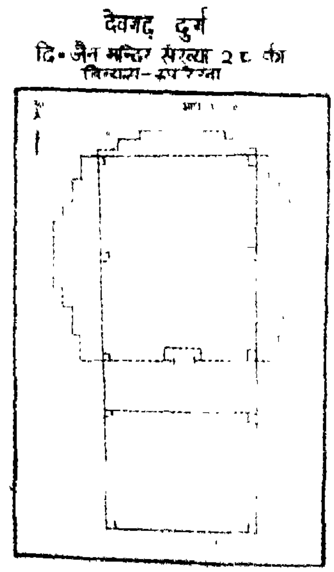
चित्र संख्या-३९



चित्र संख्या-४१



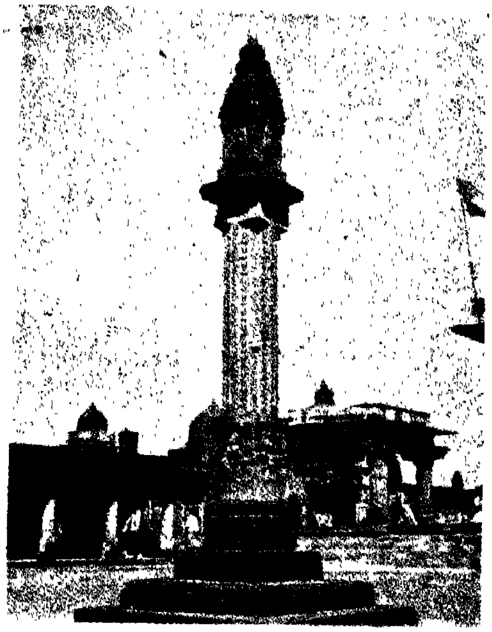
चित्र संख्या-४०



चित्र संख्या-४२



चित्र संख्या–४३



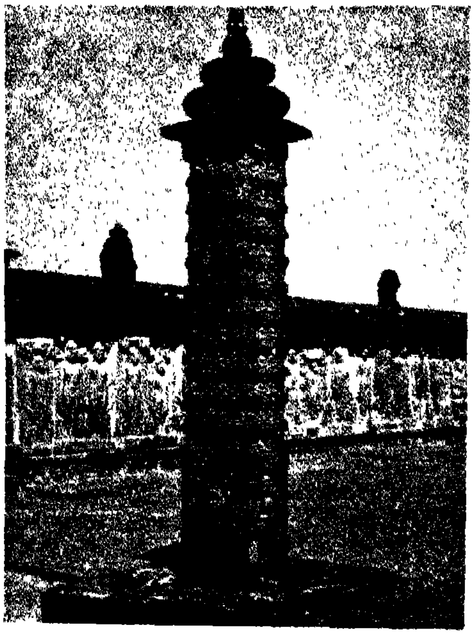
चित्र संख्या–४५



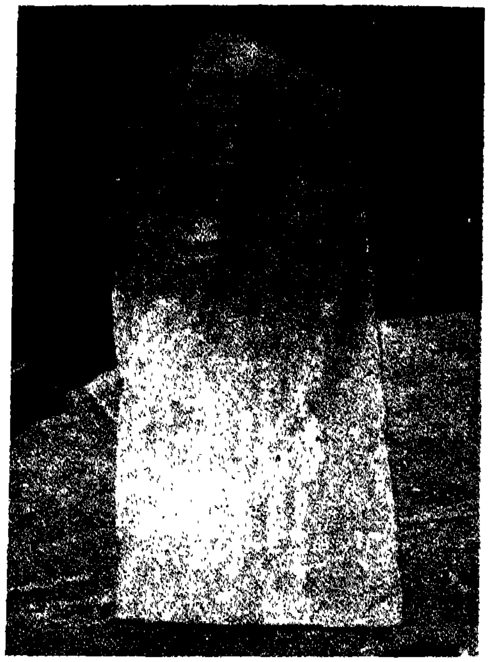
चित्र संख्या–४४



चित्र संख्या–४६



चित्र संख्या–४७



चित्र संख्या–४९



चित्र संख्या–४८



चित्र संख्या–५०



चित्र संख्या–५१



चित्र संख्या–५३



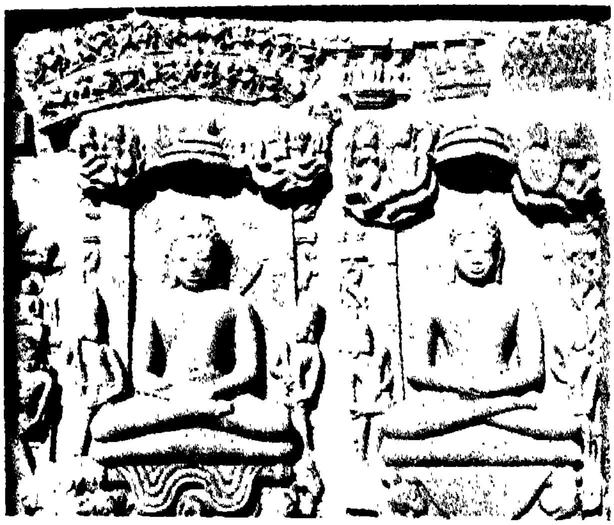
चित्र संख्या–५२



चित्र संख्या–५४



चित्र संख्या—५५



चित्र संख्या—५७



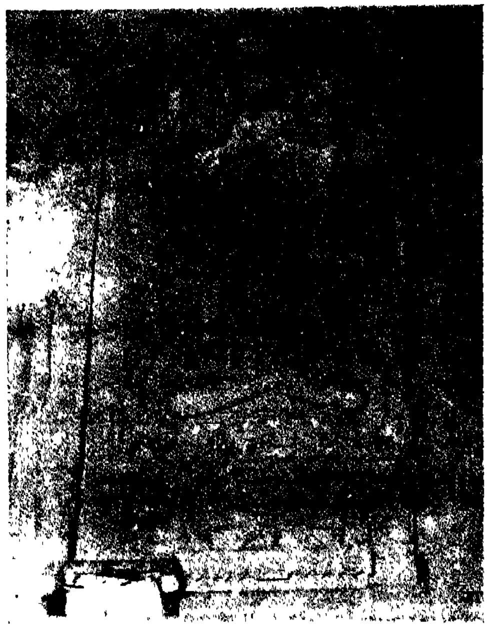
चित्र संख्या—५६



चित्र संख्या—५८



चित्र संख्या–५९



चित्र संख्या–६१



चित्र संख्या–६०



चित्र संख्या–६२



चित्र संख्या–६३



चित्र संख्या-६४



चित्र संख्या–६५



चित्र संख्या–६६



चित्र संख्या–६७



चित्र संख्या–६८



चित्र संख्या–६९



चित्र संख्या–७०



चित्र संख्या–७१



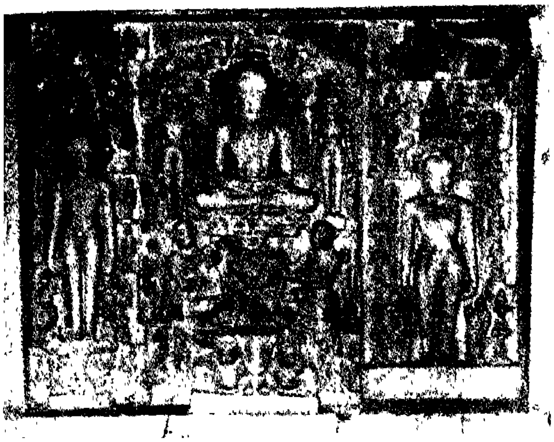
चित्र संख्या–७२



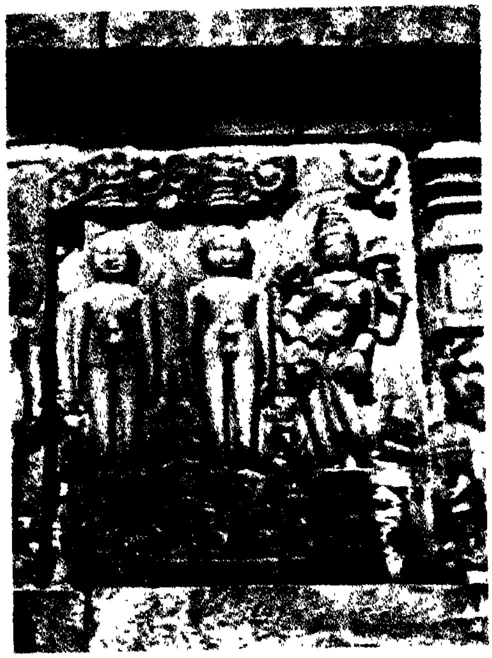
चित्र संख्या–७३



चित्र संख्या–७४



चित्र संख्या–७५



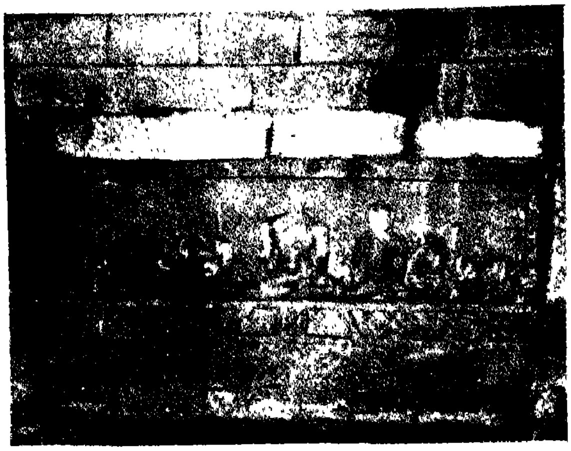
चित्र संख्या–७६



चित्र संख्या–७७



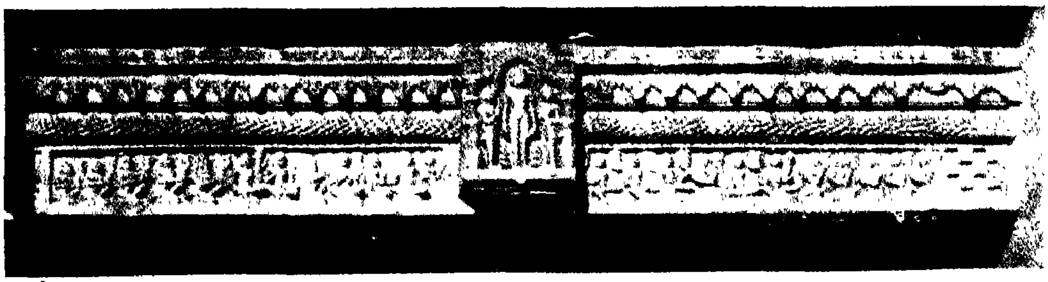
चित्र सख्या–७८



चित्र संख्या–७९



चित्र संख्या–८०



चित्र संख्या–८१



चित्र संख्या–८२



चित्र संख्या–८३



चित्र संख्या–८५



चित्र संख्या–८४



चित्र संख्या–८६



चित्र संख्या–८७



चित्र संख्या–८९



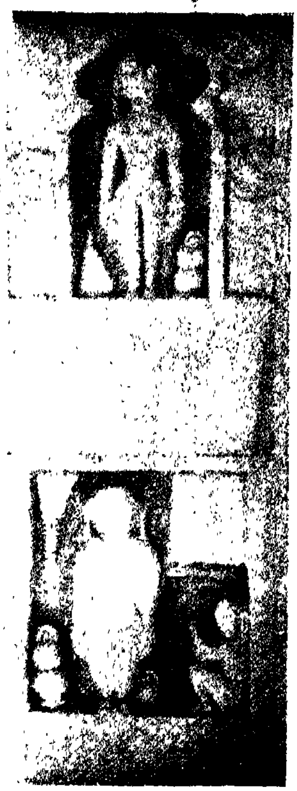
चित्र संख्या–८८



चित्र संख्या–९०



चित्र संख्या–९१



चित्र संख्या–९२



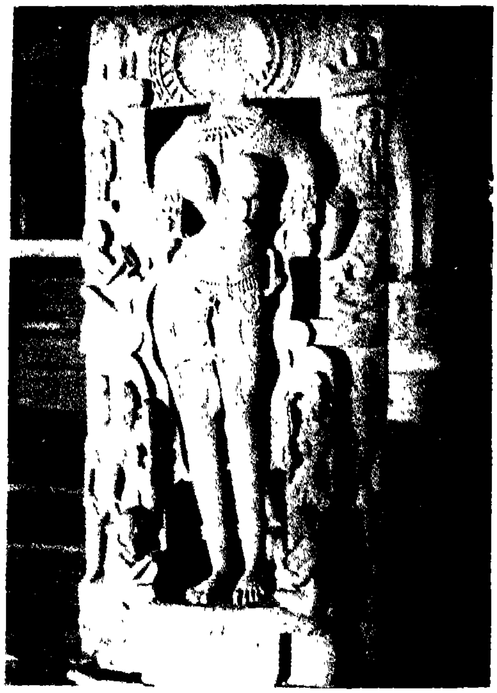
चित्र संख्या–९३



चित्र संख्या–९४



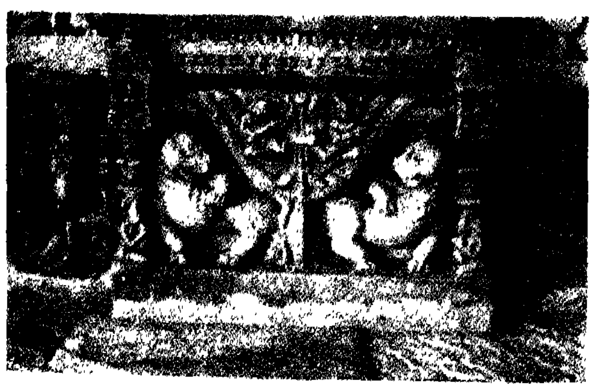
चित्र संख्या–९५



चित्र संख्या–९६



चित्र संख्या–९७



चित्र संख्या–९८



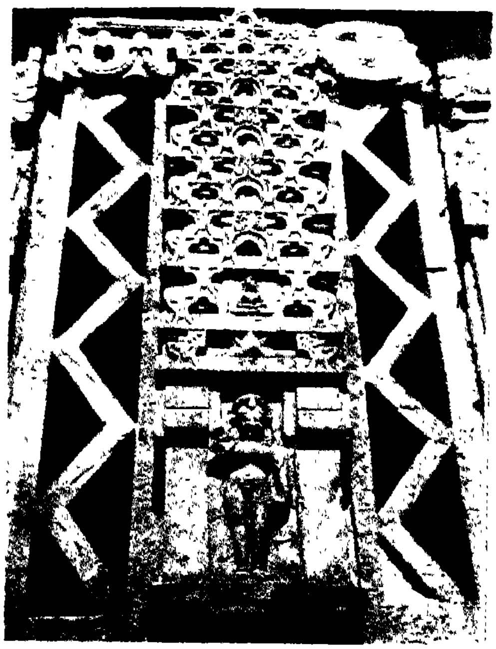
चित्र संख्या–९९



चित्र संख्या–१००



चित्र संख्या–१०१



चित्र संख्या–१०२



चित्र संख्या–१०३



चित्र संख्या–१०४



चित्र संख्या–१०५



चित्र संख्या–१०६



चित्र संख्या–१०७



चित्र संख्या–१०९



चित्र संख्या–१०८



चित्र संख्या–११०



चित्र संख्या–१११



चित्र संख्या–११३



चित्र संख्या–११२



चित्र संख्या–११४



चित्र संख्या–११५



चित्र संख्या–११७



चित्र संख्या–११६



चित्र संख्या– ११८



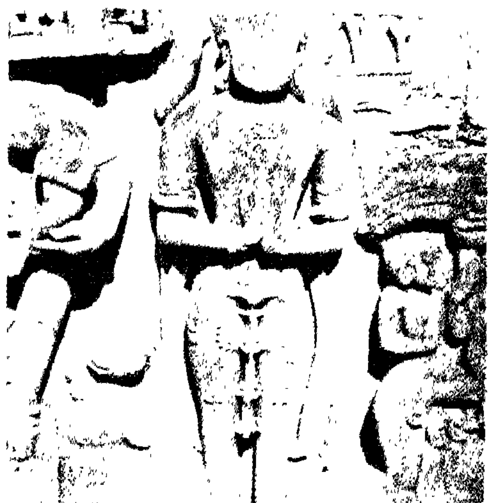
चित्र संख्या–११९



चित्र संख्या–१२१



चित्र संख्या–१२०



चित्र संख्या–१२२